अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांत

श्री भगवानदास अवस्थी, एम्० ए०

१९४१

हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी ऐकेडेमी

यू० पी०, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

मूल्य १॥)

मुद्रक :— ओङ्कार प्रसाद गौड, मैनेजर,
कायस्थ पाठशाला प्रेस व प्रिंटिंग स्कूल, इलाहाबाद

भूमिका

वर्तमान युग अर्थप्रधान है। प्रत्येक देश अधिकाधिक धनवान होने का प्रयत्न कर रहा है। अर्थशास्त्र की सहायता से पश्चात्य देशों ने अपनी आर्थिक उन्नति की है और वे समृद्धिशाली हो गए है।

भारतवासी बहुत ग़रीब है। हमारे करोडों देशवासियों को कठिन परिश्रम करने पर भी भर पेट भोजन नही मिल पाता और न उन को काफी वस्त्र ही मिल पाते है। उन की ग़रीबी दूर करने के लिए, उन की आर्थिक दशा सुधारने के लिए, जनता मे अर्थशास्त्र के ज्ञान के प्रचार करने को अत्यंत आवश्यकता है। परंतु यह कार्य हो कैसे? अर्थशास्त्र की उत्तम पुस्तकों का भांडार ॲगरेज़ी में है। भारत मे ॲगरेज़ी जानने-वालों की संख्या बहुत कम है और उन मे से उन सज्जनों की संख्या जिन का अर्थशास्त्र से प्रेम हो और भी कम है। इस लिए ॲगरेज़ी मे लिखी हुई पुस्तकों द्वारा जनता मे अर्थशास्त्र के ज्ञान का प्रचार नहीं हो सकता। जब राष्ट्रभाषा हिंदी मे इस विषय पर उत्तम उत्तम ग्रंथ निकलने लगेगे तब अर्थशास्त्र के ज्ञान का कुछ प्रचार भारत मे हो सकेगा। इस समय तो हिंदी मे अर्थशास्त्र के उत्तम ग्रथों की बहुत कमी है। इसी कमी को कुछ अंशों मे दूर करने के लिए यह ग्रंथ लिखा गया है।

इस ग्रंथ के लेखक श्रीयुत् भगवानदास अवस्थी, एम० ए०, सन् १९२० से अर्थशास्त्र का अध्ययन कर रहे है। आप को अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का अच्छा ज्ञान है और व्यापार का भी आप को अनुभव है। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से पाठकों को अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को समझने मे सहायता मिलेगी। आप ने अर्थशास्त्र के गूढ सिद्धांतों को सरल भाषा मे बहुत अच्छे ढंग से समझाया है। ऐसी उत्तम पुस्तक को लिखने के लिए मै भी अवस्थी जी को बधाई देता हूं। मै आशा करता हूं कि हिंदी संसार इस का उचित आदर करेगा।

दयाशंकर दुबे

एम० ए०, एल-एल० बी०

दारागंज, प्रयाग — अर्थशास्त्र अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्या[लय]

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

उत्पत्ति

उपभोग

विनिमय

वितरण

सहायक ग्रंथों की सूची

मार्शल (ए०) : प्रिंसिपिल्स अव् इकनामिक्स

सेलिग्मैन (ई० आर० ए०) : ,,

जीड (सी०) : ,,

टाउज़िग (एफ़० डब्ल्यू०) : ,,

,, : वेजेज़ ऐंड कैपिटल

चैपमैन (एस० जे०) : आउटलाइन्स अव् पोलिटिकल इकानमी

सेन (एम० एम०) : आउटलाइन्स अव् इकनामिक्स

टामस (एस० ई०) : एलिमेंट्स अव् इकनामिक्स

पीगू (ए० सी०) : इकनामिक वेल्फ़ेयर

मेहता (जे० के०) : ग्राउंडवर्क अव् इकनामिक्स

जेवन्स (डब्ल्यू० एस०) : थियरी अव् पोलिटिकल इकानमी

कार्वर (टी० एन०) : डिस्ट्रीब्यूशन अव् वेल्थ

क्लार्क (जे० बी०) : ,,

,, : फ़िलासफ़ी अव् वेल्थ

बोह्म-बावर्क (ई०) : दि पाज़िटिव थियरी अव् कैपिटल

केनन (ई०) : थियरीज़ अव् प्रोडक्शन एंड डिस्ट्रीब्यूशन

फ़िशर (आई) :—कैपिटल एंड इनकम

सिजविक (एच०) : स्कोप एंड मेथड अव् इकनामिक साइंस

कार सांडर्स (ए० एस०) : दि पाप्यूलेशन क्वेश्चन

बुचर (सी०) :—इंडस्ट्रियल एवोल्यूशन

हाब्सन (जे० ए०) : एवोल्यूशन अव् माडर्न कैपिटलिज्स

लब्बक (जे०) : रेसेज़ अव् मैन

,, : ओरिजिन अव् सिविलाइजेशन

गोल्डेन-वीज़र (ए० ए०) : अर्ली सिविलाइजेशन

लोरिया (ए०) : इकनामिक फाउंडेशन अव् सोसाइटी

श्मोलर (जी०) · दि मर्केंटाइल सिस्टम

वेव्लेन (टी०) : थियरी अव् बिज़नेस इंटरप्राइज

मेन (एच० एस) . अर्ली हिस्ट्री अव् इंस्टिट्यूशंस

डिकिंसन (एल० सी०) . इकनामिक मोटिव्स

वर्क (एल० वी०) . दि थियरी अव् मार्जिनल वैल्यू

ऐंडरसन (बी० एम०) . सोशल वैल्यू

विकस्टीड (पी० एच०) : दि कामनसेंस अव् पोलिटिकल इकानमी

नाइट (एफ़० एच०) : प्राफिट

मैकग्रेगर (डी० एच०) · दि ट्रस्ट प्राब्लेस

फ़ाइडे (डी०) : प्राफिट्स, वेजेज़, ऐंड प्राइसेज

मिचेल (डब्ल्यू० सी०) बिजनेस साइकिल्स

महावीरप्रसाद द्विवेदी . संपत्तिशास्त्र

दयाशंकर दुबे . अर्थशास्त्र-शब्दावली

मुक्तिनारायण शुक्ल अर्थविज्ञान

दयाशंकर दुबे और भगवानदास केला : धन की उत्पत्ति

दयाशंकर दुबे और मुरलीधर जोशी : संपत्ति का उपभोग

प्रेमचंद : अर्थशास्त्र के प्रारंभिक नियम

बालकृष्ण : उत्पत्ति

राजेंद्र कृष्ण कुमार : अर्थशास्त्र

विषय-प्रवेश

अर्थशास्त्र और उस का क्षेत्र

अर्थशास्त्र मे मनुष्य के हितों के और संपत्ति के संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

जिस शास्त्र मे मनुष्य के उन व्यवहारों, कार्यों आदि का अध्ययन किया जाता है जिन से उस के प्रति-दिन के जीवन-निर्वाह का और संपत्ति का संबंध रहता है, उसे अर्थशास्त्र कहते है।

अर्थशास्त्र मे मनुष्य के प्रतिदिन के व्यावसायिक जीवन से संबंध रखनेवाले कामो का अध्ययन किया जाता है, इस बात की छानबीन की जाती है कि मनुष्य प्रति-दिन किस प्रकार अपनी जीविका उपार्जन करता है और किस प्रकार वह उसे अपने उपयोग मे लाता है।

ऊपर की परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र मे मनुष्य और संपत्ति दोनों का ही अध्ययन एक साथ चलता है। अर्थ-शास्त्र मे मनुष्य के उन कामों का, उस के जीवन के उन पहलुओं का अध्ययन रहता है जिन का संबंध संपत्ति से, धनोपार्जन से, और सपत्ति के उपभोग से रहता है।

मनुष्य के जीवन पर उस की जीविका का बहुत अधिक असर पडता है। उस का अधिक समय अपनी जीविका के उपार्जन करने से व्यतीत होता है। मनुष्य अधिकतर उन कामो मे लगा रहता है जिन से उसे धन की, प्रति-दिन की आवश्यकताओ को पूरी करनेवाली वस्तुओ की, प्राप्ति होती है। उस की शक्तियां उन कामो मे लगती और विकसित होती है, जिन से उस की जीविका चलती है। उस के चरित्र, मन, मस्तिष्क, शरीर

आदि पर उस की जीविका का, साथ मे काम करनेवालो का, मालिक का, कार्य करने के स्थान और वातावरण का, और कार्य का बहुत अधिक प्रभाव पडता है। उस के प्रति दिन के जीवन पर उस की आमदनी और उस आमदनी को खर्च करने के ढग का बहुत अधिक प्रभाव पडता है। अर्थशास्त्र मे इन्ही सब बातों का अध्ययन किया जाता है।

अर्थशास्त्र मे मनुष्य का अध्ययन उस की संपत्ति के संबंध से किया जाता है। मनुष्य सपत्ति का उपार्जन करने और उसे उपयोग मे लाने के लिए अपने प्रतिदिन के जीवन मे जो व्यापार-व्यवसाय करता है उसी का अध्ययन अर्थशास्त्र मे किया जाता है। सपत्ति मे वे सभी वस्तुएं समावेशित है जो मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करे (यानी जो उपयोगी हो) और साथ ही परिमाण मे परिमित हो। संपत्ति की इस परिभाषा के मुख्य आशय को समझ लेने पर यदि यह कहा जाय कि अर्थ-शास्त्र वह विद्या है जिस मे संपत्ति पर विचार किया जाता है तो इस से यह न समझा जाना चाहिए कि अर्थशास्त्र मे मनुष्य को छोड कर केवल संपत्ति का ही विचार किया जाता है, क्योंकि वही वस्तु संपत्ति मानी जा सकेगी जिस से मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति हो। अस्तु, जब सपत्ति पर विचार किया जायगा तब मनुष्य की आवश्यकताओ पर विचार करना अनिवार्य हो जायगा, और जब मनुष्य की आवश्य-कताओ पर विचार किया जायगा तब मनुष्य का विचार किया जाना जरूरी है। इस प्रकार अर्थशास्त्र मे मनुष्य के सबंध मे विचार जरूर ही किया जायगा, क्योंकि मनुष्य पर विचार किए बिना संपत्ति के संबंध मे विचार किया ही नहीं जा सकता।

मनुष्य का अध्ययन दो तरह से किया जा सकता है। एक तो व्यक्ति-गत रूप से और दूसरे समाज के एक सदस्य के रूप मे। अर्थशास्त्र मे मनुष्य का अध्ययन इन दोनों तरीकों से किया जाता है।

मनुष्य किस तरह से विचार और काम करता है, किस तरह से

धन कमाता है और किस तरह से उसे खर्च करता है इन सब बातों का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है। वर्तमान समय में अर्थशास्त्र का आधार मूल्य पर स्थित है, और मूल्य का प्रश्न आते ही विनिमय का प्रश्न सामने आ जाता है, क्योंकि मूल्य का विनिमय से घनिष्ट संबध है। विनिमय के लिए दो या दो से अधिक मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है। विनिमय तभी होगा जब विनिमय करने के लिए दो या अधिक मनुष्य हों। इस प्रकार मूल्य का प्रश्न आते ही एक संगठित समाज का होना ज़रूरी हो जाता है। इस का कारण यह है कि यदि समाज संगठित और नियमबद्ध न होगा तो नियमपूर्वक ख़ुशी से विनिमय और वितरण न हो सकेगा, क्योंकि न तो कोई कायदे-क़ानून मानेगा और न मनुष्य के जान-माल की हिफाज़त ही हो सकेगी। ऐसी हालत में कोई भी व्यक्ति व्यवसाय, व्यापार, विनिमय आदि में न लग सकेगा। साथ ही नियम कानून, संगठन-व्यवस्था, रक्षा आदि के न रहने पर कोई भी व्यक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ ख़ुशी से मिल कर न तो कार्य ही कर सकेगा और न उत्पन्न की हुई वस्तुओं का नियमपूर्वक वितरण ही कर सकेगा।

ऐसी दशा में वर्तमान समय में जो अर्थशास्त्र हमारे सामने उपस्थित है वह एक सामाजिक विद्या है, समाजशास्त्र की एक शाखा है।

जीविका उपार्जन करने और अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को समाज में रह कर कार्य करना और अनेक मनुष्यों से व्यवहार रखना पड़ता है, इस कारण अर्थशास्त्र का संबंध राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, आचार-नीति आदि अन्य सभी समाजशास्त्रों से है। इस का कारण यह है कि समाज के शासन-विधान, धार्मिक सिद्धांत, आचार-नीति न्याय-कानून के अनुसार ही मनुष्य के कार्य, व्यवहार और उद्योग-धंधे होंगे। धार्मिक विचार, कानून, आदि का मनुष्य के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

इस कारण किसी भी आर्थिक पहलू पर विचार करते समय अन्य सभी सामाजिक बातों का विचार सामने रखना ही पडता है। अस्तु अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि अर्थशास्त्र से अन्य शास्त्रों का क्या-कैसा संबंध है।

राजनीति और अर्थशास्त्र

मनुष्य का राज्य के साथ जो संबंध रहता है उस का अध्ययन राजनीति मे किया जाता है। नियम-कानून, आयात-निर्यात-कर, आय कर तथा अन्य कर, कारखानों और मजदूरो संबंधी नियम-कानून, भूमि संबंधी कानून आदि का मनुष्य की आर्थिक स्थिति, रीति-नीति तथा प्रगति पर बहुत बडा प्रभाव पडता है। संपत्ति का उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय, वाणिज्य-व्यवसाय आदि सभी आर्थिक कार्य राज्य-शासन की रीति-नीति पर बहुत कुछ निर्भर रहते है। नियम कानूनो तथा करों द्वारा देश भर की आर्थिक प्रगति बदल दी जाती है। यदि नियम कानून किसी व्यवसाय के पक्ष मे हितकर होगे तो वह व्यवसाय अधिक उन्नति कर सकेगा। यदि नियम-कानून विरुद्ध पड गए तो उस व्यवसाय को भारी क्षति पहुँचेगी। यदि राज्य-व्यवस्था के कारण शांति स्थापित हो सकी, संपत्ति तथा धन-जन की रक्षा के उपाय किए गए, तो आर्थिक जीवन बहुत उन्नत अवस्था मे पहुँच जायगा। इस प्रकार राजनीति का अर्थशास्त्र पर बडा प्रभाव पडता है, दोनों का घनिष्ट संबंध रहता है। अर्थशास्त्री को आर्थिक स्थिति पर विचार करते समय इस बात पर भी विचार करना पडता है कि राज्य-व्यवस्था का मनुष्य के आर्थिक कार्यों पर क्या-कैसा प्रभाव पडता है, आर्थिक स्थिति मे क्या-कैसा परिवर्तन हो जाता है। साथ ही राजनीतज्ञ को यह देखना पडता है कि राज्य-व्यवस्था के किस कार्य का प्रजा के किस आर्थिक पहलू पर क्या-कैसा प्रभाव पडता है और उस से राजनीतिक जीवन मे कैसा-क्या रद्दोबदल होता है।

मनुष्य का ईश्वर के साथ क्या संबंध है इस का विचार धर्मशास्त्र

अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र

में किया जाता है। जब मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है, जब उस की भूख-प्यास आदि शांत हो चुकती हैं, तभी पूरी तरह से उस का चित्त शांत होकर धार्मिक बातों की ओर झुकता है, ईश्वर की तरफ लगता है। संसार के भिन्न-भिन्न देशों के इतिहास से यह साबित हो चुका है कि जो देश सब से अधिक धन-धान्य से परिपूर्ण होते हैं, आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली होते हैं, वे ही सब से अधिक धार्मिक भावनाओं की ओर झुकते हैं, उन्ही देशों मे सब से अधिक आध्यात्मिक उन्नति होती है। मनुष्य समाज की आर्थिक स्थिति का उस की आध्यात्मिक प्रगति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस के साथ ही समाज के धार्मिक आचार-व्यवहारों, धार्मिक विचारों और विश्वासों का उस के प्रति-दिन के आर्थिक जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के धार्मिक विचारों के कारण उस की जीविका का निर्णय होता है। कोई भी कट्टर वैष्णव मांस के व्यवसाय से अपनी जीविका चलाने के लिए राज़ी न हो सकेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज के धार्मिक विचारों का प्रभाव उस की आर्थिक प्रगति पर पड़ता है और उस की आर्थिक स्थिति का प्रभाव उस के धार्मिक जीवन पर पड़ता है।

अर्थशास्त्र और आचारनीति

आचारनीति मे मनुष्य के आचार-व्यवहार, रीति-नीति का विचार किया जाता है। मनुष्य की आर्थिक स्थिति का बहुत कुछ प्रभाव उस की आचारनीति पर पड़ता है। मनुष्य की आमदनी का, उस काम या उन कामों का जिन के द्वारा वह अपनी जीविका पैदा करता है, उन साथियों का जिन के बीच मे उसे जीविका उपार्जन करनी पड़ती है, उस वातावरण का जिस में रह कर उसे काम करना पड़ता है, उन तरीक़ों का जिन के द्वारा वह अपनी आमदनी को ख़र्च करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, मनुष्य के चरित्र, उस की आचारनीति पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य

या समाज की आचारनीति बहुत अंशों से उस की जीविका के उपार्जन तथा उपभोग के द्वारा निश्चित होती है। समुद्र के तीर पथरीले भूभाग में बसनेवाले मछुहा समाज में मछली का शिकार उचित ही नहीं, आवश्यक समझा जाता है। किंतु उपजाऊ भूभाग में बस कर खेती से गुजर करनेवाले समाज में मछली का शिकार नैतिक दृष्टि से अनुचित समझा जायगा क्योंकि उस समाज की गुजर अन्न से भली-भाँति चल जाती है। इस के साथ ही आचारनीति का भी भारी प्रभाव मनुष्य की आर्थिक स्थिति पर पडता है। अनेक व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होने पर भी इस कारण छोड दिए जाते हैं कि वे नैतिक दृष्टि से उचित नहीं समझे जाते।

अर्थशास्त्र में सभी पहलुओं का अध्ययन

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भिन्न भिन्न सामाजिक विद्याएं मनुष्य के भिन्न भिन्न पहलू को लेकर उस का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करती हैं, तथापि प्रत्येक पहलू अन्य पहलुओं से ऐसा मिला हुआ रहता है कि उस के पूर्ण ज्ञान के लिए अन्य पहलुओं के ज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। बिना सभी बातों का विचार किए हुए किसी भी एक बात का विचार पूरी तरह से नहीं किया जा सकता। इस का कारण यही है कि प्रत्येक पहलू एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालता है तथा अन्य पहलुओं से स्वयं प्रभावित रहता है। अस्तु विभिन्न सामाजिक विद्याओं का आपस में इतना घनिष्ट संबंध रहता है कि एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता पडती रहती है और यह कहना कठिन हो जाता है कि मनुष्य के कार्यों से संबंध रखनेवाली कोई एक खास बात एक शास्त्र के अंतर्गत आती है अथवा दूसरे शास्त्र के।

ऐसी स्थिति में यह मानना पडता है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य के हर पहलू का अध्ययन किया जाता है, क्योंकि उस का कार्य चाहे किसी भी विचार से क्यों न किया गया हो, उस का कुछ न कुछ आधार आर्थिक अवश्य होगा और उस कार्य से उस के आर्थिक जीवन पर कुछ न कुछ

प्रभाव जरूर पड़ेगा। प्रत्येक कार्य से, चाहे वह स्पष्ट रूप से आर्थिक हो, या आर्थिक न भी हो, मनुष्य के मन, मस्तिष्क, शरीर पर प्रभाव अवश्य पड़ता है और इस प्रभाव से उस के धनोपार्जन और धन-व्यय के कार्यों पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इस कारण मनुष्य के प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ आर्थिक पहलू तो रहता ही है। अस्तु, अर्थशास्त्र में मनुष्य के सभी पहलुओं का अध्ययन करना पड़ता है।

यही क्यों? धार्मिक, राजनीतिक, जातिगत द्वेष, फ़ौजी लागडॉट तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से उत्पन्न होनेवाले विनाशकारी महायुद्धों से समाज और व्यक्ति के आर्थिक जीवन में भारी उलट-फेर उत्पन्न हो जाते हैं। भूकंप, बाढ़, सूखा, आग आदि उन प्राकृतिक कारणों का भी प्रभाव, जिन पर मनुष्य का बहुत अधिक वश नहीं चलता मनुष्य के आर्थिक जीवन पर पड़ता है। अस्तु, अर्थशास्त्र में इन सब बातों का अध्ययन करना पड़ता है, यद्यपि ये सब समस्याएं आर्थिक समस्याएं नहीं हैं।

इन सब कारणों से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्र की एक शाखा है और अर्थशास्त्र के सिद्धांत मनुष्य के सामाजिक कार्यों पर लागू होते हैं।

किंतु इस से यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्र के सभी सिद्धांत ऐसे हैं जो तभी लागू हों जब मनुष्य समाज में रहे। इस में संदेह नहीं है कि विनिमय और वितरण संबंधी सिद्धांत तभी लागू होंगे जब मनुष्य समाज में रहे और अन्य व्यक्तियों से व्यवहार रक्खे, क्योंकि किसी वस्तु का वितरण या बटवारा तभी होगा जब वह अन्य व्यक्तियों के साथ कोई वस्तु बाँटने को तैयार हो, और यह समाज में ही संभव हो सकता है। इसी प्रकार विनिमय या अदला-बदला तभी होगा जब एक से अधिक व्यक्ति आपस में कुछ वस्तुओं का विनिमय या अदला-बदला करना चाहें। यहां भी समाज की आवश्यकता आ जाती है।

किंतु उत्पादन और उपभोग में कुछ ऐसे सिद्धांत ज़रूर हैं जो बिना

समाज की कल्पना किए ही, केवल एक व्यक्ति पर भी लागू हो सकते हैं-जैसे क्रमागत-उपयोगिता ह्रास नियम, प्रतिस्थापन नियम आदि। यदि एक मनुष्य एक निश्चित समय के अंदर लगातार दस लड्डू खाने लगे तो पहले लड्डू से उसे जो उपयोगिता प्राप्त होगी, दूसरे लड्डू के खाने से उस से कुछ कम प्राप्त होगी। तीसरे के खाने से उसे दूसरे की बनिस्बत कुछ कम। इस प्रकार वह जो भी आगे और लड्डू खायगा उस से उसे जो उपयोगिता प्राप्त होगी वह ठीक उस के पहले वाले लड्डू की उपयोगिता से उत्तरोत्तर कम होती चली जायगी यहां तक कि अंत वाले लड्डू से उसे सब से कम उपयोगिता प्राप्त हो सकेगी। इसी प्रकार एक मनुष्य दो या तीन ऐसी वस्तुओं में से जो एक ही तरह की आवश्यकता की पूर्ति करती हों उसी वस्तु को चुनेगा, (और अन्य दो को छोड़ देगा) जिस से उसे संतोष तो अधिक (या उतना ही) मिले पर जिस के प्राप्त करने में श्रम कम करना पड़े या बदले में हानि कम उठानी पड़े। अब चाहे वह मनुष्य समाज में रहे या कि समाज के बाहर अकेला रहे, इस प्रकार के नियम उस के कामों से लागू होंगे।

इस दृष्टि से विचार करने पर अर्थशास्त्र का क्षेत्र समाजशास्त्र के क्षेत्र से अधिक विस्तृत तथा व्यापक सिद्ध होता है।

वर्तमान युग के प्रमुख अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र की व्यापकता इतनी अधिक बढ़ गई है कि प्रायः सभी मानवीय व्यापार आर्थिक कारणों से प्रभावित रहते हैं। इस कारण प्रायः सभी शास्त्रों के मूल में आर्थिक सिद्धांत काम करते देख पड़ेंगे, क्योंकि धनोपार्जन संपत्ति की प्राप्ति, आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सुख-संतोष के लिए ही मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक आदि कार्य और प्रयत्न होते हैं। ऐसी दशा में यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी कार्य अर्थशास्त्र के अंतर्गत समावेशित हो जाते हैं।

अध्याय २

अर्थशास्त्र और उस के सिद्धांत

अर्थशास्त्र में मनुष्यों के संबंधों का विचार किया जाता है। अर्थशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है जिस से मनुष्य के प्रति-दिन के कार्यों विचारों, गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में मनुष्य के उन सामूहिक और पारस्परिक कार्यों पर विचार किया जाता है जिन का उस के प्रति दिन की जीविका के उपार्जन से संबंध रहता है। अर्थशास्त्र में उन सब कार्यों के प्रयोजनों तथा स्थितियों की छानबीन की जाती है चालकों और उन के कारणों और परिणामों का निर्देश किया जाता है। चूंकि अर्थशास्त्र में उन मनुष्यों का विचार किया जाता है जिन के प्रयोजन स्थितियां कार्य तथा संबंध आदि सभी समय-समय पर बदलते रहते हैं इस लिए अर्थशास्त्र की कोई भी एक पद्धति ऐसी नहीं हो सकती जो सभी स्थानों सभी समयों में सभी प्रयोजनों तथा कार्यों पर एक सी लागू हो सके। स्थिति के प्रयोजनों के बदल जाने पर बहुत सी बातें बदल जायेंगी।

सिद्धात के अनुसार प्रत्येक ऐसी वस्तु को जो हवा से भारी हो आधार के न रोकने पर जमीन पर गिर पडना चाहिए। किंतु हवाई जहाज पक्षी गुब्बारे नीचे न गिर कर ऊपर उड़ते जाते है। इस का यही कारण है कि कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है जो आकर्षणशक्ति के काम मे बाधा डाल कर हवाई जहाज आदि को नीचे गिरने से बचाती रहती है। इस का यह मतलब नहीं है कि आकर्षणशक्ति वाला सिद्धात कुछ वस्तुओ पर लागू नहीं होता, इस कारण गलत है। असल बात यह है कि कुछ बाधाए बीच मे पड कर उस सिद्धात के अनुसार कार्य नहीं होने देती। प्रत्येक शास्त्र तथा विज्ञान के लिए यही बात लागू होती है। प्रत्येक सिद्धात एक खास परिस्थिति मे ही लागू हो सकता है। उस परिस्थिति के बदल जाने पर, बाधाओ के उपस्थित हो जाने पर, वह सिद्धात लागू नहीं हो सकता। इस से उस सिद्धात की सचाई मे कोई फर्क नहीं पडता। चूंकि अर्थशास्त्र को परिवर्तनशील स्वभाववाले मनुष्यो के कार्यो पर विचार करना पड़ता है, इस कारण अर्थशास्त्र के सिद्धात सदा उतने ठीक नहीं बैठते जितना कि उन्हे बैठना चाहिए। यह इस कारण कि सिद्धातों के बिलकुल ठीक और सच्चे होने पर भी आर्थिक परिस्थितिया इतनी जल्दी जल्दी और इतनी तेजी से बदलती रहती है कि यह तय करना कठिन हो जाता है कि अर्थशास्त्र के किसी एक सिद्धात के अनुसार विचार करते समय अन्य किन-किन विरोधी परिस्थितियो तथा बाधाओं का विचार कर लेना चाहिए। अर्थशास्त्र के सिद्धात तो सच्चे और ठीक है। पर परिस्थितियो के तेजी से जल्दी जल्दी बदलते रहने से उन के अनुसार निर्णय के संबध मे भ्रम हो जाना सभव हो सकता है। इन सब बातो को अच्छी तरह से समझ लेने पर यही मानना पडेगा कि अर्थशास्त्र के सिद्धात उसी तरह निश्चित अथवा अनिश्चित माने जाने चाहिए जिस तरह कि किसी भी अन्य शास्त्र या विज्ञान के।

एक बात और है। अनेक ऐसे विज्ञान है जिन के सिद्धांतो की

परीक्षा करते समय प्रयोगशाला में बैठ कर विरोधी बातों और परिस्थितियों को बिलकुल दूर रक्खा जा सकता है, और इस बात की परीक्षा प्रयोग द्वारा की जा सकती है कि अमुक कारण उपस्थित करने पर अमुक परिणाम होगा। किन्तु अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के संबंध में ऐसी न तो कोई प्रयोगशाला ही मिल सकती है और न इतनी आसानी से विरोधी परिस्थितियां तथा बाधाएं ही दूर की जा सकती है, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव बड़ा परिवर्तनशील है और अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का संबंध मनुष्यों की इच्छाओं से रहता है। और मनुष्य की इच्छाएं रोकी नहीं जा सकतीं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र के सिद्धांत उतने स्थिर और निश्चित नहीं माने जा सकते जितने कि उन अन्य शास्त्रों और विज्ञानों के सिद्धांत जिन का संबंध मानवीय इच्छाओं ऐसी अनस्थिर बातों से नहीं है।

अर्थशास्त्र के सिद्धांत अन्य सभी शास्त्रों और विज्ञानों के सिद्धांतों के अनुसार ही ठीक और सच्चे हैं और विरोधी परिस्थितियों तथा बाधाओं के न रहने पर पूरी तरह से लागू होते हैं। यही शर्त अन्य विज्ञानों के सिद्धांतों के संबंध में भी कही जाती है।

कोई मनुष्य एक रूमाल के लिए चार आना देकर उसे ख़रीद लेता है तो यह माना जायगा कि एक रूमाल लेने की इच्छा का मूल्य उस के लिए चार आना के बराबर है, जो उस ने रूमाल खरीद करने मे व्यय किया है। यदि एक आदमी एक रुपए रोज़ पर ८ घंटे काम करता है तो यह प्रगट हो जाता है कि उस के ८ घंटे काम करने की इच्छा की माप एक रुपया है, यानी एक रुपया प्राप्त करने के प्रयोजन से वह ८ घंटे काम करने को तैयार होता है। आर्थिक प्रयोजन की यह माप प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप मे किसी भी इच्छा की माप नहीं हो सकती। इस का कारण यह है कि एक ही वस्तु की इच्छा दो मनुष्यों के लिए प्रायः एक सी तीव्र नहीं रहती। एक लड्डू के खाने से हरि को जो तृप्ति होगी उस का केशव को होनेवाली तृप्ति से मिलान सीधे तौर पर किया ही नहीं जा सकता। केवल यह निर्णय निकाला जा सकता है कि यदि दोनों मनुष्य एक-एक लड्डू के एवज़ मे एक-एक आना देने को तैयार हों तो उन की इच्छा की तीव्रता एक बराबर मानी जायगी। दो मनुष्यों की तो बात ही नहीं, यदि एक ही मनुष्य उसी एक वस्तु की इच्छा विभिन्न समयों मे करेगा तो इच्छा की तीव्रता भिन्न भिन्न होगी। कभी वह उसी एक लड्डू के लिए एक आना देने को तैयार हो सकता है और कभी केवल दो पैसे ही। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य एक बार सिनेमा देखने के लिए एक रुपया खर्च करने को तैयार हो और सरकस देखने के लिए दो रुपए व्यय करने को तो इस से यही प्रकट होगा कि उस की सरकस देखने की इच्छा की तीव्रता दूनी है।

मनुष्य की इच्छाओं और कार्यों को इस प्रकार द्रव्य के रूप मे मापा जाता है। प्रयोजन की इस माप द्वारा अर्थशास्त्र के अध्ययन मे अधिक यथार्थता आ जाती है और इस माप के कारण अर्थशास्त्र के विचार तथा निर्णय मे स्पष्टता और सुविधा हो जाती है।

किंतु यह माप बिलकुल ठीक-ठीक नहीं कही जा सकती। इस से इच्छाओं की तीव्रता और उस के लिए किए जानेवाले त्याग का अंदाज़ा

भर लगाया जा सकता है। इस का कारण यह है कि द्रव्य की एक इकाई यानी एक रुपए का मूल्य सभी आदमियों के लिए एक बराबर नहीं हो सकता। एक गरीब आदमी के लिए एक रुपए का मूल्य या महत्व किसी एक धनी मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक होगा, क्योंकि जिस के पास जितना ही अधिक द्रव्य या रुपया होगा उस के लिए एक रुपए का महत्व उतना ही कम होगा। अस्तु, यदि एक बार सिनेमा देखने के लिए एक धनी व्यक्ति एक रुपए ख़र्च करता है और उसी के लिए एक गरीब मनुष्य भी एक ही रुपया ख़र्च करता है तो इस से यह साबित न होगा कि दोनों की इच्छाओं की तीव्रता तथा उन के कार्यों के चालकों का मूल्य बराबर बराबर है।

किंतु अन्य उपायों के न रहने पर प्रयोजनों की माप द्रव्य द्वारा ही की जाती है और इस माप के द्वारा अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में अधिक यथार्थता आ जाती है, तथा छान बीन करने में सुभीता होता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य

मनुष्य दो उद्देश्यों से किसी विद्या का अध्ययन करता है, एक तो केवल ज्ञान के लिए और दूसरे उस विद्या से प्रति-दिन के जीवन में होनेवाले हित के लिए। वैद्यक, न्याय-शास्त्र आदि का अध्ययन इस लिए किया जाता है कि उन के प्रयोगों द्वारा रोगियों या मुकदमे में फँसे हुए व्यक्तियों को लाभ पहुँचाया जाय। खगोल विद्या का अध्ययन ज्ञान प्राप्त

जन्म हुआ है। यह देखा गया था कि निर्धन जनता को अनेक प्रकार के भीषण कष्ट सहने पड़ते हैं। कुछ दयालु, महानुभावों ने उन दीन दुखियों की दशा का अध्ययन किया और उन की अवनति के कारणों का पता लगाने की चेष्टा की। इन्हीं प्रयत्नों के फल स्वरूप अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का पता चला और वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय रूप से अर्थशास्त्र की स्थापना हुई।

दीन दुखी जनता की दशा का सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद उस समय के कुछ विद्वान इस नतीजे पर पहुँचे कि उन की शारीरिक, मानसिक नैतिक, आध्यात्मिक अवनति और पतन का एक बड़ा ज़बरदस्त कारण उन की गरीबी ही है। इस से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य जनता की आर्थिक स्थिति सुधारना, जनता की ग़रीबी दूर कर उस के सुख-संतोष को बढ़ाना है।

अर्थशास्त्र से लाभ

अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है संपत्ति की वृद्धि के साधनों को सुलभ करके दरिद्रता और आर्थिक कष्टों को दूर कर सुख समृद्धि की वृद्धि करना, और जनता का अधिक से अधिक कल्याण साधन करना।

अनेक विद्वानों का मत है कि संपत्ति और जन-हित दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। किंतु छान बीन करने पर यह मानना पड़ता है कि संपत्ति का प्रमुख गुण है मनुष्य की किसी न किसी इच्छा, आवश्यकता की पूर्ति करके उसे संतोष देना। और मनुष्य को संतोष से सुख प्राप्त होता है। उस की आवश्कताओं की पूर्ति होने पर ही उस का हित होता है। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएं तो ऐसी हैं जिन की पूर्ति होनी इसी लिए जरूरी है कि यदि उन की पूर्ति न हो सकी तो उस का जीवन ही न रह सकेगा। प्रत्येक मनुष्य को भोजन, वस्त्र, रहने के लिए सुरक्षित स्थान, ईंधन आदि की आवश्यकता होती ही है और बिना इन की पूर्ति के उस के प्राण तक नहीं बच सकते, और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है वे संपत्ति में समावेशित हैं।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि संपत्ति का एक ऐसा अंश है जिस का होना मनुष्य के हित के लिए उस के प्राणों की रक्षा के लिए, उस की कुशलता और स्वास्थ्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। यहां तक तो संपत्ति और जनता के आर्थिक हित एक साथ चलते हैं।

कहा जाता है कि अपार संपत्ति के साथ ही साथ अपार दरिद्रता, असह्य कष्ट जनता को सहने पड़ते हैं। थोड़े से स्वार्थी मनुष्य संपत्ति का एक बड़ा भाग छीन कर मौज उड़ाते हैं और अधिकांश जनता को असह्य कष्ट भोगने पड़ते हैं। अस्तु-संपत्ति और जनता के आर्थिक हित ये दो परस्पर-विरोधी बातें हैं। किंतु तनिक सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता चलेगा कि जनता के उसी भाग को इस प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं जिन के पास संपत्ति नहीं रहती, जो निर्धन होते हैं। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि कष्टों से और संपत्ति से कोई लगाव नहीं है, वरन् जहां संपत्ति नहीं होती वहीं कष्ट होते हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, संपत्ति से मनुष्य के किसी अभाव की, उस-को किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है, और अभाव की, आवश्यकता की पूर्ति होने से सुख-संतोष का होना ज़रूरी है। अस्तु संपत्ति से जो संतोष होता है उस के कारण मनुष्य का कुछ न कुछ हित होता ही है। अस्तु, संपत्ति से जनता का हित होना अनिवार्य है।

कुछ स्वार्थी मनुष्य जनता के एक बड़े भाग से संपत्ति का अधिक भाग छीन कर जनता में दरिद्रता और कष्टों की वृद्धि करते हैं, इस में संपत्ति का कुछ दोष नहीं है। वरन् दोष उस प्रणाली का है जिस के द्वारा कुछ स्वार्थी मनुष्य संपत्ति से समाज के एक बड़े भाग को वंचित रखते हैं। अर्थशास्त्र द्वारा इन सब प्रवृत्तियों, गति-विधियों का ज्ञान प्राप्त करके ये दूषित कृत्य रोके जा सकते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र के द्वारा जनता के हितों की रक्षा होती है।

अर्थशास्त्र में संपत्ति के उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनिमय

के सिद्धांतों का अध्ययन करके यह जाना जा सकता है कि समाज के कल्याण के लिए किस प्रकार संपत्ति की अधिक से अधिक वृद्धि की जाय तथा उस के विनिमय तथा वितरण की कैसी व्यवस्था की जाय जिस से समाज का प्रत्येक प्राणी अधिक से अधिक संपत्ति का उपयोग करके अधिक से अधिक तृप्ति-संतोष प्राप्त कर सके, जिस से समाज का अधिक से अधिक हित हो। अर्थशास्त्र के द्वारा दरिद्रता और उस के मूल कारणों को जान कर उन के दूर करने और जनता में अधिक सुख-संतोष को फैलाने से ही समाज का हित-साधन हो सकता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से लाभ

अर्थशास्त्र के अध्ययन से जनता की ग़रीबी के कारण और उसे दूर करने के उपाय तथा जन साधारण के हितों की रक्षा तथा खुशहाली के बढ़ाने में सहायता मिलती है। प्रत्येक देश के सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों में से कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जो बिना अर्थशास्त्र की सहायता के हल हो नहीं सकते। अर्थशास्त्र के अध्ययन से दो तरह के लाभ होते हैं :— (१) सैद्धांतिक और (२) सैद्धांतिक।

(१) व्यावहारिक लाभ :—

अर्थशास्त्र संपत्ति से संबंध रखनेवाले मानव-जीवन और समाज के यथार्थ और जीवित तथ्यों का विचार करता है। उसे इन तथ्यों का सावधानी से निरीक्षण करना पड़ता है। तात्कालिक और महत्त्वपूर्ण दूरवर्ती कारणों की खोज करनी पड़ती है और तब किसी निश्चय पर पहुँचना पड़ता है। इस प्रकार इस शास्त्र के द्वारा सतर्क निरीक्षण, धैर्ययुक्त विश्लेषण और उचित तर्क का अभ्यास पड़ जाता है। सामाजिक जीवन और मानवीय चालकों की पेचीदगी और इस शास्त्र के यथार्थ विषय के कारण मानवीय शक्तियों के शिक्षण और अभ्युन्नति की दृष्टि से अर्थशास्त्र का दर्जा बहुत ऊँचा हो गया है।

(२) व्यावहारिक लाभ :—

(क) अर्थशास्त्र से उपभोक्ता, उत्पादक, व्यापारी, राजनीतिज्ञ आदि सभी को व्यावहारिक कामों में बहुत अधिक सहायता मिलती है।

(ख) मजदूरों को अपनी उन्नति और हित के लिए सहयोग, संगठन, पारस्परिक सहायता करने और निर्भरता का अभ्यास करने तथा अपने अधिकारों को समझने और उन के निमित्त देश-काल के अनुसार उचित शस्त्र से काम लेने की शिक्षा मिलती है।

(ग) बहुत ही गूढ सामाजिक प्रश्नों को हल करने में सहायता मिलती है। यथा :—(१) आर्थिक स्वतंत्रता से होनेवाले लाभ कैसे बढाए जा सकते हैं और हानियां कैसे घटाई जा सकती हैं। (२) वर्तमान उद्योग-धंधों में व्यैयक्तिक और सामूहिक कार्य के उचित संबंध का प्रश्न जनता के हित की दृष्टि से कैसे हल किया जा सकता है। (३) संपत्ति के उपयोग के उचित रीति संबंधी प्रश्न कैसे हल हो सकते हैं। (४) संपत्ति के और अधिक समान वितरण के, और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के ऊपर कर के भार के प्रश्न कैसे सुलझाए जा सकते हैं। (५) गरीबी और उस से होनेवाले अनर्थों के क्या उपाय हो सकते हैं। (६) संसार-व्यापी तेजी-मंदी, व्यापारिक और औद्योगिक विशृंखलता, और अव्यवस्था के कारण और उपाय तथा बेकारी के प्रश्नों को कैसे सुलझाया जा सकता है।

अध्याय २

आर्थिक जीवन का विकास

ऐसा तो विरला ही मनुष्य होगा जिसे कोई आवश्यकता न हो। हर एक आदमी को किसी न किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती ही है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए काम या प्रयत्न करना पडता है। और इस प्रयत्न के परिणाम मे तृप्ति और सतोष की प्राप्ति होती है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि आवश्यकता के कारण उद्योग करना पड़ता है और उद्योग के फलस्वरूप तृप्ति और सतोष मिलते हैं। यही अर्थशास्त्र के विषय का मूल आधार है।

आम तौर पर प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उद्योग करता है। उद्योग के फलस्वरूप उसे तृप्ति होती है। किंतु वर्तमान समय मे प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता, उस के उद्योग और उस से होनेवाली तृप्ति मे ऐसा सीधा संबध नही देख पडता। एक लोहार लोहे के कीले बनाता है। एक क्लर्क दफ्तर मे लिखा-पढी का काम करता है। किंतु उन को आवश्यकता होती है अन्न, वस्त्र, मकान आदि की। अस्तु, उन के उद्योग से और आवश्यकता की वस्तुओं से होनेवाली तृप्ति से कोई भी सीधा संबंध नही देख पडता।

एक समय था जब प्रत्येक मनुष्य—कुछ देशों मे इस समय भी कुछ ऐसे मनुष्य है—अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु खुद ही बना लेता था। किंतु अब अधिकतर मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकताओं की प्रत्येक वस्तु खुद न बना कर अपनी बनाई हुई वस्तुओं से एक दूसरे की बनाई हुई वस्तुओं को अदल-बदल कर अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके तृप्ति और सतोष प्राप्त करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक ख़ास उद्योग में लग जाता है और अपनी आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए दूसरे मनुष्यों के उद्योगों पर निर्भर रहता है। इस के विकास की कथा इस प्रकार है।

पहली स्थिति—सीधा उद्योग

मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था मे आवश्यकताओं और उन की पूर्ति के लिए किए गए उद्योग तथा उस उद्योग से होनेवाली तृप्ति और सतोष मे बिल्कुल सीधा संबध स्पष्ट रूप से रहता है। किसी व्यक्ति को भूख लगती है। वह फल, शाक पात, मूल, मास आदि प्राप्त करने का उद्योग करता है, और इन वस्तुओं को खाकर तृप्ति और संतोष पाता है। जब-जब उसे भूख लगती है तब-तब वह इन वस्तुओं को प्राप्त करने और उन से तृप्ति तथा संतोष पाने का उद्योग करता है। प्रत्येक आवश्यकता उद्योग को जन्म देती है। इसी प्रकार अन्य आवश्यकताओं के सबंध मे भी सीधे उद्योग और तृप्ति या संतोष का सीधा लगाव रहता है। उसे जब धूप, वर्षा आदि से बचने की आवश्यकता होती थी तो वह ख़ुद झोंपडी या गुफा आदि का प्रबंध करता था। इसी तरह उसे बर्तन, गहने, शस्त्रास्त्र, नाव आदि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाना पडता था। आवश्यकता के कारण उद्योग करना पडता था, और उद्योग के फलस्वरूप सीधा संतोष प्राप्त होता था। इसे इस क्रम से व्यक्त कर सकते हैं—

आवश्यकता—उद्योग—संतोष

प्रथम स्थिति में आवश्यकता, उद्योग और संतोष का संबंध सीधा रहता है। बाद की स्थितियों में यह संबंध अप्रत्यक्ष होता है।

दूसरी स्थिति—अप्रत्यक्ष उद्योग

कारणवश किसी दल या जाति का कोई एक व्यक्ति पैर में चोट आने से अपने लिए फल, मूल, मांस, आदि लाने के लिए नही जा सकता। वह बैठ कर अपने हाथों से अपने दलवालों के लिए शस्त्र या औज़ार बना देता है। उन के बदले में उस के दलवाले उसे अपने उद्योग से प्राप्त फल आदि दे देते हैं। अस्तु, उस की भोजन की आवश्यकता शस्त्र, औज़ार

आदि के बनाने से पूरी हो जाती है। इस प्रकार आवश्यकता, उद्योग, संतोष का संबंध सीधा न होकर अप्रत्यक्ष होता है। यहीं से श्रम-विभाग प्रारंभ होता है। किसी एक जाति या दल के लोग एक-एक काम को अपना लेते हैं और अपना सारा श्रम और समय उसी में लगा देते हैं। वे अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए सीधे उद्योग न कर, जाति के अन्य व्यक्तियों के उद्योग से उत्पन्न वस्तुओं को अपने उद्योग से उत्पन्न की हुई वस्तुओं के बदले मे लेकर अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करके संतोष प्राप्त करते है। अब उद्योग और संतोष के बीच एक अंतर पड़ जाता है, जो एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु के अदला-बदला (यानी विनिमय) द्वारा पूरा किया जाता है। अस्तु इस स्थिति मे नीचे लिखे क्रम से परिवर्तन हो जाता है।

आवश्यकता—उद्योग—विनिमय—संतोप

यानी आवश्यकता के कारण उद्योग किया जाता है। उद्योग से कोई वस्तु उत्पन्न की जाती है। उस वस्तु को किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा उत्पन्न की हुई किसी अन्य ऐसी वस्तु से बदल लिया जाता है, जिस से उस मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति होती है। और तब उस वस्तु के उपभोग द्वारा तृप्ति प्राप्त की जाती है। इस प्रकार उद्योग और तृप्ति के बीच में विनिमय का आ जाना ज़रूरी हो जाता है।

इस स्थिति में एक जाति के कुल व्यक्ति मिल कर सारी जाति के सभी व्यक्तियों की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उद्योग करते हैं। किंतु पृथक्-पृथक् प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रत्येक वस्तु नहीं उत्पन्न करता।

तीसरी स्थिति—औद्योगिक दल

इस स्थिति में किसी एक ही काम को एक के अलावा अनेक व्यक्ति सम्मिलन तथा सहयोग से करने लगते हैं। अस्तु, श्रम-विभाग और भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है। कोई एक व्यक्ति अपने हिस्से में पड़े हुए किसी एक

काम को आदि से अंत तक खुद न करके उस के केवल एक भाग को करता है। बाकी अन्य भागों को पूरा करने के लिए अन्य व्यक्ति क्रमशः उद्योग करते हैं। एक कुर्सी बनाने के लिए इस स्थिति में एक व्यक्ति पेड़ काट कर लकड़ी तैयार करेगा। दूसरा आदमी उस के पाए वग़ैरः बनाएगा। कोई अन्य व्यक्ति उसे बिनेगा। अन्य उस मे पालिश करेगा। इस प्रकार एक कुर्सी तैयार करने के लिए अनेक व्यक्तियों के सहयोग की योजना की जायगी। यहां, कुर्सी तैयार हो जाने पर उस के बदले मे मिलने वाली वस्तु या वस्तुएं, उस के बनाने में सहयोग देनेवाले सभी व्यक्तियों मे बाँटी जायगीं। अस्तु, यहां यह सवाल पैदा हो जायगा कि किस को कितना दिया जाय। इस प्रकार उद्योग और संतोष के बीच में विनिमयवाले अंतर के साथ ही वितरण-संबंधी एक और अंतर जुड़ जाता है। संतोष के पहले विनिमय होगा, फिर वितरण होगा, तब अंत मे संतोष की पारी आ सकेगी। अब स्थिति इस प्रकार होगी—

आवश्यकता—उद्योग—विनिमय—(सतोष)—वितरण—संतोष

(व्यक्ति की) {दल के सदस्य के रूप में} {दल की आवश्यकताओं का} {व्यक्ति की आवश्यकता का}

इस स्थिति मे व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो उद्योग भिन्न-भिन्न व्यक्ति करेंगे वह दल के सदस्य के रूप में एक साथ सम्मिलन तथा सहयोग से होगा। उस उद्योग के फल-स्वरूप जो वस्तु या वस्तुएं उत्पन्न होंगी उन का सामूहिक रूप मे विनिमय किया जायगा। उन के बदले में जो वस्तु या वस्तुएं प्राप्त होंगी वे उद्योग करनेवालों में बाँटी जायँगी, और अंत में प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्से की वस्तु का उपभोग करके संतोष प्राप्त करेगा।

किंतु वर्तमान समाज में वस्तुओं का अदला-बदला या विनिमय वस्तुओं से न होकर रुपए-पैसे के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक दल और व्यक्ति के उद्योग का हिस्सा रुपए-पैसे के रूप मे प्रकट किया जाता है और संतोष के प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति जो वस्तुएं लेता है, उस के बदले में रुपए-पैसे देता है। इस प्रकार इस चौथी स्थिति में अंतिम सतोष के पहले कम से कम तीन अंतर पड जाते है। पहले उद्योग द्वारा तैयार वस्तुओं को बेचना पडता है, फिर जो उस बिक्री से प्राप्त होता है उसे सहयोगियों मे वितरित करना पडता है, और अंत में इस हिस्से के विनिमय से वे वस्तुए प्राप्त की जाती हैं जिन के उपयोग द्वारा तृप्ति और सतोष प्राप्त किए जाते हैं।

चौथी स्थिति : रुपए-पैसे का उपयोग

कहीं-कहीं कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उद्योग करके वे वस्तुएं सीधे उत्पन्न कर लेते हैं जिन के सीधे उपभोग से उन्हें संतोष प्राप्त होता है, और इस प्रकार आवश्यकता उद्योग, और संतोष का सीधा या प्रत्यक्ष संबध रहता है। कभी-कभी कोई व्यक्ति अपने बाग़ीचे में कुछ फूल और तरकारिया उत्पन्न कर लेते हैं। पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि इस सीधे संबंध में भी अप्रत्यक्ष संबंध का पलडा अधिक भारी पडेगा। इस उद्योग में भी बीज, औज़ार आदि प्राप्त करने पडते हैं जिन का संबंध अप्रत्यक्ष उद्योग से बहुत अधिक है। इस प्रकार देखने में सीधा सबंध होने पर भी आजकल के उद्योग और सतोष का सबंध अप्रत्यक्ष रहता है।

इस प्रकार वर्तमान स्थिति में उद्योग और संतोष के बीच में एक और स्थिति जोड दी गई है, वह है आमदनी। अस्तु अब स्थिति इस प्रकार होगी—

उद्योग—आमदनी—खर्च—सतोष

इस प्रकार व्यक्तिगत उद्योग से आमदनी होती है और उसे ख़र्च

करके संतोष प्राप्त किया जाता है। आमदनी ही ख़र्च करने की शक्ति होती है और यह ख़र्च करने की शक्ति आमदनी के परिमाण पर अवलंबित होती है। अस्तु, कहा जा सकता है कि—(१) आमदनी ही अर्थशास्त्र का केंद्रीय विषय है; और (२) (अ) उद्योग के विषय तथा काल मे और आमदनी के परिमाण मे (आ) और किसी ख़ास समय और स्थान में उस से प्राप्त होने वाली आय तथा आय से प्राप्त होनेवाले संतोष के परिमाण मे घनिष्ट संबंध है।

अर्थशास्त्र मे इन्ही सब बातों का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक शास्त्र में कुछ खास शब्द कुछ विशेष अर्थों मे प्रयुक्त होते है। प्रत्येक शास्त्र के विषय को समझने के लिए उस शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को समझ लेना बहुत ज़रूरी होता है। इस कारण अगले अध्याय मे कुछ परिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है।

अध्याय ४

कुछ पारिभाषिक शब्द

जिन भौतिक चीजों पर किसी व्यक्ति का स्वत्व या कब्ज़ा होता है उसे

वस्तु

वस्तु कहते है । जिन चीज़ों को प्राप्त करने की मनुष्य को चाह होती है, जिन से उसे तृप्ति और संतोष होता है उन्हें अर्थशास्त्र मे 'वस्तु' कहते है । ऐसी वस्तुए दो तरह की होती हैं—(१) भौतिक और (२) अभौतिक । जिन चीज़ों को हम देख-छू सकते है और जिन का हम विनिमय कर सकते है उन्हे भौतिक कहते है, जैसे ज़मीन, जल, अन्न, फल, मकान, मशीन आदि । किसी वस्तु के रखने, प्राप्त करने, उपयोग और उपभोग मे लाने, उस से लाभ उठाने, उसे भविष्य में प्राप्त करने आदि के स्वत्व और अधिकारों की भी गणना भौतिक वस्तुओं मे की जाती है । अस्तु, कर्ज़ के बांड, तमस्सुक, पब्लिक और प्राइवेट कंपनियों के हिस्से, ठेके और एकाधिकार, पेटेंटराइट, कापीराइट, सड़क, पुल आदि के इस्तेमाल के अधिकार, यात्रा करने, उत्तम दृश्यों से आनंद प्राप्त करने आदि के अधिकार और अवसर आदि भी भौतिक वस्तुओं मे सम्मिलित माने जाते है ।

जिन वस्तुओं को हम देख-छू नही सकते उन वस्तुओं को अभौतिक (वैयक्तिक) कहते है, जैसे गुडविल, सौहार्द्र, मित्रता, प्रसिद्धि ।

अभौतिक वस्तुओं के दो विभाग है, आभ्यंतरिक और वाह्य । आभ्यंतरिक मे उन सब गुणों और शक्तियों का समावेश हो जाता है जो प्रत्येक मनुष्य के अंदर पाई जाती है, जैसे काम करने, गाने, गाना सुनने और उस से आनंद उठाने की शक्ति आदि । मित्रता, गुडविल, व्यापारिक संबंध और इसी तरह के अन्य संबंध जिन से दूसरों का संबंध होता है

बाह्य वस्तुओं के अंतर्गत आ जाते हैं।

विनिमय की दृष्टि से वस्तुएं दो तरह की होती हैं, विनिमय-साध्य और अविनिमय-साध्य। जो वस्तुएं बेची और ख़रीदी जा सकती हैं, वे विनिमय-साध्य कही जाती हैं, और वे हस्तांतरित होकर, एक व्यक्ति के कब्जे से निकल कर, दूसरे के कब्जे में जा सकती हैं। खेती की उपज, कारखानों में बनने वाली चीज़ें, कंपनियों के हिस्से, व्यापार की गुडविल विनिमयसाध्य हैं। जो वस्तुएं खरीदी-बेची नहीं जा सकती उन्हें अवि-निमय-साध्य कहते हैं; जैसे मनुष्य की आभ्यंतरिक शक्तियां आदि।

वस्तुओं का विभाजन एक और दृष्टि से किया जा सकता है, यानी नैसर्गिक और स्वत्व-साध्य। जो वस्तुएं प्रकृति की देन हैं, और जिन में मनुष्य के श्रम का कुछ भी हाथ नहीं है, जिन पर किसी की मिल्कियत और स्वत्व स्थापित नहीं रहता, वे नैसर्गिक वस्तुएं कहलाती हैं, जैसे प्रारंभिक स्थिति में प्राप्त भूमि, जंगल, वन, पर्वत, नदी, झरने। जिन पर मनुष्य की मिल्कियत और स्वत्व हो, जो वस्तुएं मनुष्य के श्रम के कारण प्राप्त हों, उन्हें स्वत्व-साध्य वस्तुएं कहते हैं, जैसे कृषि, कारखाने आदि के पदार्थ।
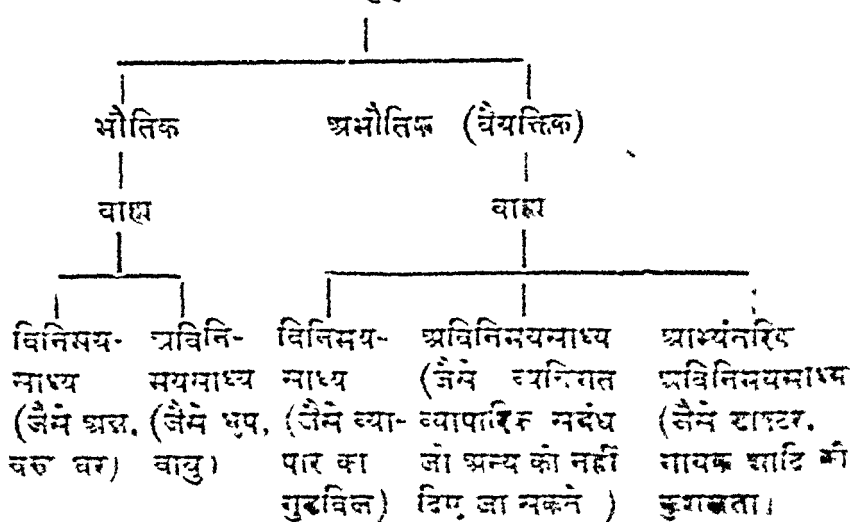
सपत्ति

आम तौर पर अर्थशास्त्र के अनुसार संपत्ति मे उन सभी वस्तुओं की गणना की जाती है जो उपयोगी हों (जिन से आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति हो) और जिन की सख्या या परिमाण अपरिमित न हो, यानी जिन का विनिमय हो सके।

अर्थशास्त्र में 'संपत्ति' शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है—

(१) वे सभी वस्तुएं जो उपयोगी हों और जिन से आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति हो संपत्ति में समावेशित होती है। अस्तु वायु अन्न, नमक, धातुएं, जवाहिरात आदि पदार्थ और डाक्टरों, गायकों, वकीलों, गृह-सेवकों आदि की सेवाएं जिन से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति होती है, संपत्ति मानी जायँगी।

(२) वे सब वस्तुएं जिन से आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति हो और जो संख्या या परिमाण मे परिमित हों संपत्ति मानी जायँगी। यहां उपयोगिता के-साथ ही परिमाण मे परिमितता और जोड दी गई है।

(३) वे ही वस्तुएं संपत्ति मानी जाती हैं जो भौतिक पदार्थ हों, जिन पर मनुष्य की मिल्कियत और स्वत्व हो, और जो मालिक से बाह्य हों। मिल्कियत और स्वत्व मे उपयोगिता समावेशित है, क्योंकि बिना उपयोगिता के कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को अपनाने की चेष्टा न करेगा, और जिन भौतिक पदार्थों पर मिल्कियत कायम की जायगी वे परिमाण में परिमित होगे। अस्तु इस परिभाषा के अनुसार संपत्ति मे उन सभी पदार्थों का समावेश नहीं किया जाता जो (अ) अभौतिक है और (आ) जिन पर किसी को मिल्कियत न हो, जैसे गल्फस्ट्रीम, वर्षा वायु, आदि।

(४) बहुत ही संकुचित भाव से संपत्ति मे केवल उन्हीं वस्तुओं का समावेश किया जाता है जो (अ) भौतिक हों, और (आ) विनिमयसाध्य हो। विनिमयसाध्यता मे उपयोगिता, परिमाण मे परिमितता, और हस्तांतरितता तथा मिल्कियत-स्वत्व का समावेश हो जाता है। इस व्याख्या के अनुसार वे सब पदार्थ जो अभौतिक तथा अविनिमय-साध्य हों संपत्ति मे

सम्मिलित होने से छूट जाते है।

संपत्ति का विचार करते समय आवश्यकताओं का ध्यान रखना बहुत ही ज़रूरी है। वही एक वस्तु आवश्यकता के कारण एक समय और एक स्थान में संपत्ति होगी और दूसरे में संपत्ति न हो सकेगी। एक जंगली, अपढ मनुष्य के हाथ में पड़ कर एक बढिया से बढिया पुस्तक संपत्ति नहीं मानी जायगी, क्योंकि उस पुस्तक का उस अपढ, जंगली मनुष्य को कुछ भी उपयोग न जान पडेगा। किंतु यदि वह उसे बदल कर उस के स्थान में कुछ खाने के पदार्थ या शिकार के सामान पा सके तो ज़रूर ही वह पुस्तक उस के लिए भी संपत्ति ठहरेगी। हिमालय पर का बर्फ़ और रेगिस्तान में पड़ी हुई बालू संपत्ति न होगी किंतु यदि वही बर्फ़ और बालू बंबई शहर में लाई जा सके तो निस्सन्देह संपत्ति मानी जायगी।

(५) किसी भी वस्तु के संपत्ति होने के लिए चार बातें ज़रूरी हैं:—(अ) उपयोगिता, (आ) स्वत्व-साध्यता, (इ) बाह्य होना, और (ई) परिमाण में परिमित होना। वर्तमान युग में ये सब बातें विनिमय-साध्यता में समावेशित हो जाती हैं। अस्तु जो भी वस्तु विनिमय-साध्य होगी वही संपत्ति मे समावेशित हो सकेगी। यदि कोई वस्तु उपयोगी न होगी तो कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त करना ही न चाहेगा। यदि वह स्वत्व-साध्य न होगी तो कोई उसे प्राप्त ही न कर सकेगा। यदि वह बाह्य न होगी तो कोई भी व्यक्ति उसे अपने से पृथक् करके हस्तांतरित न कर सकेगा। यदि वह वस्तु परिमाण में परिमित न होगी तो कोई भी व्यक्ति उस के बदले में कोई भी दूसरी वस्तु देने के लिए तैयार न होगा।

(६) संपत्ति में दो तरह की वस्तुएं समावेशित हैं:—(अ) वे भौतिक पदार्थ जिन पर किसी व्यक्ति का क़ानून या प्रथा के अनुसार व्यक्तिगत स्वत्व हो या स्वामित्व का अधिकार हो जैसे ज़मीन, घर द्वार, दरी, मशीन, जवाहिरात कंपनियों के हिस्से, तमस्सुक, दस्तावेज़ आदि। (आ) वे अभौतिक पदार्थ जो किसी व्यक्ति के बाहर के (बाह्य) हों

और जो उसे भौतिक वस्तुओं के प्राप्त करने में प्रत्यक्ष रूप से सहायता दें, जैसे गुडविल, व्यावसायिक प्रेक्टिस आदि। किंतु इन अभौतिक पदार्थों में उन व्यक्तिगत गुणों और शक्तियों का भी समावेश न होगा जो प्रत्यक्ष रूप से जीविकोपार्जन में उस को सहायक होती हैं, क्योंकि वे उस के अंदर की चीज़ें हैं।

व्यक्तिगत संपत्ति में उन सभी गुणों, शक्तियों, विभूतियों योग्यताओं, स्वभावों का समावेश माना जाता है जो मनुष्य को औद्योगिक क्षमता प्रदान करती हैं। किंतु इन गुणों को वह हस्तांतरित नहीं कर सकता। इन के द्वारा वह ऐसी वस्तुएं तयार कर सकता है जो दूसरों के उपयोग में आ सके। अस्तु इन गुणों को वह उपयोगी पदार्थों के उत्पादन के निमित्त काम में ला सकता है। इस प्रकार उस के ये आभ्यंतरिक गुण उसे संपत्ति प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। किंतु ये गुण ख़ुद संपत्ति नहीं हैं। जो वस्तुएं संपत्ति में समावेशित हो सकती हैं वे सदा वाह्य होती हैं, मनुष्य के अंदर नहीं।

प्रत्येक समाज के प्रत्येक व्यक्ति की संपत्ति दो तरह की होती है —

व्यक्तिगत और सामूहिक संपत्ति

(अ) वे भौतिक और अभौतिक वस्तुएं जिन पर उन का निजी व्यक्तिगत स्वत्व और अधिकार होता है और जिन पर उस के किसी पड़ोसी का कोई भी अधिकार नहीं माना जाता। (आ) वे भौतिक और अभौतिक वस्तुएं जिन पर दूसरों के साथ उस का साझे का स्वत्व होता है, और जिन का उपयोग और उपभोग वह दूसरों के साथ समान रीति से कर सकता है। इन वस्तुओं पर किसी भी एक व्यक्ति का निजी व्यक्तिगत अधिकार या स्वामित्व नहीं रहता। जैसे सड़कें, पुल, नदियां, जंगल, पहाड़, सड़क पर की रोशनी, जलवायु, प्राकृतिक सौंदर्य, गैसवर्क्स, वाटरवर्क्स, नहर, पार्क। इस तरह के साझे के स्वत्ववाली वस्तुएं सामूहिक या सामाजिक संपत्ति मानी जाती हैं।

यदि दो व्यक्तियों मे से एक व्यक्ति ऐसे स्थान मे रहता है जहां का जलवायु, सडकें, रोशनी, सफाई, जल, सैर-मनोरंजन का प्रबंध उत्तम हो; जहां अख़बार सस्ते हो, पुस्तकें आसानी से प्राप्त हो सकें तो यह निश्चित है कि समान संपत्ति के मालिक होने पर भी ऐसा व्यक्ति अधिक संपत्तिवाला माना जायगा। क्योंकि उसे अधिक तृप्ति-संतोष के साधन प्राप्त होते है।

राष्ट्रीय संपत्ति

किसी देश के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की निजी व्यैयक्तिक संपत्ति और जनता की सम्मिलित सामूहिक संपत्ति मिल कर राष्ट्रीय संपत्ति मानी जाती है। राष्ट्रीय संपत्ति में नीचे लिखी वस्तुएं समावेशित हैं :- (१) समस्त जनता की व्यैयक्तिक निजी संपत्ति तथा सम्मिलित सामूहिक संपत्ति। (२) सभी तरह की सार्वजनिक, भौतिक वस्तुएं, जैसे पार्क, म्युनिसिपल गैस-वर्क्स तथा वाटर-वर्क्स आदि। (३) देश भर की नैसर्गिक वस्तुएं, जैसे, नदियां, पर्वत, समुद्र, बन। (४) स्वतंत्र, सुसंगठित, सुव्यवस्थित राष्ट्रीय तथा सामाजिक संगठन सरीखी अभौतिक वस्तुएं तथा वे आभ्यंतरिक गुण तथा शक्तियां और योग्यता-क्षमता जो किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्र के मुकाबिले में अधिक क्षमताशील साबित करती है। (५) व्यापारिक, व्यावसायिक तथा अन्य औद्योगिक संबंध, सुख्याति, साख आदि जिन के द्वारा राष्ट्र के व्यापार, व्यवसाय, उत्पादन आदि में सहायता मिलती है।

राष्ट्रीय संपत्ति की गणना करते समय उन सब ऋणों और लेन-देनों का ख़याल न किया जायगा जो उस राष्ट्र के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का एक-दूसरे पर देना-पावना रहता है। क्योंकि ऐसे देने-पावने आपस में कटकुट कर बराबर हो जाते है। किंतु यदि उस राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से कुछ पाना है तो उसे राष्ट्रीय संपत्ति मे जोडना पडेगा और उस राष्ट्र को जो कुछ भी अन्य राष्ट्रों के देना है उसे राष्ट्रीय संपत्ति मे से घटाना पडेगा।

संसार के समस्त भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की संपत्ति तथा वह संपत्ति जो

सार्वभौमिक संपत्ति

उन राष्ट्रों में से सभी या कुछ के सम्मिलित अधिकार में है सार्वभौमिक संपत्ति मानी जायगी।

उपयोगिता

किसी वस्तु के उस गुण को जो मनुष्य की आवश्यताओं की पूर्ति और तृप्ति करके संतोष दे उपयोगिता कहते हैं। उपयोगिता के कारण ही किसी वस्तु की चाह होती है। जिस वस्तु की जितनी ही अधिक उपयोगिता प्रतीत होगी उतनी ही अधिक उस की चाह होगी, और उसी हिसाब से अन्य वस्तुएं उस के बदले में ली-दी जा सकेंगी। अस्तु, किसी वस्तु के विनिमय में उपयोगिता का विचार प्रधान-रूप से किया जाता है। उपयोगिता ही अदले-बदले या विनिमय का निपटारा करती है।

मूल्य

जब दो वस्तुओं का विनिमय या अदला-बदला किया जाता है तो एक वस्तु का जितना परिमाण दूसरी वस्तु के बदले में दिया जायगा उसे (परिमाण) को दूसरी वस्तु का मूल्य कहते हैं। यदि एक कटहल के बदले में २५ आम दिए जायँ तो एक कटहल का मूल्य २५ आम माना जायगा। यह तभी होगा जब एक कटहल की उपयोगिता २५ आम की उपयोगिता के बराबर मानी जाय। कभी-कभी मूल्य का अर्थ उपयोगिता भी लगाया जाता है, पर अर्थशास्त्र में यह प्रयोग उचित नहीं है।

द्रव्य, रुपया-पैसा

द्रव्य वह वस्तु है जो आम तौर पर वस्तुओं के विनिमय के निमित्त माध्यम के काम में लाया जाय। पूर्वकाल में वस्तुओं के अदला-बदला करने के लिए बड़ी परेशानी उठानी पड़ती थी। यदि किसी के पास गायें होतीं और वह खाने की वस्तु प्राप्त करना चाहता तो उसे ऐसे मनुष्य को खोजना पड़ता जिसे उस की गाय की चाह होती और जो गाय के बदले में इच्छित खाने की वस्तु दे सकता। और ऐसे मनुष्य के मिल जाने पर भी कौन कितनी वस्तु बदले में दे इन परिमाणों के तय करने में बड़ी अड़चन पड़ती। इन सब कठिनाइयों को

दूर करने के लिए, विनिमय की सरलता और सुभीते के लिए एक ऐसी वस्तु का व्यवहार किया जाने लगा जिस के बदले मे सभी चीजे ली और दी जा सके और जिस के दिए जाने से कोई भी वस्तु प्राप्त की जा सके। इसी को द्रव्य कहते हैं। वर्तमान समय मे संसार के व्यापारिक, व्यावसायिक तथा व्यावहारिक कार्य और विनिमय द्रव्य द्वारा होते है, और वस्तुओं का मूल्य द्रव्य मे प्रकट किया जाता है।

जब किसी वस्तु की इकाई का मूल्य द्रव्य मे प्रकट किया जाता है तो उसे कीमत कहते है। किसी एक किताब का मूल्य दो रुपया है तो कहा जायगा कि उस किताब की क़ीमत दो रुपया है।

कीमत

संपत्ति मे जिन वस्तुओं का समावेश किया जाता है वे चार प्रकार की मानी जाती है, यथा—(१) आवश्यक वस्तुएं, (२) आराम की वस्तुएं, (३) विलासिता की वस्तुएं, और (४) कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएं।

आवश्यक वस्तुए वे वस्तुएं हैं जो उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज़रूरी है जिन का पूरा किया जाना किसी तरह से टाला ही नही जा सकता, जैसे भूख, प्यास, रक्षा।

इन के भी दो विभाग हैं। एक तो वे आवश्यकताएं जो जीवन के लिए जरूरी है, जैसे भूख के लिए भोजन। ऐसी आवश्यकताएं जीवन-रक्षक आवश्यकताएं कहलाती हैं और इन की पूर्ति करने वाली वस्तुएं जीवन-रक्षक आवश्यक वस्तुए कहलाती है, जैसे अन्न, पेय, वस्त्र आदि।

किंतु ऐसी भी आवश्यकताएं है जिन की पूर्ति से मनुष्य की निपुणता क़ायम रहती और बढ़ती है। यदि उन की पूर्ति न की गई तो निपुणता घट जाती है और उत्पादन मे कमी आ जाती है। ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली वस्तुओं को निपुणतादायक आवश्यक वस्तुएं कहते हैं।

कुछ ऐसी भी वस्तुएं है जो जीवन या निपुणता के लिए तो ज़रूरी नहीं हैं, किंतु किसी ख़ास समाज मे चलने के कारण वे इतनी ज़रूरी

समझी जाती है कि जीवन-रक्षक और निपुणतादायक आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी करके भी उन वस्तुओं के उपभोग का प्रयत्न किया जाता है। ये वस्तुएं कृत्रिम आवश्यक वस्तुएं कहलाती हैं, जैसे, ख़ास तरह की पोशाक, तंबाकू आदि।

ऐसी वस्तुएं जो उन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं जो जीवन, निपुणता के लिए तो जरूरी नहीं हैं पर जिन से आराम मिलता है और शारीरिक-मानसिक सुख-संतोष के कारण कुछ निपुणता बढ़ती है, आराम की वस्तुएं कही जाती हैं।

वे वस्तुएं जिन के उपयोग से आनंद तो आता है पर निपुणता घटती है विलासिता की वस्तुएं कही जाती हैं।

अध्याय ५

आर्थिक कार्य और अर्थशास्त्र के विभाग

मनुष्य न तो किसी भौतिक पदार्थ को उत्पन्न ही कर सकता है और न नष्ट ही। वह किसी भौतिक पदार्थ के रूप या उस की बनावट के क्रम को इस तरह बदल सकता है कि उस पदार्थ की उपयोगिता कम या ज़्यादा हो सके। वह मिट्टी को लेकर उस की बनावट के क्रम को इस तरह बदल सकता है कि बर्तन के रूप मे वह आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो। इस के अलावा वह किसी वस्तु को इस प्रकार रख सकता है कि प्रकृति द्वारा उस के रूप आदि में परिवर्तन हो जाय और वह अधिक उपयोगी हो सके, जैसे बीज को ऐसे समय मे ऐसे स्थान मे डाल दे कि प्राकृतिक शक्तियां उसे पेड-पौधे के रूप मे पहले से अधिक उपयोगी बना दे। अर्थशास्त्र मे इसी को उत्पत्ति या उत्पादन कहते है।

उत्पत्ति मे नीचे लिखे परिवर्तन समावेशित है :—

(१) आकार तथा रूप-संबंधी परिवर्तन द्वारा उपयोगिताओं का उत्पादन, जैसे मिट्टी से घडा या लकडी से टेबिल-कुर्सी बना कर मिट्टी या लकडी के आकार मे ऐसा परिवर्तन कर देना जो अधिक उपयोगी हो।

(२) समय-सबंधी परिवर्तन द्वारा उपयोगिताओं को उत्पन्न करना। जिस समय कोई एक वस्तु कम उपयोगी हो उस समय उसे सुरक्षित रख कर ऐसे समय तक कायम रखना कि वह वस्तु अधिक उपयोगी हो सके। जैसे फ़सल के समय फलों और अन्न को रख छोडे और ऐसे समय के लिए सुरक्षित रक्खे जब वे वस्तुए कम प्राप्त होती हैं।

(३) स्थान-संबंधी परिवर्तन द्वारा उपयोगिताओं को उत्पन्न करना। ऐसे स्थान से जहा कोई एक वस्तु कम उपयोगी हो ऐसे दूसरे स्थान मे ले जाना जहां वह अधिक उपयोगी हो। रेगिस्तान से बालू ऐसे स्थान मे ले जाय जहा वह मकान, शीशा आदि बनाने के लिए जरूरी हो।

(४) अधिकार-परिवर्तन—व्यापार, विनिमय, वितरण, हस्तांतरितकरण आदि के द्वारा ऐसे मनुष्यों के पास से जिन के पास वस्तुएं कम उपयोगी है, ऐसे मनुष्यों के पास कर दी जायें जिन के पास वे वस्तुएं अधिक उपयोगी हों।

(५) विज्ञप्ति करना। वस्तुओं के सबंध मे लोगो को ज्ञान कराना।

(६) सेवाओ द्वारा उपयोगिता प्रदान करना। घरेलू नौकर, मास्टर, डाक्टर, गायक, वकील, जज, सिपाही, पुलिसमैन तमाशा दिखानेवाले आदि अपनी-अपनी सेवाओ द्वारा दूसरो की आवश्यकताओ की पूर्ति करते और उन्हे उत्पत्ति करने के लिए अधिक उपयुक्त बनाते हैं, इस कारण इन सब के कार्य उत्पत्ति मे समावेशित होते है। किंतु इन के कार्यों के द्वारा वस्तुओ के रूप आदि मे किसी प्रकार का भौतिक परिवर्तन नहीं होता, इस कारण सेवा के कार्यों द्वारा जो उपयोगिता-वृद्धि होती है उसे अभौतिक उत्पत्ति कहते है। रूप, स्थान आदि के परिवर्तन द्वारा जो उत्पत्ति होती है उसे भौतिक उत्पत्ति कहते है।

उत्पत्ति यानी उपयोगिता के उत्पादन मे नीचे लिखे कार्य सम्मिलित है :—(१) भूमि, खान, समुद्र, नदी से उन वस्तुओं का प्राप्त करना जो वहा पाई जाती या उत्पन्न होती है (२) कारखानों आदि मे वस्तुओं का निर्माण, (३) वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले आना ले जाना (४) व्यापार-व्यवसाय द्वारा वस्तुओं का वितरण, (५) उपभोक्ताओं को सीधे सेवाएं समर्पित करना, जैसे गाना।

उपर्युक्त उत्पादन कार्यों मे से किसी के लिए भी प्रयत्न या उद्योग

श्रम　　करना श्रम कहलाता है।

दिमाग़ या शरीर का कोई भी उद्योग जो पूर्णतः या अंशतः उस उद्योग से प्रत्यक्ष रूप मे होनेवाली तृप्ति और संतोष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के लाभ के उद्देश्य से किया जाय, श्रम कहलाता।

जो खिलाडी केवल आनंद, मनोरंजन या समय काटने के लिए शतरंज अथवा फुटबाल खेलेगा, उस का उद्योग अर्थशास्त्र के विचार से 'श्रम' न होगा। पर जो खिलाडी पुरस्कार या तनख्वाह लेकर जीविका के लिए खेलेगा उस का उद्योग श्रम माना जायगा।

इस परिभाषा के अनुसार प्रायः सभी उद्योगों की गणना किसी न किसी रूप मे 'उत्पादक श्रम' मे होगी। केवल वे उद्योग जिन से किसी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति न हो सकी हो 'अनुत्पादक श्रम' माने जायँगे। कुछ अर्थशास्त्री गृह-सेवकों, गायकों, अध्यापकों, व्यापारियों आदि के श्रम को 'उत्पादक श्रम' नहीं मानते थे। पर अब इन सब के उद्योगों को 'उत्पादक श्रम' माना जाता है, क्योंकि प्रत्येक के उद्योग से किसी न किसी प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न होती है, जो किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति और तृप्ति करके संतोष देती है।

उपभोग

उत्पादन का ठीक उलटा उपभोग है। मनुष्य केवल उपयोगिता का उपभोग करता है। वह किसी वस्तु को नष्ट नहीं कर सकता, किंतु उपभोग द्वारा किसी वस्तु की उपयोगिता को नष्ट कर देता है। उपयोगिता का उपयोग करने मे वह वस्तु की बनावट के क्रम को इस प्रकार उलट-पलट देता है कि उस की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। ऐसा भी होता है कि कुछ वस्तुओं के उपभोग करते समय मनुष्य ख़ुद तो उन की बनावट के क्रम मे अधिक परिवर्तन नही करता, किंतु उस के उपभोग के अवसर मे 'काल' या 'समय' उस वस्तु की बनावट के क्रम को नष्ट करके उस की उपयोगिता नष्ट कर देता है।

अर्थशास्त्र मे मुख्यतः मनुष्यो की आवश्यकताओं और उन आवश्य-

अर्थशास्त्र के विभाग

कताओ की पूर्ति के लिए किए गए उद्योगों पर विचार किया जाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पत्ति की जाती है। उत्पन्न वस्तुओं के उपभोग द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति कर के तृप्ति, संतोष और सुख प्राप्त किए जाते हैं। विभिन्न मनुष्य अपने-अपने उद्योगो द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का आपस मे विनिमय या अदला-बदला करके उपभोग की विभिन्न वस्तुओ को प्राप्त करते है। एक साथ मिल कर उत्पादन कार्य करनेवाले अनेक व्यक्ति उत्पादन या प्राप्त वस्तुओं को आपस मे बॉटते या वितरण करते है, और तब बाद मे वितरण की हुई वस्तुओ का उपभोग करते है। इस प्रकार अर्थशास्त्र मे मुख्यत. उत्पत्ति, विनिमय, वितरण, उपभोग पर विचार किया जाता है। इस कारण अर्थशास्त्र के मुख्य चार विभाग किए जा सकते है।

प्राचीन पंडितों के अनुसार अर्थशास्त्र के मुख्य चार विभाग माने जाते है : (१) उत्पत्ति; (२) उपभोग ; (३) विनिमय, (४ वितरण। किंतु वर्तमान समय मे, (५) द्रव्य तथा बैंकिंग, (६) अंतरराष्ट्रीय व्यापार, (७) क्रय-विक्रय, (८) राजस्व, (९) औद्योगिक संगठन, आदि भी अर्थशास्त्र के विभाग माने जाने लगे हैं। इस का कारण यही है कि व्यावहारिक रूप से ये सभी विषय अर्थशास्त्र के अंतर्गत आ जाते हैं। वर्तमान काल मे प्रत्येक विषय के अंगों तथा उपांगों के संबंध में इतनी अधिक खोज, इतना गहरा अध्ययन किया जा रहा है कि प्रत्येक विषय के अंग अपना स्वतंत्र, शास्त्रीय रूप प्राप्त कर रहे है। ऐसी दशा मे प्रत्येक का पृथक् प्रतिपादन अनिवार्यरूपेण आवश्यक हो गया है। इसी कारण इस पुस्तक मे मुख्य रूप से उत्पत्ति, उपभोग विनिमय तथा वितरण का ही सविस्तर अध्ययन किया गया है। वैसे तो द्रव्य तथा बैंकिंग, अंतराष्ट्रीय व्यापार और क्रयविक्रय अर्थशास्त्र के विनिमयवाले विभाग में समावेशित हो जाते है और औद्योगिक संगठन उत्पत्ति के अंतर्गत आ जाता है।

उत्पत्ति

अध्याय ६

उत्पत्ति और उत्पत्ति के साधन

इस का वर्णन किया जा चुका है कि मनुष्य किसी भौतिक पदार्थ को न तो बना ही सकता है और न नष्ट ही कर सकता है। वह प्रत्येक पदार्थ की केवल उपयोगिता बढा-घटा सकता है। अर्थशास्त्र मे उपयोगिता-वृद्धि को ही उत्पत्ति कहते है।

उत्पत्ति के लिए कुछ साधनों की ज़रूरत पडती है। उत्पत्ति के साधनों से अभिप्राय उन वस्तुओं से है जिन का उत्पादन-कार्य के लिए होना ज़रूरी है, यानी जिन के बिना उत्पादन-कार्य हो ही न सके।

कोई भी काम बिना श्रम के नही किया जा सकता। श्रम मनुष्य करता है। साथ ही श्रम करनेवाले के लिए यह ज़रूरी है कि वह किसी स्थान पर श्रम करे। उसे आधार की ज़रूरत होती है। उसे बैठने आदि के लिए भूमि की जरूरत होती है। फिर काम करने के लिए औज़ार और सहायक वस्तुओं की जरूरत होती है जो पूँजी कहलाती है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकार के काम के लिए कम से कम भूमि, श्रम और पूँजी इन तीन साधनों की जरूरत तो पडती ही है। पूर्वकाल के अर्थशास्त्री धनोत्पत्ति के लिए भूमि, श्रम और पूँजी इन तीन साधनों को ज़रूरी मानते थे। प्रत्येक प्रकार के उत्पादन के लिए भूमि, श्रम और पूँजी तीनों की जरूरत पडती है।

स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि

एक घसियारा वन से बस्ती मे घास लाता है। वन से बस्ती मे लाए जाने के कारण घास अधिक उपयोगी हो जाती है क्योंकि बस्ती मे घास जानवरों के खिलाने के काम मे आती है। घसियारे को घास लाने मे श्रम करना

पड़ता है। साथ ही उसे वन में घास प्राप्त होती है। वन भूमि का भाग है। वन से बस्ती में घास लाने के लिए उसे बाँधने के लिए रस्सी या कपड़ा चाहिए। साथ ही घास काटने के लिए हँसिया या छीलने के लिए खुरपी की जरूरत पड़ेगी, जिस से थोड़े समय और श्रम में वह अधिक से अधिक घास ला सके। घसियारा अपनी आमदनी में से थोड़े-थोड़ा बचा कर रस्सी, कपड़ा, हँसिया आदि लेगा। अस्तु, रस्सी, कपड़ा, हँसिया उस की पूँजी होगी। इस प्रकार उसे स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि के लिए भूमि, श्रम और पूँजी इन तीन साधनों की आवश्यकता होगी।

रूप-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि

कच्चे माल के पैदा करने और तैयार माल के बनाने में भी भूमि, श्रम, पूँजी इन तीन साधनों की जरूरत पड़ती है। यदि कृषि द्वारा कच्चा माल तैयार किया जायगा तो बोने के लिए भूमि की ज़रूरत होगी ही। साथ ही बोने-काटने आदि में श्रम करना ही पड़ेगा। फिर बीज, हल आदि के रूप में पूँजी की भी जरूरत पड़ेगी। इसी तरह तैयार माल के बनाने में भी माल बनाने के लिए कारखाना स्थापित करने के निमित्त स्थान की ज़रूरत होगी, बनानेवाले मनुष्यों के रूप में श्रम की और औज़ार और कच्चे माल के रूप में पूँजी की जरूरत पड़ेगी। अस्तु, यहां भी भूमि, श्रम, पूँजी इन तीन साधनों की ज़रूरत पड़ेगी। एक लोहार कीलें बनाता है। उसे एक स्थान की जरूरत होगी, जहां बैठ कर वह कीलें गढ़े। साथ ही उसे श्रम करके बनाना पड़ेगा। और कीलें बनाने के लिए कच्चे माल के रूप में लोहे और औज़ारों के रूप में पूँजी की जरूरत होगी।

इसी प्रकार आवागमन के कामों में भी एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में उस भूमि की जिस पर से जाया जायगा जरूरत होगी। कोई ऐसी सवारी आदि की ज़रूरत होगी जिस पर रख कर या जिस के द्वारा वस्तु ले जाई जाय। अस्तु, वह पूँजी होगी। और कोई मनुष्य श्रम करके ले जाने के काम को करेगा, जो श्रम होगा। इस प्रकार आवागमन में

मे भी श्रम, भूमि, पूँजी, इन तीन ही साधनों की ज़रूरत है।

एक सितार बजाने-वाला सितार बजा कर लोगों को ख़ुश करता है। उस की इस सेवा के लिए उसे धन प्राप्त होता है। यह अभौतिक उत्पत्ति है। इस के लिए भी उसे बैठने के लिए स्थान के रूप मे भूमि, बाजे के रूप मे पूँजी और प्रयत्न के रूप मे श्रम की ज़रूरत पडती है। अस्तु, अभौतिक उत्पत्ति मे भी भूमि, श्रम, पूँजी इन तीन ही साधनों की आवश्यकता होती है। अध्यापक, डाक्टर, न्यायाधीश, गायक, सिपाही आदि के सेवा-कार्य इसी प्रकार की अभौतिक उत्पत्ति मे सम्मिलित है।

अभौतिक उत्पत्ति

आजकल के अर्थशास्त्री इन तीन साधनों मे प्रबंध और साहस या जोखिम इन दो और साधनों को जोड कर उत्पत्ति के साधनों की पूरी संख्या पॉच मानते है। कभी-कभी प्रबंध और साहस को एक मे मिला कर व्यवस्था अथवा संगठन शब्द का प्रयोग किया जाता है। पर अधिकतर प्रबंध तथा साहस का वर्णन पृथक्-पृथक् ही रहता है।

आजकल उद्योग-धंधों तथा कल-कारखानों का युग है। बहुत से आदमी एकत्र कर कारख़ानो मे धनोत्पत्ति का कार्य संचालित किया जाता है। एक कारखाने मे काम करने-वाले अनेक मनुष्यों के भिन्न-भिन्न कामों को निर्धारित करना; कब, कौन, कहा, कैसे, कितना और क्या काम करेगा, किस मशीन, किस कच्चे माल आदि का कैसा, कब, किस प्रकार उपयोग किया जायगा, किस स्थान पर किस समय क्या कैसे होगा; पूँजी कौन, कितनी, किस प्रकार की और किस तरह काम मे लाई जायगी; माल कैसा, कितना, कब, कहा बनेगा और कब, कहा, किस प्रकार, कितने मे बिकेगा; उस के लिए कैसे, कब और किस के द्वारा विज्ञापन किया जायगा, रेल, मोटर, गाडी आदि किस सवारी से, किस मंडी मे, कैसे भेजा जायगा आदि-आदि के संबंध मे सब बाते तय करना उत्पत्ति मे प्रबंध कहलाता है। किसी एक मनुष्य को इन

प्रबध

सब बातों का प्रबध करना पडता है। उसी को प्रबंधक कहते है। यद्यपि प्रबंध एक प्रकार से श्रम का ही एक विभाग है, तथापि आजकल के उत्पादन-कार्य में इस का महत्व इतना बढ़ गया है कि इसे एक स्वतंत्र और पृथक् साधन ही मान लिया गया है। प्रबंध द्वारा भूमि, श्रम, पूँजी के उपयोग का निरीक्षण और नियंत्रण किया जाता है।

साहस

आजकल के औद्योगिक जीवन के कारण यह जरूरी हो गया है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति के कारण होनेवाले लाभ-हानि के जोखिम की जिम्मेदारी लेने के लिए कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह तैयार हो। यह इस लिए कि उत्पत्ति तथा अतिम उपभोग के बीच मे बहुत लंबा अंतर पड जाता है, जो पहले नहीं था। और इस लंबे अतर के कारण यह जरूरी नहीं है कि जो भी वस्तु उत्पन्न की जाय वह ठीक दामों पर बिके ही और उस का अंतिम उपभोग किया ही जाय। अस्तु यदि वस्तु न बिकी या जितना खर्च उत्पन्न करने मे लगा है उस से बिक्री के दाम कम खडे हुए तो किसी न किसी को इस हानि का जोखिम उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए। जिस ने कारख़ाने के लिए भूमि दी है वह तो उस का किराया ले ही लेगा। जिन मजदूरो ने श्रम किया है वे अपना वेतन या मजदूरी लेगे ही। जिस की पूँजी लगी है उसे उस की पूँजी के लिए व्याज देना ही पडेगा। और जो प्रबंधक होगा वह भी प्रबंध के लिए अपना वेतन ले लेगा। अस्तु, अंत मे कोई एक ऐसा व्यक्ति या व्यक्ति-समूह (कंपनी आदि) ज़रूर ही होना चाहिए जो इस उत्पादन कार्य को चलाने का साहस करे और लाभ-हानि उठाने का जोखिम सहने को तैयार हो। आजकल इस का महत्व इतना बढ गया है कि उत्पत्ति के साधनो मे साहस या जोखिम का अपना पृथक्, स्वतंत्र और महत्वपूर्ण स्थान माना जाने लगा है।

अस्तु, भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबंध, साहस ये ही मुख्यत धनोत्पत्ति के पाँच साधन माने जाते है।

कभी-कभी बिक्री को स्वतंत्र और पृथक् साधन मानने के पक्ष मे ज़ोर दिया जाता है। प्रत्येक प्रकार की उत्पत्ति का अंतिम लक्ष उपभोग ही है। अस्तु, यह ज़रूरी है कि प्रत्येक प्रकार की वस्तु जो उत्पन्न की जाय अंत मे उपभोक्ता के पास पहुँचा दी जाय। उत्पत्ति के स्थान से वस्तु को उपभोक्ता के पास तक पहुँचाने मे भी उपयोगिता मे वृद्धि होती है। अस्तु, बिक्री की क्रिया भी उत्पत्ति में सम्मिलित है।

बिक्री

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उत्पत्ति के पॉच साधन घट कर केवल दो ही रह जाते है, यानी भूमि और श्रम। भूमि प्रकृति की देन है। मनुष्य के श्रम और प्रकृति की देन से जो वस्तु या वस्तुएं प्राप्त होती है उन्ही मे से कुछ उपभोग से बचा कर जब फिर आगे के उत्पादन मे सहायक के रूप मे काम मे लाई जाती है तो उन्हे पूॅजी कहते है। इस प्रकार श्रम और भूमि का संयुक्त फल ही पूॅजी है। अस्तु, पूॅजी का साधन के रूप मे स्वतंत्र अस्तित्व नही रह जाता। प्रबंध और साहस श्रम के विशेष रूप मात्र है। अस्तु, ये दो साधन भी श्रम मे समावेशित किए जा सकते है। इस प्रकार, इस दृष्टि से देखने पर, उत्पत्ति के केवल दो ही मुख्य साधन रह जाते है, भूमि और श्रम।

उत्पत्ति के साधन केवल दो

भूमि और श्रम मे भूमि निष्क्रिय है। वह बिना श्रम के किसी भी वस्तु को उपभोक्ता के पास नही पहुँचा सकती। एक अच्छे फल या मीठे जल को अंतिम उपभोग के लिए लेने मे कुछ न कुछ श्रम करना ही पडेगा। फल और जल के लेने और खाने-पीने के अंतिम उपभोग मे लाने के लिए श्रम करना पड़ेगा। अस्तु, उपयोगिता-वृद्धि के लिए श्रम अनिवार्य है। इस प्रकार श्रम (अथवा श्रम करनेवाला मनुष्य) ही अधिक महत्वपूर्ण ठहरता है। प्रत्येक दृष्टि से देखने पर यह मानना पड़ता है कि संसार मे उत्पत्ति तथा उपभोग का एकमात्र

श्रम की महत्ता

केंद्र मनुष्य ही है।

उत्पत्ति के साधन पाँच है, भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबंध, साहस। उत्पत्ति के लिए जिन व्यक्तियो से इन पाँचों साधनो की प्राप्ति होती है उन्हे उत्पत्ति के साधक कहते है। साधनो के अनुसार साधक भी निम्नलिखित पाँच ही होते है :—

उत्पत्ति के साधक

(१) भूमि जिस के कब्जे मे हो, भू-स्वामी (२) श्रम करनेवाला, श्रमजीवी या श्रमी (३) पूँजीवाला; पूँजीपति (४) प्रबंध करनेवाला, प्रबंधक; (५) साहस करने या जोखिम उठाने वाला, साहसी।

उत्पत्ति के प्रत्येक कार्य मे चाहे वह छोटा हो या बडा, ऊपर लिखे पाँच साधन और पाँच साधक जरूरी है। पर यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक कार्य में ये पाँच साधन तथा पाँच साधक स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् देख पडे। कभी तो प्रत्येक साधन के लिए अलग-अलग साधक स्वतंत्र रूप से रहेगे और कभी एक साधक का अनेक साधनो पर या सभी साधनो पर पूरा अधिकार होगा। अस्तु साधनों के पाँच रहते हुए भी साधक केवल दो-तीन ही होगे या कभी एक ही होगा।

कोई एक किसान अपनी भूमि मे अपने आप खेती करता है। उस के अपने हल, बैल, बीज आदि है, यानी उस की अपनी पूँजी है, जिस को वह अपनी खेती के काम मे लगाता है। इस का वह स्वयं ही प्रबंध कर लेता है कि कब, कैसा, कितना क्या, करना चाहिए। साथ ही उस खेती से होने वाले हानि-लाभ का वह ख़ुद ही जोखिम उठाता है। ऐसी दशा मे वह अकेला एक किसान ही भू-स्वामी, श्रमी, पूँजीपति, प्रबंधक तथा साहसी है। अस्तु, साधनो के पाँच रहते हुए भी साधक देखने मे केवल एक है।

इसी प्रकार एक लोहार अपने निज के घर मे कारख़ाना बना कर कीलें बनाता है। ख़ुद काम करता है। अपना लोहा और औजार अपने काम मे लाता है। ख़ुद ही सारे काम का प्रबंध करता है। और उस काम से होने

वाले जोखिम को ख़ुद ही उठाता है। ऐसी दशा में वह स्वयं ही सभी साधनों का स्वामी होने से एक अकेला साधक है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि यह ज़रूरी नही है कि प्रत्येक काम में साधक पाँच ही देख पडे। किंतु आजकल के औद्योगिक जीवन और बड़े पैमाने के उत्पादन-कार्य मे यह संभव नही है कि एक ही व्यक्ति सभी साधनों पर पूरा कब्जा रख सके। प्राय. देखा जाता है कि कारख़ाने की भूमि का स्वामी एक होता है, जिसे किराया दिया जाता है। काम करनेवाले श्रमी अनेक होते है, जो मजदूरी पाते है। पूँजी किसी दूसरे की लगी रहती है, जिस के लिए व्याज देना पडता है। प्रबंध के लिए और ही मनुष्य रहते है जो प्रबंध के कार्य के लिए वेतन पाते है। तथा उत्पादन-कार्य से होने वाले हानि-लाभ के जोखिम का ज़िम्मा दूसरे ही व्यक्ति उठाते है जो साहसी होने के कारण लाभ उठाते हैं।

इस प्रकार वर्तमान औद्योगिक युग मे साधनो, साधकों और उन को मिलनेवाली उजरत का विवरण इस प्रकार है :—

साधन		साधक		उजरत
(१) भूमि	...	भू-स्वामी	.	किराया या लगान
(२) श्रम	...	श्रमी	...	मजदूरी
(३) पूँजी	...	पूँजीपति	...	व्याज
(४) प्रबंध	..	प्रबंधक	...	वेतन
(५) साहस (जोखिम)		साहसी	. .	लाभ (हानि)

आगे के अध्यायों मे भूमि, श्रम आदि साधनों के संबंध में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया जायगा।

अध्याय ७

भूमि

भूमि प्रकृति की देन है। अर्थशास्त्र मे भूमि में वे सब वस्तुएं समावेशित हो जाती है जो मनुष्य के श्रम के कारण उत्पन्न न की गई हो और जो धनोत्पत्ति के काम मे जरूरी हो। समुद्र, नदी, झील, तालाब, झरने, वन, पर्वत, मैदान, खान, उपत्यका तथा इन सब मे पाए जानेवाले पदार्थ, वनस्पतिया, जीव-जतु आदि और साथ ही धूप, प्रकाश, गर्मी, सर्दी, वर्षा, जलवायु, ऋतु आदि सभी भूमि के अंतर्गत आ जाते है। किंतु ये वस्तुएं तभी भूमि मानी जायेंगी जब कि इन की उत्पत्ति मे मनुष्य के श्रम का कोई भी अंश न लगा हो।

भूमि किसे कहते हैं?

मनुष्य न तो किसी पदार्थ को नए सिरे से पैदा ही कर सकता और न नष्ट ही। वह पदार्थ के क्रम, रूप आदि मे इस प्रकार परिवर्तन कर सकता है कि उस की उपयोगिता बढ (या घट) जाय। जिन उपयोगिताओ को मनुष्य उत्पन्न करता है यदि उन की मॉग बढ जाय तो वह उन्हे अधिक अधिक परिमाण मे उत्पन्न करने लगे और उन की पूर्ति भी बढ जाय। किंतु कुछ ऐसी उपयोगिताएं है जिन के बढाने-घटाने मे मनुष्य का कोई वश नही चलता। ये उपयोगिताएं एक निश्चित मात्रा मे प्रकृति द्वारा दी जा चुकी है। इन उपयोगिताओ के स्थायी कारण को ही अर्थशास्त्र मे भूमि कहते है। इस मे स्थान, भौगोलिक स्थिति, जलवायु, जलशक्ति, वायुशक्ति, सूर्य का प्रकाश, वर्षा, ऋतु-परिवर्तन, समुद्र, झील, नदी, वन, पर्वत, मैदान, आदि सभी शामिल है।

भूमि मे ऐसी कौन सी विशेषताएं है जिन से वह उन वस्तुओं से

भिन्न की जा सके जो मनुष्य के परिश्रम से उत्पन्न होती है? भूमि की ये विशेषताएं हैं उस की परिमितता, अक्षयता, निष्क्रियता, उर्वरता, स्थिरता, आधार और उस के उत्पादक व्यय (लागत खर्च) का न होना, क्योंकि वह प्रकृति की देन है।

भूमि के लक्षण

भूमिका सब से मुख्य गुण है मनुष्य को रहने और काम करने के लिए स्थान और आधार देना। प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ स्थान की आवश्यकता पड़ती है। बिना स्थान के वह कुछ भी काम नहीं कर सकता। प्रत्येक स्थान के साथ ही मनुष्य को वायु, प्रकाश, गर्मी, वर्षा, ऋतु आदि के उपभोग का अवसर प्राप्त होता है जो प्रकृति द्वारा उस स्थान के लिए नियत कर दिया जाता है। इस के अलावा प्रत्येक स्थान के साथ ही दूरी का सवाल लगा हुआ रहता। इस कारण एक खास स्थान पर रहने से मनुष्य के लिए अन्य वस्तुओं और मनुष्यों के साथ दूरी तथा अन्य अनेक प्रकार के संबंधों के प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं।

आधार-स्थानत्व

भूमि का परिमाण निश्चित और परिमित है। वह घटाया-बढ़ाया

डेनमार्क देश मे बहुत-सी भूमि इस प्रकार समुद्र के भीतर से निकाल कर काम मे लाई जा रही है। साथ ही दलदलों को सुखा कर, रेगिस्तानों को सींच कर, पहाडों को काट कर भी बहुत-सी भूमि प्राप्त कर ली जाती है। पर कुल भूमि के मुकाबिले मे इस प्रकार से प्राप्त भूमि का परिमाण अनुपात मे इतना कम बैठता है कि उस का कुल भूमि पर कोई विशेष प्रभाव नही पड सकता। अस्तु, आम तौर पर यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही आती कि भूमि परिमित है।

अक्षयता

भूमि का तल (स्तर या सतह) अक्षय है। वह नष्ट नही होता, सदा बना रहता है। भूमि वैसी ही बनी रहती है। बाढ, भूकंप आदि से कभी-कभी भूमि का कोई एक भाग कुछ का कुछ हो जाता है, जल के स्थान पर स्थल और स्थल की जगह जल हो जाता है। पर कुल भूमि के खयाल से यह सब परिवर्तन बहुत ही नगण्य होते है। असल मे भूमि के तल का क्षय नही होता। मनुष्य के श्रम के कारण उत्पन्न सभी वस्तुएं नष्ट हो जाती है। पर भूमि नष्ट नही होती।

भूमि की उर्वरा शक्ति फसलो आदि द्वारा नष्ट होती और खाद आदि द्वारा फिर पूरी होती रहती है। इस दृष्टि से भूमि अक्षय न ठहरेगी, क्योंकि उस की उर्वरा शक्ति नष्ट हो सकती है। पर अक्षयता उस के तल का गुण है, उर्वरता नही।

स्थिरता

मनुष्य या मनुष्य के परिश्रम से उत्पन्न बहुत-सी वस्तुएं एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ-जा सकती है। वे चर है। पर भूमि स्थिर है। वह जहा है वही रहेगी। उस की जगह नही बदली जा सकती। भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान मे नही ले जाया जा सकता।

निष्क्रियता

धन की उत्पत्ति मे भूमि एक ऐसा साधन है जिस के बिना काम ही नही चल सकता। पर वह स्वयं कुछ नही कर सकती। मनुष्य श्रम द्वारा उस से धनोत्पत्ति मे सहा-

यता ले लेता है। मनुष्य सक्रिय है, ख़ुद काम कर सकता है। भूमि निष्क्रिय है, ख़ुद कुछ नही कर सकती। पर भूमि के बिना, स्थान और आधार के बिना उत्पत्ति का कोई भी काम नही चल सकता।

उर्वरता

भूमि मे वह शक्ति है जिस के द्वारा वह पेड-पौधों, वनस्पतियों को अपने मे स्थिर रख कर खूराक देती और बढाती तथा जीवित रखती है। पेड-पौधे उस से अपनी ख़ूराक पा-कर जीवित रहते और फलते-फूलते है। मनुष्य को अपने लिए सारे पदार्थ पृथ्वी ही से प्राप्त होते है। फल-मूल, शाक-पात, अन्न-औषधियां, लकडी, खनिज धातु, जल आदि सभी भूमि ही से मिलते है।

मनुष्य फसले बोकर भूमि के एक भाग की उर्वरता को नष्ट कर सकता है। पर परती छोड देने पर प्राकृतिक रूप से वह भू-भाग फिर अपनी उर्वरता प्राप्त कर लेता है। कभी-कभी उर्वरता इतनी नष्ट हो जाती है कि वह साधारण रीति से परती छोडने पर भी जल्दी पूरी नही हो सकती। ऐसी दशा मे मनुष्य खाद आदि द्वारा उसे फिर पहले ही की तरह या उस से भी अधिक उर्वर बना सकता है। कभी-कभी वह प्राकृत रूप से अनुर्वर अथवा कम उर्वर भूमि के भाग को खाद आदि द्वारा बहुत अधिक उर्वर बना लेता है।

भूमि की उर्वरा शक्ति को मनुष्य बहुत कुछ घटा-बढा सकता है। एक प्रकार से देखा जाय तो संसार के पुराने देशों की भूमि की उर्वरा शक्ति मनुष्य के श्रम का ही फल है। खान आदि की उर्वरा शक्ति को मनुष्य बहुत नही बढा सकता।

भूमि का उत्पादन नहीं होता

मनुष्य के श्रम के कारण जो पदार्थ उत्पन्न होते है उन मे कुछ न कुछ तो लागत ख़र्च ज़रूर ही लगता है। पर भूमि प्रकृति की देन है। उस के उत्पादन मे कुछ भी लागत खर्च नही पडता, क्योंकि मनुष्य को प्राकृतिक भूमि क उत्पन्न करने के लिए कुछ भी श्रम नहीं करना पडता। पर यह नियम

प्रारंभिक स्थिति के लिए ही लागू होगा। जब एक बार किसी भू-भाग पर किसी मनुष्य का कब्जा हो जाता है तो वह उस के उपयोग के लिए दूसरे से कुछ न कुछ उजरत लेता ही है। इसी को भूमि का लगान या किराया कहते है। यदि कोई उस भूमि के अधिकार को लेना चाहे तो उसे उस की कीमत देनी पडेगी। कब्जे मे आने पर भूमि को सुधारने, अधिक उपजाऊ या लाभदायक बनाने के लिए मनुष्य को श्रम और पूंजी लगानी पडती है। ऐसी दशा मे जो भूमि प्राप्त होती है वह असल मे प्रकृति की स्वतंत्र देन, असली भूमि न रह कर पूंजी का एक रूपातर मात्र रहती है। आज-कल जो भी भूमि खेती आदि के काम मे आती है उस मे मनुष्य का श्रम तथा पूंजी भी शामिल है। वैसे भी प्राकृतिक भूमि को काम मे लाने योग्य बनाने के लिए मनुष्य को श्रम करना और पूंजी लगानी पडती है। जगलो, पहाडो को काट कर भूमि को समतल, चौरस बनने और गड्ढे आदि पाट कर बराबर करने आदि मे श्रम तथा पूंजी लगानी पडती है।

भूमि के गुण

भूमि की उपयोगिता उस के (१) आतरिक गुणो और (२) बाह्य परिस्थिति के कारण होती है। आभ्यतरिक गुणो मे वे सब बाते सम्मिलित है जिन के कारण भूमि उपजाऊ होती है। बाह्य परिस्थिति उन सब कारणो पर निर्भर है जिन के कारण कोई एक भू-भाग बस्ती के पास, मंडी के करीब, रेल या सडक के किनारे हो ताकि आसानी और जल्दी से वहा से दूसरे स्थानो पर पहुंचाया जा सके।

खेती और खान के लिए भूमि का उपजाऊ होना बहुत ज़रूरी है। यदि भूमि उपजाऊ न हो, उस मे पेड-पौधे जम और पनप न सके, मिट्टी इतनी मुलायम न हो कि उन की जडे नीचे तक जाकर अपनी खूराक ले सके और जीवित रह सके, अथवा मिट्टी इतनी अधिक मुलायम हो कि जडे ठीक से पेड को खडा न रख सके, तो भूमि उपजाऊ न मानी जायगी। उस भू-भाग मे जल आदि का भी इतना होना ज़रूरी है कि

पेड़-पौधे सूख न जायँ। पर इतना अधिक भी न हो कि वे सड़ जायँ। साथ ही वह समतल और ऐसी होनी चाहिए कि यथेष्ठ धूप, ताप, वर्षा प्राप्त होती रहे। फिर उसे ऐसे स्थान मे होना जरूरी है कि वहां से बस्ती, मंडी, सडक आदि इतनी दूर न हो कि खाद, बीज आदि लाने और फसल काट कर ले जाने मे अडचन पडे, नहर आदि पास हों ताकि सिचाई ठीक वक्त से हो सके और ऐसे स्थान मे न हो कि जंगली जानवरों, लुटेरों से रक्षा न की जा सके। वह उपजाऊ होने के साथ ही मौक़े पर भी हो।

इसी प्रकार खान की भूमि उपजाऊ हो ताकि खनिज पदार्थ ठीक परिमाण मे निकलते रहे। पर साथ ही ऐसे स्थान पर हो कि श्रमियों, मशीनों आदि को ले जाने तथा खनिज पदार्थों को मंडी मे ले जाने मे अडचन न पड़े। यदि खान मे खनिज पदार्थ बहुत हों पर उन के मंडी मे ले जाने मे इतना ख़र्च पड़े कि बेचने पर लागत के दाम भी न उठे तो खनिज पदार्थ निकालने वाले को हानि होगी, खान न चलेगी।

उद्योग-धंधों, कल-कारख़ानो तथा व्यापारिक कामो के लिए जो भूमि लगती है उस की उर्वरा शक्ति का कोई विशेष उपयोग नही रहता। ऐसे कामों के लिए तो बाह्य स्थिति ही सब कुछ होती है। स्थान ऐसा होना चाहिए जहां श्रमी, पूँजी, कच्चा माल आदि आसानी से मिल सके और तैयार माल मंडी मे, बाजारो मे, उपभोक्ताओ के पास आसानी से भेजा जा सके।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि खेती मे उर्वरा शक्ति बहुत महत्व की होती है। पर बाह्य परिस्थितियों का भी काफी महत्व रहता है। खान के लिए दोनों गुणों का करीब-करीब बराबर ही महत्व रहता है, हालां कि खान का उर्वरा होना अधिक जरूरी है। कल-कारखानो और व्यापारिक कामों के संबंध मे केवल बाह्य परिस्थिति ही सब कुछ है। उर्वरा शक्ति से उस का कोई भी संबंध नहीं रहता।

अध्याय ८

श्रम—उस के भेद और लक्षण

श्रम क्या है ?

मनुष्य के वे सभी मानसिक और शारीरिक प्रयत्न और कार्य जो वह मनोरंजन के लिए न करके धनोपार्जन के उद्देश्य से करता है, श्रम कहलाते हैं।

श्रम मे उद्देश्य मुख्य है। धनोपार्जन के लिए किए गए प्रयत्न में भी मनोरंजन होना संभव है, और होता ही है। पर जो भी काम धनोपार्जन के उद्देश्य को सामने रख कर किया जायगा, उस से काम करने वाले का मनोरंजन होने पर भी वह काम श्रम कहलाएगा। एक गायक किसी को गाना सुनाता है, फ़ुटबाल का या शतरंज का एक खिलाडी खेलता है। इन कामो में प्रत्येक को कुछ न कुछ आनंद आता ही है, अपने-अपने काम से प्रत्येक का मनोरंजन होता है। पर यदि रुपए पैदा करने के लिए वे काम किए जायँगे तो प्रत्येक का काम श्रम माना जायगा। इस के विपरीत यदि ये ही काम रुपए पैदा करने के खयाल से न करके केवल मन-बहलाव या आनंद के लिए किए जायँ तो ये श्रम न माने जायँगे, चाहे उन मे कितनी ही मेहनत क्यों न पडे। कुश्ती लडने, दौड लगाने, नाल उठाने, फ़ुटबाल खेलने, घोडा दौडाने मे बहुत मेहनत पडती है। पर यदि इन मे से कोई भी काम धनोपार्जन के उद्देश्य से न करके केवल मनोरंजन के लिए किया जायगा तो अर्थशास्त्र मे वह श्रम न माना जायगा। श्रम के लिए यह जरूरी है कि वह धनोपार्जन के उद्देश्य से किया जाय। श्रम के संबंध मे दो बाते जान लेना जरूरी है। एक तो यह कि रुपए पैदा करने के उद्देश्य से जो काम किया जाता है उस मे उस समय भी लगा रहना पडता है जब कि उस काम से आनंद न आकर वह कुछ कष्ट-साध्य, दु:ख-जनक जान पडने लगता है, और मन होता है, कि उसे बंद कर दे।

मनुष्य उसे कष्टदायक होने पर भी इसी लिए जारी रखता है कि उस के बदले मे उसे रुपए की प्राप्ति होती है। मनोरंजन के लिए जो भी काम किया जायगा उस से जब मन-बहलाव न हो कर कष्ट होने लगेगा तो वह फ़ौरन ही बंद कर दिया जायगा।

श्रम के संबंध मे दूसरी बात यह है कि वह मनुष्य के द्वारा ही किया गया हो। जो काम पशुओं अथवा मशीनों के जरिये किया जाता है वह श्रम मे शामिल नही किया जाता। रुपए के लिए किया गया केवल मनुष्य का काम ही श्रम माना जाता है। पशुओं और मशीनों के द्वारा जो काम होता है उस की गिनती श्रम मे नही होती क्योंकि पशुओं और मशीनों की गिनती पूँजी मे की जाती है। वह इस लिए कि मनुष्य के श्रम से जो वस्तुएं उत्पन्न होती है उन्हे उपभोग से बचा कर पशुओ और मशीनों के प्राप्त करने मे लगाया जाता है। अस्तु पशुओ और मशीनों के काम को श्रम नही माना जाता। केवल मनुष्य के उस काम की गिनती श्रम में होती है जिस से धनोपार्जन हो।

मानसिक तथा शारीरिक श्रम

कुछ मनुष्य मुख्यतः अपने शरीर से काम करते है, जैसे किसान, मज़दूर, कारीगर, बढई, लुहार, आदि। कुछ मनुष्य मुख्यतः अपने मस्तिष्क से काम करते है जैसे वकील, डाक्टर, अध्यापक, कवि आदि। कुछ ऐसे है जो साथ ही साथ दोनों ही तरह से काम करते है जैसे कुशल कारीगर, शिल्पी आदि। अर्थशास्त्र मे मानसिक तथा शारीरिक दोनो ही तरह के काम की गिनती श्रम मे होती है और मानसिक तथा शारीरिक श्रम करने वाले दोनों ही श्रमजीवी या श्रमी कहलाते है।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम

प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रम करता है। जिस श्रम से धनोत्पत्ति अथवा किसी वस्तु की उपयोगिता मे वृद्धि हो उसे उत्पादक श्रम कहते हैं। वही श्रम अनुत्पादक होगा जिस ने किसी वस्तु की

उपयोगिता मे वृद्धि न हो, जिस मे धनोत्पत्ति न हो सके। श्रम से उपयोगिता की उत्पत्ति अथवा वृद्धि होती है। अस्तु, जिस श्रम से किसी वस्तु मे उपयोगिता उत्पन्न हो सके अथवा उस वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि हो सके उसे उत्पादक श्रम कहते है। जिस श्रम से किसी प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न न हो या उपयोगिता मे वृद्धि न हो उसे अनुत्पादक श्रम कहते है। इस का अर्थ यह है कि जो श्रम व्यर्थ गया हो वह अनुत्पादक श्रम कहलाता है।

एक मनुष्य एक मकान बनाना शुरू करता है, किंतु मकान बन कर पूरे होने के पहले ही वह अपना विचार बदल देता है और उस मकान का बनाना बंद कर देता है। जो श्रम उस मकान के बनाने मे लगा वह व्यर्थ गया। अस्तु इस प्रकार का श्रम अनुत्पादक श्रम होगा।

एक मनुष्य बड़ी मेहनत से एक मशीन तैयार करता है। पर मशीन के तैयार होने पर न तो कोई उसे खरीदने के लिए तैयार होता और न उस का कुछ उपयोग ही होता। अस्तु मशीन पर किया गया श्रम अनुत्पादक श्रम कहलाएगा।

एक ही तरह का काम एक साथ किए जाने पर भी भिन्न-भिन्न मनुष्यो के लिए भिन्न-भिन्न होगा। दो मनुष्य एक साथ कुछ दर्शनीय स्थानो को देखने जाते है। एक मनोरंजन के लिए दूसरा उस के पथ-प्रदर्शक के रूप मे। पथ-प्रदर्शक को स्थानो के देखने के कारण पहला मनुष्य कुछ मजदूरी देता है। अस्तु वही काम पथ-प्रदर्शक के लिए उत्पादक श्रम हुआ क्योंकि उसे उस से धन प्राप्ति होती है। मनोरंजन के लिए गए हुए आदमी के लिए वही काम अनुत्पादक श्रम ठहरता है क्योकि उसे उस से कुछ धन-प्राप्ति नहीं होती। पर यदि वह उसी का वर्णन लिख कर कुछ धन पैदा कर लेता है तो बाद मे उस के लिए भी वह कार्य उत्पादक श्रम होगा।

पूर्वकाल के पश्चमीय अर्थशास्त्री उत्पादक श्रम को बहुत ही सकुचित अर्थ मे लेते थे। उत्पादक श्रम के व्यापक अर्थ का क्रम-विकास

इस प्रकार है:—

(१) पहले केवल खेती-बारी, शिकार तथा मछली मारना, खान से वस्तुएं निकालना ही उत्पादक श्रम माना जाता था क्योंकि उस समय के अर्थशास्त्रियों के मत मे केवल इन्ही कामों मे प्रकृति मनुष्य की सहायता करती थी, और इन्हीं कामों से पदार्थों की उपयोगिता मे वृद्धि होती थी। उद्योग-धंधे, तैयार माल बनाने, व्यापार-व्यवसाय आदि के काम बिल्कुल अनुत्पादक श्रम माने जाते थे।

(२) बाद में कारखानों, उद्योग-धंधों द्वारा माल की तैयारी भी उत्पादक श्रम मे शामिल कर ली गई, क्योंकि लोग मानने लगे कि उद्योग-धंधों से भी वस्तुओं की उपयोगिता मे वृद्धि होती है।

(३) बाद मे भारबरदारी, आयात-निर्यात आदि भी उत्पादक श्रम मे शामिल कर लिए गए क्योंकि यह माना जाने लगा कि वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले आने व ले जाने से भी उन की उपयोगिता मे वृद्धि हो जाती है।

(४) वर्तमान समय मे वह सभी श्रम उत्पादक माना जाता है जिस से किसी भी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि हो। अब डाक्टरों, बैरिस्टरों, न्यायाधीशो, घरेलू नौकरो, व्यापारियो, इंजीनियरों, मास्टरों, पुलिस और फौजवालों, व्यवसायियो, गायको, ऐक्टरो, उद्योग-धंधेवालो आदि सभी का श्रम उत्पादक श्रम माना जाता है।

उत्पादक श्रम के मुख्यत: दो भेद होते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। जिस काम से किसी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि प्रत्यक्ष रूप मे हो (किसी वस्तु का अंतिम रूप तैयार हो) उसे प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम कहते हैं। एक आदमी कपड़े से कुरता तैयार करता है। यह श्रम प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम होगा क्योंकि उस से कपड़े का कुरता तैयार होता है जो एक उपयोगी वस्तु का अंतिम रूप है। इस के पहले रुई से सूत तैयार किया गया था,

उत्पादक श्रम—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष

और सूत से कपड़ा बुनकर तैयार हुआ था। सूत कातने और कपड़ा बुनने मे जो श्रम पड़ा वह भी उत्पादक श्रम है। पर कुर्ते के ख़याल से वह परोक्ष उत्पादक श्रम है, क्योंकि वह उस के पूर्व-रूप को बनाने यानी सूत और कपड़े के तैयार करने मे लगा है।

व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से

कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक श्रम माने जाते है पर सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक ठहरते है। एक मनुष्य ठग कर, चोरी करके या धोखा देकर या जालसाज़ी कर के या आतिशबाजी की वस्तुएं बना कर धन प्राप्त करता है। उस व्यक्ति की दृष्टि से उस का कार्य उत्पादक ठहरता है। पर सामाजिक दृष्टि से इस प्रकार के कार्य अनुत्पादक श्रम माने जाते है, क्योंकि समाज को उन से कोई लाभ नहीं होता, किसी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि नहीं होती।

कुछ ऐसे भी काम है जो व्यक्तिगत दृष्टि से अनुत्पादक होकर भी सामाजिक दृष्टि से उत्पादक होते है। एक मनुष्य चिकित्सा, उपदेश, शिक्षा, गायन द्वारा दूसरो को लाभ पहुँचाता है, पर अपने काम के बदले मे लेता कुछ नहीं। अस्तु, उसे उस श्रम से कुछ भी धन नहीं प्राप्त होता। पर समाज के अन्य व्यक्तियो को बड़ा लाभ होता है। ऐसी दशा मे व्यक्तिगत दृष्टि से उस का कार्य अनुत्पादक श्रम ठहरता है, पर सामाजिक दृष्टि से उत्पादक श्रम माना जाता है।

श्रम के लक्षण

श्रम के मुख्य लक्षण है, सक्रियता, नाशमानता, गतिशीलता (परिवर्तनशीलता), श्रमी से पृथक् न हो सकना, अभिभावक या माता-पिता पर बहुत कुछ उपयोगिता तथा कुशलता का निर्भर रहना।

सक्रियता

उत्पत्ति के साधनो मे श्रम ही सक्रिय है। भूमि तो बिल्कुल निष्क्रिय है, वह अपने से कुछ भी नहीं कर सकती। और पूँजी श्रम पर निर्भर है। एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण है।

भूमि और पूँजी तो केवल उत्पत्ति मे सहायक होकर उपयोगिता का उत्पादन या वृद्धि मात्र करती है। श्रम उत्पत्ति करनेवाला भी है और साथ ही उत्पन्न वस्तुओं, उपयोगिताओं का उपभोग करनेवाला भी है। असल मे श्रमी के उपभोग के लिए ही उत्पत्ति की जाती है। वह उत्पादक भी है और उपभोक्ता भी। उसी की सक्रियता पर उत्पत्ति निर्भर है। विना उस के न तो भूमि ही उत्पत्ति कर सकती न पूँजी ही कुछ पैदा कर सकती।

नाशमानता

जिस क्षण श्रम का प्रादुर्भाव होता है उसी क्षण भर मे वह नष्ट भी हो जाता है। वह दूसरी बार काम मे नहीं लाया जा सकता। भूमि और स्थायी पूंजी से अनेक बार काम लिया जा सकता है, वे अधिक काल तक संचित की जा सकती हैं। पर श्रम इस प्रकार संचित करके नहीं रक्खा जा सकता। एक मनुष्य यदि एक दिन काम न करे तो दूसरे दिन वह दूना काम नहीं कर सकता। श्रमी का जितना समय बीतता जाता है उतना ही उस के श्रम का ह्रास होता जाता है जो फिर कभी भी पूरा नहीं किया जा सकता।

गतिशीलता

भूमि एकदम स्थिर है। कुछ पूँजी भी स्थिर होती है। अन्य तरह की पूँजी तभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकती है जब श्रम उस मे सहायक हो। केवल श्रम ही एक ऐसा साधन है जो गतिमान है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को और एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे जा-आ सकता है।

श्रम की गतिशीलता दो तरह की होती है :—(१) स्थान-परिवर्तन। (२) व्यवसाय-परिवर्तन।

स्थान-परिवर्तन

आवश्यकता पड़ने पर श्रमजीवी एक स्थान से जाकर दूसरे स्थान पर काम करते हैं। जिस स्थान पर श्रम की माग अधिक होगी उस स्थान पर मजदूरी ज्यादा दी जायगी, अस्तु ऐसे स्थानो से जहां श्रम की मांग कम होने से मजदूरी कम होती है श्रमजीवी उस स्थान को जाते हैं जहां मांग अधिक होने से मजदूरी

ज़्यादा दी जाती है। पर अनेक कारणो से स्थान परिवर्तन में रुकावट पडती है। कुटुंबियों, घर-बार, देश-स्थान का प्रेम, दूसरे स्थान पर जाने का खर्च और रास्ते की कठिनाइयां, नए स्थान के आचार-व्यवहार, धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक वातावरण का भिन्न होना और अनुकूल न होना, भाषा का न जानना, अनजान मनुष्यों मे रहने की कठिनाइयां, आवागमन के साधनों की कठिनाइया आदि स्थान-परिवर्तन में बाधक होते है।

व्यवसाय-परिवर्तन

श्रमजीवी अपने व्यवसाय को छोड कर दूसरे व्यवसाय को करने लगता है। इस व्यवसाय-परिवर्तन संबंधी श्रम को गतिशील कहते है। एक लोहार अपना काम छोड कर बढई या कपोजिटर का काम करने लगे तो कहा जायगा कि उस ने व्यवसाय-परिवर्तन किया। प्राय एक व्यवसाय मे लगे हुए व्यक्ति की संतान उसी व्यवसाय के लिए आसानी से तैयार होती है। पर ऐसा भी होता है कि श्रमी के मातापिता अथवा अभिभावक उसे किसी दूसरे ही कार्य की शिक्षा दे-दिला कर दूसरे व्यवसाय के लिए तैयार करें। ऐसा भी होता है कि एक व्यवसाय मे आवश्यकता मे अधिक श्रमियों के आ जाने अथवा उस व्यवसाय से उत्पन्न होनेवाली वस्तु की मॉग मे कमी पडने के कारण उस व्यवसाय मे प्राप्त होनेवाली मज़दूरी की दर कम हो जाती है, और संघर्ष बढ जाने के कारण कम लोगो को काम मिल सकता है। ऐसी दशा मे कुछ श्रमी विवश हो कर ख़ुद ही उस व्यवसाय को छोड कर किसी ऐसे दूसरे व्यवसाय मे जाने का प्रयत्न करेंगे जिस मे मज़दूरी ज्यादा मिलती होगी और काम कुछ आसानी से मिलता होगा।

पर यह परिवर्तन उन्ही श्रमियो के लिए अधिक सुविधाजनक और हितकर होगा जिन के काम मे योग्यता और कुशलता की अधिक ज़रूरत न पडती होगी क्योंकि कुशल श्रमियो को अपने पहले व्यवसाय मे

कुशलता और योग्यता प्राप्त करने के लिए जो समय, व्यय, मेहनत लगानी पड़ती है, वह नए व्यवसाय मे व्यर्थ जायगी और नए व्यवसाय के लिए कुशलता और योग्यता प्राप्त करने के लिए नए सिर से समय, व्यय मेहनत की ज़रूरत पड़ेगी। इस कारण व्यावसायिक परिवर्तन उन्ही श्रमियों के लिए अधिक संभव होता है जिन की कुशलता-योग्यता अपेक्षाकृत कम होती है या जिन व्यवसायों मे कम योग्यता तथा कुशलता की आवश्यकता पड़ती है।

स्थान तथा व्यवसाय की गतिशीलता

स्थान तथा व्यवसाय की गतिशीलता एक साथ भी हो सकती है और अलग-अलग भी। कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाकर अपने पुराने व्यवसाय मे न लग कर दूसरे नए व्यवसाय मे भी काम कर सकता है। इस प्रकार दोनों प्रकार की गतिशीलता एक साथ ही होगी। यदि वह अपने स्थान मे रह कर किसी दूसरे व्यवसाय मे लग जाय अथवा दूसरे स्थान मे जाकर अपने पहले वाले व्यवसाय ही मे लगे तो गतिशीलता एक ही प्रकार की होगी।

एक व्यवसाय से बराबर वाले दूसरे व्यवसाय मे जाने को समान गतिशीलता कहते है, जैसे एक बढई अपना काम छोड कर लोहार का या सोनार का काम करने लगे। एक ही व्यवसाय मे नीचे दर्जे के काम से उन्नति करते हुए उसी व्यवसाय मे ऊँचे दर्जे का काम करने लगने पर जो परिवर्तन होगा वह उन्नतिमूलक गतिशीलता कहलाता है। जैसे एक ईंटा-गारा देने वाला मजदूर राज का काम सीख कर राज का काम करने लगे और बाद मे इसी प्रकार धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ ओवरसियर या इंजीनियर हो जाय।

श्रम का श्रमी से अलग न हो सकना

भूमि और पूँजी भू-स्वामी तथा पूँजीपति से अलग की जा सकती है। यदि भू-स्वामी या पूँजीपति चाहे तो अपनी भूमि या पूँजी किसी भी दूसरे व्यक्ति को दे सकता है। पर श्रमी से श्रम अलग नहीं किया जा सकता। यदि कोई मनुष्य

श्रम करने के लिए तैयार है तो उसे खुद जाकर श्रम करना पडेगा। श्रम और श्रमी एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। इस कारण श्रमी को इस बात का विचार करना पडता है कि जो काम करना है जिस स्थान पर, जिन अन्य मनुष्यो के साथ, जिस के लिए काम करना है वे सब कैसे है, उस स्थान का जलवायु, परिस्थिति आदि कैसी है, वहां का रहन-सहन, आचार-व्यवहार कैसे है। क्योंकि उस सब का प्रभाव श्रमी पर पडता है।

श्रमी की योग्यता-कुशलता

श्रमी की योग्यता-कुशलता बहुत कुछ उस को तैयार करनेवाले अभिभावक, संरक्षक, माता-पिता आदि की संपन्नता, दूरदर्शिता, विचार, प्रकृति, योग्यता, उदारता आदि पर निर्भर रहती है। यदि संरक्षक उदार, शिक्षित, संपन्न, दूरदर्शी हुए तो श्रमी को अच्छी शिक्षा दिला कर बहुत योग्य और कुशल बना सकते है। कभी-कभी श्रमी ख़ुद अपनी योग्यता-कुशलता बढाने के लिए प्रयत्न करता है। परंतु अधिकाश मे ऐसा बहुत कम कर सकते है। एक ख़ास बात यह है कि श्रमी के शिक्षण आदि मे जो व्यय किया जाता है वह सदा के लिए उस मे लग जाता है और बहुत ही धीरे-धीरे निकलता है। वह पूँजी या भूमि की तरह न तो रेहन रक्खा जा सकता है न बेचा ही जा सकता है।

अस्तु जो व्यक्ति अपने से भिन्न किसी और व्यक्ति की (चाहे वह उस का अपना सगा ही क्यो न हो) योग्यता तथा कुशलता बढाने मे सहायता, व्यय आदि करता और योग देता है उसे उस कार्य का आमतौर पर उचित और जल्दी प्रतिफल नही मिला करता।

किसी देश मे श्रम की पूर्ति नीचे लिखी दो बातो पर निर्भर रहती है —

श्रम की पूर्ति

(१) श्रमियो की संख्या; (२) श्रमियो की योग्यता।

श्रमियों की संख्या देश की जन-संख्या पर निर्भर रहती है। देश की जन-संख्या (१) नैसर्गिक वृद्धि—जन्म-संख्या के मृत्यु-संख्या से अधिक होने—पर और (२) आवास-प्रवास पर निर्भर रहती है।

नैसर्गिक वृद्धि (१) जलवायु (२) सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक कारणों (३) रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर रहती है।

श्रमियों की योग्यता-कुशलता (१) उन की शारीरिक, मानसिक, नैतिक शक्ति और स्वास्थ्य पर तथा (२) संगठन पर निर्भर है।

इन का सविस्तर वर्णन आगे के अध्यायों में किया गया है।

अध्याय ९

श्रमियों की संख्या और देश की जनसंख्या

उत्पत्ति के प्रमुख साधन श्रम और भूमि दो ही है। इन में से भूमि निष्क्रिय है। श्रम यानी मनुष्य उत्पत्ति का प्रमुख साधन भी है और साथ ही सारी उत्पत्ति उसी के उपभोग के लिए ही की जाती है, क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही सब वस्तुओ की उत्पत्ति की जाती है।

धनोत्पादन मे मनुष्य की महत्ता समझने के लिए इस बात के अध्ययन की आवश्यकता पडती है कि जनता की संख्या-शक्ति क्या है। और उस उत्पत्ति के अन्य सभी साधनो और बातो के समान रहने पर जिस देश मे श्रमियों की संख्या अधिक होगी उस देश मे धनोत्पादन अधिक होगा।

जनसख्या-सबधी सिद्धात

बहुत प्राचीन काल ही से प्रत्येक देश के सामने जन-संख्या का सवाल किसी न किसी रूप मे तो अवश्य ही रहा है। युद्ध के समय जन-संख्या का महत्व बहुत अधिक हो जाता है, क्योंकि जितनी ही अधिक जन-संख्या होगी उतनी ही आसानी से बडी से बडी सेना युद्ध के लिए तैयार की जा सकेगी। किंतु यदि किसी देश मे खाद्य सामग्री कम होगी तो उस देश के लिए जन-संख्या की वृद्धि चिंताजनक होगी। अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थितियो के बदलने पर जन-संख्या संबंधी प्रश्न बदलते रहते है।

१७९८ ई० मे इंगलैड के पादरी माल्थस ने "जन-संख्या के सिद्धांत

जन-संख्या की वृद्धि रोक के नैसर्गिक उपाय प्रकृति द्वारा काम में लाए जाते हैं। नैसर्गिक उपाय ये हैं :—बच्चों की बहुत अधिक मृत्यु होना, प्लेग, हैजा, इन्फ्लुएंजा, चेचक, बेरी-बेरी आदि महामारियों के प्रकोप, अकाल, सूखा, अतिवृष्टि, ओला-पाला, बाढ़, युद्ध की प्रवृत्ति आदि जिन के कारण बहुत से मनुष्यों का नाश हो।

इन नैसर्गिक उपायों से होनेवाले कष्टों और दुःखों से बचने के उद्देश्य से प्रतिबंधक उपायों का अवलंबन करना अधिक उत्तम होता है, क्योंकि जन-संख्या की वृद्धि इन प्रतिबंधक उपायों द्वारा भी कम होती है, पर कष्ट कम होता है। प्रतिबंधक उपाय इस प्रकार हैं—बड़ी उम्र में विवाह करना, संयम-ब्रह्मचर्य से रहना, कम संतान उत्पन्न करना, संतान-निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम में लाना, आदि।

यदि प्रतिबंधक उपायों द्वारा जन-संख्या की वृद्धि रोकी न जायगी तो नैसर्गिक उपाय प्रकृति के द्वारा काम में लाए जायँगे।

माल्थस के सिद्धांतों की जाँच

अपने देश की उस समय की स्थिति के अध्ययन तथा निरीक्षण के बाद माल्थस ऊपर लिखे नतीजे पर पहुँचा था। उस समय न तो रेल, जहाज, तार बेतार के तार आदि यातायात आदि के साधनों का इतना विकास था और न इतने आविष्कार और सुधार ही उत्पादन के लिए हो सके थे। अस्तु, एक देश दूसरे देशों से खाद्य सामग्री इस प्रकार प्राप्त न कर सकता था जैसे वह अब कर सकता है। वर्तमान समय में खाद्य सामग्री में कमी पड़ने की उतनी आशंका नहीं है। साथ ही नवीन-नवीन उपायों द्वारा उत्पादन शक्ति बहुत ही अधिक बढ़ती जाती है। अस्तु, माल्थस के सिद्धांत सब देशों और सब काल के लिए लागू नहीं हो सकते और न निर्भ्रांत सत्य ही ठहर सकते हैं। इस के अतिरिक्त माल्थस के सिद्धांत पर और भी आक्षेप किए जा सकते हैं और किए गए हैं जिन पर विचार करना उचित होगा।

परिवार का होना जरूरी है। अस्तु, लोग अधिक संतान के उतने इच्छुक नहीं रह गए है।

आमतौर पर देखा जाता है कि जो भी श्रेणी जितनी ही अधिक संपत्तिशाली होगी उस श्रेणी मे प्रत्येक परिवार की दृष्टि से जन-संख्या उतनी ही कम होगी। संपत्ति की वृद्धि से जन-संख्या की वृद्धि मे कमी आ जाती है। पश्चिमीय देशो मे जन-सख्या वहां की संपत्ति की उत्पत्ति के बराबर भी नही बढ सकी है, उस से अधिक बढना तो बहुत दूर की बात है। मशीनों तथा वैज्ञानिक आविष्कारो के उपयोग तथा बडे पैमाने पर उत्पादन किए जाने के कारण संपत्ति के उत्पादन मे बेहद वृद्धि हुई है। पर जन-संख्या अनुपात मे कम रही है। अस्तु, जन-संख्या संपत्ति की अपेक्षा कम बढती है।

(४) सपत्ति के प्रभाव की उपेक्षा

मालथस का कथन है कि जन-संख्या की वृद्धि ज्यामितिक-वृद्धि के अनुसार (यानी १,२,४,८,१६,३२,६४) और खाद्य सामग्री की वृद्धि अंक-गणित की वृद्धि के अनुसार (यानी १, २,३,४,५,६,७) होती है। पर उस का यह सिद्धात निराधार और भ्रमात्मक है। असल मे जन-सख्या की वृद्धि और खाद्य सामग्री की वृद्धि मे ऐसा कोई भी अनुपात तथा नियम नहीं सिद्ध किया जा सकता।

(५) जनसख्या-वृद्धि सबधी भ्रम

ऊपर के आक्षेपों के होते हुए भी मालथस के सिद्धात सर्वथा निराधार नही है। कुछ अंशो मे उन मे सत्यता अवश्य है और कुछ खास परिस्थित मे वे लागू भी है। जैसे—

मालथस के सिद्धात मे सत्य

(१) अमरीका, इगलैड आदि उन्नतिशील और धनी देशो मे जन-संख्या बढी तो है, पर संपत्ति की वृद्धि के मुकाबिले मे जन-संख्या की वृद्धि कम ही रही है। अस्तु, इन देशो मे मालथस के सिद्धात लागू नही होते और न इन देशों मे जन-संख्या के अधिक हो जाने की वैसी आशंका ही है। पर इन देशो मे भी जन-संख्या की वृद्धि के रोकने के लिए नैसर्गिक

(युद्ध, महामारी आदि) तथा प्रतिबंधक (अधिक उम्र मे शादी करना, संतान-निग्रह आदि) उपाय काम मे लाए गए है । और सभ्यता की वृद्धि के साथ ही साथ इन देशों मे प्रतिबंधक उपायों का महत्व भी दिन पर दिन बढ रहा है ।

(२) भारत, चीन आदि ग़रीब और कृषि-प्रधान, तथा कला-कौशल, उद्योगधंधों से हीन देशों मे आज भी जनसंख्या की वृद्धि देश मे होनेवाली खाद्य सामग्री की वृद्धि से कही अधिक है, अस्तु इन देशो मे जनाधिक्य का सवाल आज भी मौजूद है । अस्तु, माल्थस के सिद्धांत इन देशों मे लागू है । इन देशों मे एक तो रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे न होने से, दूसरे सामाजिक, धार्मिक कारणों से छोटी उम्र मे शादी हो जाने से तथा प्रतिबंधक उपायों के काम मे न लाए जाने से जन-संख्या बेतरह बढ रही है । अस्तु, नैसर्गिक उपायों द्वारा जन-संख्या मे कमी होती है ।

(३) कुछ विद्वानों का मत है कि आज संसार मे जनाधिक्य का प्रश्न भले ही लागू न हो पर भविष्य मे वह प्रश्न उठेगा ही, क्योंकि जब संसार के सभी देशों की जन-संख्या अधिक होती जायगी, तब उस के निर्वाह के लिए खाद्य सामग्री न अट सकेगी । इस का कारण यह है कि भूमि परिमित है और उस से जो भी खाद्य सामग्री उत्पन्न की जायगी वह भी परिमित ही होगी । ऐसी दशा मे जनसंख्या की वृद्धि खाद्य सामग्री की वृद्धि से अधिक शीघ्र तथा तेजी से होगी । अस्तु, माल्थस का सिद्धांत भविष्य मे संसार पर लागू होगा ।

इस संबंध मे बहुत मतभेद है । नवीन आविष्कारों, सुधारों आदि से बहुत कुछ परिस्थिति सुधरती रह सकती है । और खाद्य सामग्री की कमी पडने की आशंका वैसा भयंकर रूप धारण नहीं कर सकती ।

किसी देश की जन-संख्या दो प्रकार से बढती है—(१) प्राकृतिक वृद्धि यानी जन्म-संख्या के मृत्यु-संख्या से अधिक होने से, और (२) मनुष्य-कृत यानी आवास के प्रवास से

जनसख्या की वृद्धि,

अधिक होने से।

जन्म-संख्या देश के जल-वायु, रीति-रस्म, आचार-विचार तथा वैवाहिक नियमों पर निर्भर है।

जलवायु

गर्म देशों मे विवाह जल्दी और छोटी उम्र मे होते हैं। अस्तु, जन्म-संख्या अधिक होती है। पर मृत्यु-संख्या भी अधिक होती है। शीत-प्रधान देशो में विवाह देर से होते हैं, अस्तु, प्रत्येक विवाह पीछे कम संतान होती है। अस्तु, मृत्यु-संख्या भी वहां कम रहती है।

सामाजिक-धार्मिक कारण

भारत ऐसे देशों मे सामाजिक-धार्मिक कारणों से बहु-विवाह, कम उम्र मे विवाह, प्रत्येक लडकी का अनिवार्यतः विवाहित होना सो भी छोटी ही उम्र मे, प्रचलित है, अस्तु जन्म-सख्या अधिक होना जरूरी है और साथ ही मृत्युसंख्या भी उसी प्रकार बढी-चढी रहती है। पश्चिमी देशो में सामाजिक-धार्मिक कारणो से एक पुरुष एक से अधिक स्त्री से विवाह नही कर सकता, विवाह बडी उम्र मे होते है, तथा अनेक स्थानो में एक पिता के अनेक लडको में केवल एक-दो ही विवाह कर सकते है। अस्तु, वहां जन्म-संख्या और साथ ही मृत्यु-संख्या भी कम रहती है।

रहन-सहन का दर्जा

रहन-सहन के दर्जे पर जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या बहुत कुछ निर्भर रहती है। नीचे दर्जे के रहन-सहनवाले बहुत जल्दी विवाह करते है तथा उन के सामने कम सतान पैदा करने का वैसा कोई विचार नही रहता। अस्तु जिन श्रेणियो के रहन-सहन का दर्जा नीचा होता है उन मे जन्म-संख्या अधिक होती है तथा मृत्यु-सख्या भी अधिक होती है। इस के विपरीत जिन के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता है वे देर मे शादी करते है तथा अपने दर्जे को ऊँचा रखने के खयाल से कम संतान पैदा करते है ताकि वे अपने बच्चो को उचित शिक्षा दिला कर ऊँचे दर्जे मे रख सके। अस्तु, जन्म-सख्या और मृत्यु-

संख्या दोनों ही इन लोगों मे कम होती है। अस्तु, एक ही देश में भिन्न-भिन्न श्रेणियों मे जन्म और मृत्यु-संख्या भिन्न-भिन्न रहती है।

जन-संख्या की वृद्धि केवल जन्म-संख्या पर ही निर्भर नहीं है। वरन् मृत्यु-संख्या का विचार बहुत ज़रूरी है। अन्य बातों के समान रहने पर जितनी ही कम मृत्यु-संख्या होगी वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। जन्म-संख्या मे से मृत्यु संख्या निकाल देने पर जो बचेगा वही वृद्धि होगी। जहां और जिन श्रेणियों मे स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि के साधन अधिक उपलब्ध होते है उन मे मृत्यु-संख्या कम होती है।

जनसंख्या-वृद्धि और मृत्यु-सख्या

जन-संख्या की वृद्धि आवास-प्रवास पर भी बहुत कुछ निर्भर रहती है। जन्म-संख्या के मृत्यु-संख्या से अधिक होने पर भी यदि देश से बहुत से मनुष्य दूसरे देशों के चले जायँ तो जन-संख्या मे वृद्धि न होगी। अमरीका मे यूरोप के बहुत से स्त्री-पुरुष जाकर बस गए इस कारण वहां (अमरीका) की जन-संख्या बहुत बढ गई। पर आधुनिक समय मे अनेक देश प्रतिबंध लगा कर तथा जाति-द्वेष और वर्ण-द्वेष के कारण अनेक अडचने खडी करके आवास-प्रवास को रोकने मे लगे हुए है। अस्तु, आवास-प्रवास द्वारा जन-संख्या में रद्दोबदल अब उतना आसान नही रह गया है।

आवास-प्रवास

जिन देशों मे शिक्षा का विशेष प्रचार है तथा उद्योग-धंधो, वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा आजीविका के अनेक साधन जनता के लिए खुले हुए है और आर्थिक स्थिति अच्छी होने से रहन-सहन का दर्जा ऊँचा है और स्वास्थ्य, चिकित्सा के साधन सुलभ है, वहां जन्म-संख्या कम होती है। पर मृत्यु-संख्या भी अपेक्षाकृत बहुत कम होती है। अस्तु, जन-संख्या की वृद्धि उन देशों से अधिक ही होती है। जिन देशो मे शिक्षा का प्रचार कम है, आजीविका के साधन परिमित है, धन-संपत्ति वैसी बहुत नही है और रहन-सहन का दर्जा नीचा है तथा

राजनीतिक स्थिति

स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि के साधन वैसे उपलब्ध नहीं हैं, उन ग़रीब अशिक्षित देशों में जन-संख्या ज़्यादा होती है। पर मृत्युसंख्या भी अपेक्षाकृत बहुत बड़ी-चढ़ी रहती है। अस्तु, जन-संख्या की वृद्धि भी अपेक्षाकृत कम ही होती है। एक बात और है। सुशिक्षित देशों में सरकार द्वारा क़ानून, इनाम आदि के ज़रिए से ऐसे उपाय किए जाते हैं जिस से आवश्यकता होने पर जन-संख्या की वृद्धि कम या अधिक की जा सकती है। अस्तु, इन देशों में जन-संख्या के ऊपर बहुत कुछ सरकारी नियंत्रण रहता है।

प्रतिबंधक उपायों से हानियां

जन-संख्या की वृद्धि रोकने के लिए जिन प्रतिबंधक उपायों का अवलंबन आमतौर पर किया जाता है उन में आत्मसंयम तथा ब्रह्मचर्य अधिक उत्तम है। किंतु यूरोप, अमरीका आदि देशों में आत्मसंयम, ब्रह्मचर्य के ऊपर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। वरन् संतान-निग्रह के कृत्रिम उपाय बहुत अधिक काम में लाए जाते हैं। यहां तक कि इन कृत्रिम उपायों का उपयोग इस चरम सीमा तक पहुँच गया है कि उस से राष्ट्र को हानियां उठानी पड़ रही हैं; जनता के मानसिक-शारीरिक ह्रास तथा जन-संख्या के नाश का और उस से जातीय-आत्मघात का भय है।

मानसिक-शारीरिक ह्रास

धनवान और ऊँची श्रेणी के लोगों में बड़ी उम्र में शादी करने तथा कम बच्चे पैदा करने की प्रवृत्ति होती है। इस कारण उन के जो बच्चे होते हैं वे बहुत ही सुकुमार, कम साहसी होते हैं और उन में धनोत्पादन की योग्यता तथा कुशलता की कमी रहती है। इस का कारण है उन का खासतौर का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और धनी के पुत्र होने से भविष्य की चिंता से मुक्ति। इस से राष्ट्र को भारी हानि उठानी पड़ती है, इस के अलावा ऊँचे दर्जे के लोगों और धनवानों में कम बच्चे पैदा करने की प्रवृत्ति से समाज को संपन्न व्यक्तियों की अधिक संख्या से वंचित रहना पड़ता है, जिस से सुसंस्कृत तथा सुशिक्षित जनता की संख्या में कमी आती है।

कृत्रिम उपायों द्वारा संतान-निग्रह के कारण किसी-किसी देश मे तो यह भय उठ खडा हुआ है कि कहीं समाज का अंत न हो जाय। देश की जन-संख्या कम होने से उस देश की आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक शक्ति कम हो जाती है और उस के सामने प्रबल शत्रु द्वारा हानि उठाने का भय खड़ा हो जाता है। अनेक यूरोपीय देशों के सामने इस समय यह सवाल है।

सर्वोत्तम जन-संख्या

किसी एक ख़ास समय तथा परिस्थिति में वही जन-संख्या सर्वोत्तम जन-संख्या होगी जिस में प्रति व्यक्ति पीछे औसत दर्जे सब से अधिक धनोत्पत्ति हो और जन-संख्या के तनिक भी घटने या बढ़ने से प्रति व्यक्ति पीछे औसत दर्जे धनोत्पत्ति कम हो जाय। अस्तु, केवल जन-संख्या को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि देश में जन-संख्या अधिक है अथवा कम।

अध्याय १०

श्रम की कुशलता

श्रम दो तरह का होता है—(१) साधारण श्रम, और (२) कुशल श्रम। साधारण श्रम वह श्रम है जिस के द्वारा कोई ऐसा कार्य किया जाय जिस के करने में किसी अभ्यास, शिक्षा, योग्यता की ज़रूरत न हो। कुशल श्रम वह है जिस के द्वारा कोई ऐसा कार्य किया जाय जिस के करने मे अभ्यास, शिक्षा, योग्यता की ज़रूरत पड़े। पर समय और परिस्थिति के अनुसार कुशल श्रम साधारण श्रम माना जा सकता है और साधारण श्रम कुशल माना जा सकता है। जो श्रम देहात कुशल श्रम समझा जायगा वही श्रम औद्योगिक नगरो मे साधारण श्रम मे माना जा सकता है। औद्योगिक कुशलता श्रमियो के शारीरिक, मानसिक, नैतिक गुणो तथा उन को योग्यता-क्षमता पर निर्भर रहती है।

श्रम के भेद

किसी एक श्रमी की कुशलता उस के शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य तथा शक्ति पर निर्भर रहती है और उस के शारीरिक, मानसिक, नैतिक स्वास्थ्य तथा शक्ति नीचे लिखी बातो पर निर्भर रहती है :—

पश्चिमी अर्थशास्त्रियो का मत है कि देश की जलवायु का श्रम की कुशलता पर, मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, नैतिक स्वास्थ्य तथा शक्ति पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। उन की राय मे अधिक गर्म और अधिक ठंढे देशो के मनुष्य उतने कुशल नहीं हो सकते क्योंकि अधिक गर्मी या सर्दी से शारीरिक, मानसिक, नैतिक गुणो का ह्रास हो जाता है और उन की कार्यकुशलता घट जाती है। केवल समशीतोष्ण देशो के मनुष्य ही सब से अधिक कुशल होते है।

(१) जलवायु

पर यह धरणा अकाव्य नही है। सारा दारोमदार अभ्यास और स्थिति पर रहता है। अभ्यास और परिस्थित के कारण एक गर्म देश का लोहार आग की भट्टी के सामने लगातार दिन भर गर्मी के दिनों मे भी काम करता रहता है। किंतु एक समशीतोष्ण देशवाला विना अभ्यास के या बिना परिस्थिति द्वारा मजबूर किए गए उसी भट्टी के सामने एक घंटे भी नही ठहर सकेगा। अस्तु, कुशलता किसी व्यक्ति के स्वभाव, अभ्यास, परिरिथति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है।

एक व्यक्ति के लिए किस प्रकार के और कितने परिमाण मे जीवनोपयोगी पदार्थों की (भोजन, वस्त्र स्थान आदि की) ज़रूरत पड़ेगी इस का निर्णय बहुत कुछ जलवायु पर रहता है, और इस प्रकार कुशलता पर जलवायु का प्रभाव पडे बिना नही रहता।

(२) जातिगत गुण

पश्चिमी अर्थशास्त्रियों का यह भी मत है कि कुछ जातिगत गुण ऐसे होते है जिन के कारण एक जाति के मनुष्य दूसरी जाति के मनुष्यों से अधिक परिश्रमी और कुशल होते है। कुछ अंशों मे यह मत ठीक है। पर प्रत्येक जाति प्रयत्न करने पर कुशल और अध्यवसायी हो सकती है। जापानी इस के नमूने है।

(३) जीवनोपयोगी पदार्थ तथा रहन-सहन का दर्जा

प्रत्येक देश मे किसी भी व्यक्ति के लिए उचित मात्रा मे पौष्टिक भोजन, स्वच्छ, सुखद वस्त्र तथा हवादार, साफ, सुथरे, स्वास्थ्यवर्धक स्थान मे मकान तो ज़रूरी है ही। यदि इन की मात्रा और गुण मे कमी होगी तो कुशलता मे भी कमी पड जायगी, क्योंकि रोग, चिंता, कमजोरी आदि के कारण मनुष्य ठीक से काम करने लायक न रह जायगा। मनुष्य के रहन-सहन के दर्जे पर भी स्वास्थ्य, शक्ति तथा कुशलता निर्भर रहती है। अन्य सब बातों के समान रहने पर ऊँचे दर्जे के रहन-सहनवालों की कुशलता नीचे दर्जेवाले से अधिक होगी।

अन्य बाते समान रहने पर दो मनुष्यों मे से जो भी अधिक बुद्धिमान्

(४) मानसिक शक्तिया और शिक्षा - दीक्षा

और शिक्षित होगा वही दूसरे से अधिक कुशल होगा। बुद्धिमान और श्रमी से ये लाभ होते हैं—(अ) काम सीखने में कम समय लगेगा, (आ) उस की निगरानी कम या बिल्कुल न करनी पड़ेगी, (इ) उस से वस्तुओं की कम हानि और बरबादी होगी, (ई) वह नाज़ुक से नाज़ुक और पेचीदा से पेचीदा मशीन को चलाना जल्दी से जल्दी सीख लेगा और उसे अच्छी तरह से काम में लाता रहेगा।

जिस मनुष्य का दिमाग जितना ही साफ होगा, याददाश्त जितनी ही अच्छी होगी और जो जितना ही जल्दी और गहराई से सोच कर निर्णय कर सकेगा वह उतना ही अधिक कुशल उत्पादक हो सकेगा।

बुद्धि और निर्णय के गुण बहुत-कुछ शिक्षा पर निर्भर रहते है। शिक्षा दो तरह की होती है, साधारण और विशेष। साधारण शिक्षा मानसिक, चारित्रिक, नैतिक आदि गुणो के विकास के लिए सभी मनुष्यो के लिए जरूरी है। भिन्न-भिन्न औद्योगिक और व्यावसायिक कार्यों के लिए भिन्न प्रकार की विशेष शिक्षा और अभ्यास जरूरी है। औद्योगिक शिक्षा के कारण मनुष्य की कुशलता और योग्यता बहुत बढ जाती है।

(५) नैतिक गुण

ईमानदारी, दृढता, धैर्य, निर्भरता आदि नैतिक गुणो का भी कुशलता पर बहुत प्रभाव पडता है। जो आदमी मन लगा कर, ईमानदारी से काम करेगा वह निरीक्षक के भय से बेमन कार्य करनेवाले से कही अच्छा और अधिक कार्य कर सकेगा। अपने मन से स्वतंत्रतापूर्वक जो काम किया जायगा वह जबरन कराए गए कार्य से कही अच्छा और अधिक होगा।

(६) उन्नति की आशा आदि

इसी प्रकार उन्नति तथा लाभ की आशा होने से भी अच्छा और अधिक कार्य होगा। साथ ही किसी एक कार्य मे बराबर लगे रहने से मन ऊब उठता है और कार्य मे शिथिलता आ जाती है। यदि कार्य के बीच मे विश्राम दिया

जाय और उसी तरह के दूसरे कार्य बीच-बीच में बदल कर किए जायँ तथा कार्य के बाद मनबहलाव के साधन रहे तो कार्य अधिक और अच्छा होता है।

(७) पारिश्रमिक की व्यवस्था

यदि किसी को यह आशा और विश्वास हो जाय कि जो कार्य वह कर रहा है उस के बदले मे उसे जल्दी और सीधे (प्रत्येक रूप से) पारिश्रमिक मिल जायगा तो वह उसी कार्य को अधिक अच्छी तरह से और जल्दी समाप्त करने की चेष्टा करेगा।

(८) सगठन

श्रमजीवियों के समुचित संगठन से भी उन की कुशलता बहुत बढ जाती है। जब श्रमजीवी असंगठित रहते है तब उन्हें एक तो बहुत सस्ते मे अपना श्रम बेचना पडता है, जिस से वे अपना और अपने बच्चों का सुधार नही कर सकते, दूसरे वे अपनी शिक्षा-दीक्षा आदि का भी समुचित प्रबंध नही कर सकते।

अध्याय ११

श्रम-विभाग

समाज की पूर्वावस्था मे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु ख़ुद ही उत्पन्न करनी पडती थी। उस अवस्था मे श्रम-विभाग नहीं था। हर एक व्यक्ति को सभी तरह का श्रम करके अपनी सभी छोटी-बडी आवश्यकताओं की ख़ुद ही पूर्ति करनी पडती थी। प्रत्येक को फल-फूल तोड कर, मूल खोद कर, जानवरो का शिकार करके या मछली पकड कर ख़ुद ही भोजन की वस्तुएं जुटानी पडती थी। ख़ुद ही वस्त्र तैयार करने पडते थे। ख़ुद ही अपने लिए ज़रूरी शस्त्रास्त्र और औजार-बर्तन बनाने पडते थे। और ख़ुद ही झोपडी या गुफा तैयार करनी पडती थी। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने लिए शिकारी, किसान, कपडेवाला, कुम्हार, कारीगर, मिस्त्री, बढई आदि होता था। धीरे-धीरे ज्ञान और अनुभव बढने के साथ ही कामो मे बॅटवारा होने लगा। यह देखा गया कि यदि एक व्यक्ति अपनी सारी शक्ति और सारा समय किसी एक ख़ास काम मे लगाता है, तो वह उस एक वस्तु को अधिक अच्छी और अधिक परिमाण मे बना सकता है। अस्तु, अपनी-अपनी कार्य-क्षमता, रुचि, सुविधा तथा परिस्थिति, के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न पेशे अपना लिए। कोई केवल बर्तन बनाने लगा, कोई कपडा, कोई औजार, कोई मकान। इन लोगो ने अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं दूसरो से लेनी शुरू की। सभ्यता के और अधिक बढने पर प्रत्येक पेशे के काम भी कई-कई विभागों मे बॅट गए। पहले कपड़े बनाने वाला ख़ुद ही कपास से रुई निकालता, उसे धुनता, कातता और

श्रम-विभाग का विकास-क्रम

कते सूत को बुन कर कपड़ा तैयार करता था। बाद मे एक व्यक्ति ने केवल कपास से रुई निकालना शुरू किया, दूसरा उसे केवल धुनने लगा, तीसरा सूत कातने लगा और चौथा कते सूत से कपडा बिनने लगा। इस प्रकार एक ही पेशे में सूक्ष्मश्रम-विभाग हो गए।

बाद में और भी सूक्ष्म विभाजन किया गया। कपड़े बिनने ही में प्रायः ८० से १०० सूक्ष्म विभाग हो गए। आलपीन बनाने का काम लगभग २० उपविभागों से बँट गया, जिस मे से प्रत्येक उपविभाग का कार्य-क्रम से अलग-अलग एक-एक व्यक्ति के द्वारा किया जाने लगा।

श्रम-विभाग का विकास-क्रम इस प्रकार है :—

(१) प्रथम स्थिति—श्रम विभाग की सब से पहली स्थिति वह है जब पुरुष और नारी मे सुविधा का ख़याल करके काम का बँटवारा किया गया। पुरुष युद्ध, शिकार आदि अपने ज़िम्मे लेता है और नारी को बाल-बच्चों और घर के कामों को सँभालने का काम मिलता है।

(२) दूसरी स्थिति मे भिन्न-भिन्न काम पेशे के अनुसार बँट जाते है। समाज का एक व्यक्ति केवल बर्तन बनाने का कुल काम अपने ज़िम्मे लेकर दूसरे काम दूसरों के लिए छोड देता है। दूसरा व्यक्ति केवल औज़ार बनाने का काम लेता है। तीसरा केवल लकडी का काम अपने ज़िम्मे लेता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न पेशे अख़्तियार करके श्रम-विभाग शुरू करते है और अपनी आवश्यकता की अन्य सभी वस्तुएं दूसरों से बदले मे प्राप्त करते है। यही से जाति-भेद शुरू होता है।

(३) तीसरी स्थिति तब आती है जब एक ही पेशे का काम भिन्न-भिन्न उपविभागो मे बँट जाता है और श्रम-विभाग और भी जटिल और सूक्ष्म हो जाता है। आलपीन के काम को लगभग २० उपविभागो मे इस क्रम से बाँटना कि एक आदमी तार खींचे, दूसरा उस के टुकडे काटे, तीसरा उन्हें घिस कर बराबर करे, चौथा नोक निकाले पाँचवा उन के सिरे जोड़े, छठा उन मे पालिश करे आदि-आदि। इस स्थिति मे

द्वारा किए गए कार्य से कोई भी वस्तु पूरी नही वनती। उसे क्रम से एक-एक करके कई मनुष्यों के हाथों से गुजरना पडता है और प्रत्येक मनुष्य क्रम से अपने हिस्से का काम करके उसे आगे क्रम के लिए दूसरे को देता जाता है और अंत मे वह इसी क्रम से पूर्णता को पहुँचती है।

(४) चौथी स्थिति है स्थानीय या अंतर-राष्ट्रीय श्रम-विभाग। इस स्थिति मे आवागमन तथा यातायात आदि के साधनो की सुगमता, सस्ता-पन, शीघ्र-गामिता तथा सुसंगठन होने तथा अंतर-राष्ट्रीय व्यापार-व्यवसाय के सुचारु रूप से संचालित होने के कारण संसार के भिन्न-भिन्न देश अथवा स्थान-केवल उन्हीं वस्तुओं या निर्माण-क्रमो को विशेष रूप से अपना रहे है जिन के उत्पादन के लिए वे जलवायु, प्राकृतिक कारणो तथा अपने अधिवासियों की विशेष औद्योगिक क्षमता, कार्यकुशलता, तथा योग्यता के कारण सब से अधिक उपयुक्त ठहरते है।

साधारण तथा सूक्ष्म जटिल-श्रम विभाग

जब सुभीते के लिए किसी समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न पेशों को श्रम-विभाग के अनुसार इस प्रकार अलग अलग करने लगते है कि एक पेशे का कुल काम शुरू से आखिर तक प्राय एक ही व्यक्ति करता है तो उसे साधारण-श्रम-विभाग कहते है, जैसे कपडा बिननेवाला या जुलाहा बुनाई का कुल कार्य शुरू से आखिर तक ही ख़ुद करता है। किंतु जब एक ही काम मे भिन्न-भिन्न क्रमों के अनुसार भिन्न-भिन्न उपविभाग हो जाते है तो उसे सूम जटिल श्रम-विभाग कहते है, जैसे बिनाई के काम को क्रम से अनेक उपविभागो मे बाँटना।

श्रम-विभाग की मोटे तौर पर तीन स्थितिया होती है :—

(१) जुदा-जुदा पेशों का होना।

(२) एक-एक पेशे के कई ऐसे उपविभाग होना जो अपने-अपने तौर पर पूर्ण हों।

(३) एक-एक पेशे के अनेक ऐसे विभाग होना जिस मे से प्रत्येक

अपने में पूर्ण हो।

नीचे लिखी दशाओं मे ही श्रम-विभाग संभव और लाभदायक हो सकता है:—

(१) जब मंडी बडी हो और उस वस्तु की खपत अधिक हो। यदि वस्तु की माँग अधिक होगी तभी वह वस्तु बड़े पैमाने पर बनाई जा सकेगी और उस के बनाने मे अधिक मनुष्य लगाए जा सकेंगे तथा उस के बनाने के क्रम मे विभाग किए जा सकेंगे। श्रम-विभाग तभी संभव है जब अनेक व्यक्ति उस काम के करने मे लगे और कार्य के क्रम को इस प्रकार बाँटा जा सके कि प्रत्येक विभाग का कार्य अलग-अलग हो और क्रम के अंत मे सब विभिन्न विभागों के श्रम का फल वही एक काम या वस्तु हो। यदि क्रम-विभाग न होगा तो श्रम-विभाग न माना जायगा चाहे अनेक आदमी मिल कर ही कोई काम क्यों न करे। यदि एक बड़े पत्थर को अनेक आदमी उठाने मे लगते है तो वह श्रम-विभाग न होगा, क्योंकि पत्थर उठाने के कार्य मे क्रम-विभाग कुछ भी नही है।

(२) श्रम-विभाग उन्ही वस्तुओं के उत्पादन मे हो सकता है जिन का उत्पादन कार्य बराबर लगातार होता रहे, ऋतु-विशेप आदि के अनुसार समय-समय पर वदलता न रहे। यदि काम लगातार न होता रहेगा तो श्रमी अपने एक खास क्रम-विभाग को कायम न रख सकेगा। अस्तु श्रम-विभाग न हो सकेगा। इसी कारण उद्योग-धंधों मे कृपि की अपेक्षा वहुत अधिक श्रम-विभाग की गुंजायश है। श्रम-विभाग मे सब से अधिक लाभ तभी हो सकेगा जब प्रत्येक श्रमी काम के कम से कम क्रम मे बराबर लगातार लगा रहे और प्रत्येक क्रम ऐसा हो कि प्रत्येक श्रमी को अपनी सब से अधिक कार्यकुशलता तथा शक्ति लगाना पडे, और वह क्रम ऐसा हो कि वह श्रमी की योग्यता, कुशलता, क्षमता, शिक्षा के उपयुक्त हो तथा उस क्रम के निमित्त अच्छी से अच्छी मशीन, औजार आदि ठीक से श्रमी के उपयोग के लिए दिए जायॅ।

श्रम-विभाग से श्रम की उत्पादक शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। अन्य बातों के समान रहने पर जितना ही अधिक श्रम-विभाग होगा उतना ही अधिक धनोत्पत्ति की योग्यता बढ़ जायगी। श्रम-विभाग से उत्पादन की योग्यता नीचे लिखे अनुसार बढ़ती है :—

श्रम विभाग से लाभ

(१) शारीरिक और मानसिक शक्तियों का अधिक से अधिक उपयोग—श्रम विभाग के कारण देश के बलवान, निर्बल, छोटे, बड़े, मूर्ख, बुद्धिमान, कुशल, अकुशल, यहां तक कि लूले लंगड़े, अंधे-काने, बहरे आदि सभी तरह के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्धों को उत्पादन कार्य में लगाया जा सकता है, क्योंकि श्रम-विभाग के कारण जो जिस योग्य होगा उस को उसी काम में लगा कर उस का उपयोग उत्पादन-कार्य में कर लिया जायगा। यदि एक ही व्यक्ति को उत्पादन-कार्य का आदि से अंत तक सभी क्रम निबाहना पड़े तो देश के बहुत से व्यक्तियों का उपयोग नहीं हो सकेगा। अस्तु राष्ट्र की बहुत सी शक्ति व्यर्थ जायगी। श्रम-विभाग के बिना एक कुशल श्रमी को बहुत-सा ऐसा काम करना पड़ेगा जिसे एक अकुशल श्रमी आसानी से और सस्ते में कर सकता है, अस्तु कुशल श्रमी की कुशलता का पूरा लाभ न उठाया जा सकेगा। साथ ही अकुशल श्रमी को कुछ ऐसा कार्य भी करना पड़ेगा जिस में कुशलता की जरूरत है, इस लिए काम ख़राब होगा। श्रम-विभाग से इस तरह की अड़चन दूर हो जाती है। यह बात नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है।

फोर्ड के मोटर के कारखाने में हर एक मोटर के बनाने में कम से कम ७८८२ क्रम-विभाग थे। इन में से ९४९ ऐसे थे जिन में केवल मजबूत आदमी काम कर सकते थे, और ३३३८ ऐसे थे जिन को साधारण व्यक्ति भी कर सकते थे। शेष ३५९५ ऐसे थे जिन में कमजोर से कमज़ोर व्यक्ति भी आसानी से योग दे सकता था। इन ३५९५ क्रमों में से ६७० ऐसे थे जिन्हें ऐसे आदमी भी कर सकते थे जिन की दोनों टाँगें तक न हों, २६-

२७ क्रम ऐसे थे जिन्हें एक टाँग वाले व्यक्ति कर सकते थे। दो कार्य ऐसे थे जिन्हें ऐसे व्यक्ति भी कर सकते थे जिन के दोनों हाथ तक न हों, ७१९ ऐसे थे जिन्हे एक हाथ वाला भी कर सकता था; तथा १० क्रम ऐसे थे जिन्हे बिल्कुल अंधा व्यक्ति भी आसानी से कर सकता था। इस से स्पष्ट हो जाता है कि सूक्ष्म श्रम-विभाग के कारण सभी तरह के मनुष्यों से काम लिया जा सकता है।

(२) निपुणता की वृद्धि—एक ही काम के एक अंश को बार बार करते रहने से मनुष्य उस मे खूब मँज जाता है और उस की निपुणता बहुत बढ जाती है। यदि उसे पूरा काम आदि से अंत तक करना पड़े तो वैसी निपुणता नही आ सकती।

(३) समय की बचत—(अ) चूँकि एक ही कार्य अथवा एक कार्य का एक ही अंश सीखना पडता है, अस्तु, सीखने मे कम समय लगाना पडता है। इस से समय की वचत होती है, साथ ही निपुणता अधिक होती है। (आ) यदि एक ही मनुष्य को किसी पूरे काम को करना पड़े तो उसे एक क्रम से दूसरे क्रम मे लगने और एक प्रकार के औज़ारों, मशीन आदि को छोड कर दूसरे प्रकार के औज़ारों या मशीन को लेकर काम शुरू करने मे बहुत-सा समय नष्ट करना पडता है। यदि उसे एक ही अंश मे बरावर लगा रहना पड़े तो औज़ारों, मशीन आदि को वार-वार वदलने मे व्यर्थ समय नष्ट न करना पडेगा। स्थान, वस्तु आदि के वदलने मे जो समय नष्ट होता है उस मे भी वचत होगी।

(४) मितव्ययिता—श्रम-विभाग से औज़ारों के उपयोग तथा कच्चे माल आदि में वहुत मितव्ययिता होती है। जव एक ही आदमी को अनेक कार्य अथवा एक ही कार्य के अनेक उपविभागों के कार्य करने पडते हैं तो उसे अनेक तरह के औज़ारों से काम लेना पडता है जिन मे कुछ न कुछ हर समय फ़ालतू पड़े रहते है और सव औजारो में खर्च भी ज्यादा लगता है। उन्हें वह उतनी सावधानी से रख भी नहीं सकता। यदि एक

व्यक्ति को किसी कार्य के एक ही उपविभाग का काम करना पडे तो औजार कम लगेगे, खर्च कम होगा, उन औजारो का बराबर उपयोग होता रहेगा तथा थोड़े होने के कारण वे अच्छी तरह से रक्खे जा सकेंगे। दूसरे, जब एक आदमी किसी काम के एक उप-विभाग के कार्य को करेगा तो अधिक निपुण होने के कारण कच्चे माल को उतना खराब न करेगा तथा जो कच्चा माल या वस्तु तैयार होने पर छीज या व्यर्थ के हिस्से के रूप मे बचेगा उस का भी उचित उपयोग हो सकेगा।

(५) यंत्रो का अधिक उपयोग—जब कोई काम कई उपविभागो मे बाँट दिया जाता है तो प्रत्येक उपविभाग की क्रिया सरल हो जाती है, अस्तु उस के लिए यंत्र बन जाते है जो मनुष्य के काम को करने लगते हैं। इस से उत्पादन-कार्य की क्षमता बढ जाती है।

(६) आविष्कारो तथा सुधारो के लिए आसानी—प्रत्येक उपविभाग की क्रिया सरल, सुबोध और परिमित होती है। इस कारण प्रत्येक क्रिया मे सुधार और उस कार्य से संबंध रखनेवाले आविष्कार करना आसान हो जाता है।

(७) सहयोग तथा सभ्यता की वृद्धि—श्रम-विभाग के कारण उत्पादन-कार्य अनेक उपविभागों मे बँट जाता है, और प्रत्येक उपविभाग का कार्य अन्य उपविभागो पर परस्पर निर्भर रहता है। क्योंकि जब तक क्रम से अंतिम उपविभाग का कार्य समाप्त न हो जाय तब तक वह वस्तु उपयोग मे लाने योग्य नहीं होती। अस्तु, श्रमजीवी एक दूसरे पर बहुत कुछ निर्भर रहते है। दूसरे, श्रम-विभाग के कारण उत्पादन-शक्ति बढ जाती है, लागत खर्च कम पडने से वस्तु सस्ती होती है। अस्तु अधिक मनुष्य उसे ख़रीद कर उस का उपभोग कर सकते है। इस प्रकार रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो जाता है और सभ्यता की वृद्धि होती है।

(८) उत्पादन-शक्ति बहुत बढ जाती है—बिना श्रम-विभाग के जहां एक आदमी प्रतिदिन केवल दस-बीस आलपीने बना सकता था, सो भी

बहुत ही भद्दी और बेमेल, वहां श्रम-विभाग के कारण फ़ी आदमी प्रतिदिन ५००० से ऊपर आलपीनें बना सकता है और वह भी बहुत ही बढ़िया और एक-सी।

श्रम-विभाग से हानियाँ

ऊपर श्रमविभाग से होनेवाले लाभों का वर्णन किया गया है। किंतु श्रमविभाग से केवल लाभ ही नहीं होते। उस से होनेवाली कुछ हानियां भी विचारणीय है। श्रम-विभाग के समर्थक इन हानि-संबंधी तर्कों का उत्तर देते हैं। हम हानियों का वर्णन उन के उत्तरों सहित नीचे देते है—

(१) आदमी मशीन बन जाता है—श्रमविभाग के कारण प्रत्येक मनुष्य को केवल एक उपविभाग में मशीन की तरह काम करते रहना पडता है। उसे अपने दिमाग या बुद्धि से वैसा काम नहीं लेना पडता। अस्तु उस के मस्तिष्क तथा बुद्धि के विकास के लिए कोई अवसर नहीं मिलता। निपुण, कुशल व्यक्ति की कम आवश्यकता होती है। अस्तु उन का क्षेत्र घट गया है। यदि उसे आलपीनों को बराबर-बराबर काटना है तो दिन भर उसी काम में लगा रहना पडेगा। काम में कुछ विभिन्नता न होने से नीरसता आ जाती है, जो जीवन के लिए हानिकर होती है। वह निर्जीव मशीन-सा बन जाता है।

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि काम के एक विभाग के सीखने में कम समय और शक्ति तथा व्यय लगते हैं। और अधिक कुशलता-निपुणता जल्दी आ जाती है। इस से उत्पादन अधिक और अच्छा हो सकता है। अस्तु, मज़दूरी ज्यादा मिलती है और कारखाने में कम घंटे काम करना पडता है। काम में मँज जाने से मेहनत भी कम पडती है। अस्तु, श्रमी अपने जीवन का बाकी और अधिक समय मनोरंजन आत्मोन्नति के साधनों में स्वच्छंद होकर लगा सकता है। इस से जीवन में एक ही ढंग में रुके रहना नहीं पडता और नीरसता नहीं आने पाती। इस कारण श्रम-विभाग श्रमजीवी के लिए अधिक हितकर है।

काम सरल होने पर भी प्रत्येक कार्य के कुछ उपविभागों में विशेष योग्यता-निपुणता की जरूरत पडती है। दूसरे नित नए पदार्थों, मशीनों की उत्पत्ति के कारण बुद्धि की तथा निपुणता-कुशलता की अधिकाधिक आवश्यकता हो गई है। उस का क्षेत्र बढ गया है।

(२) बेकारी—(अ) श्रम-विभाग के कारण काम के सरल और परिमित होने से मनुष्यों के स्थान पर स्त्रियां और बच्चे कम मजदूरी पर रख लिए जाते है। इस से कुछ पुरुषो को बेकारी का सामना करना पडता है। (आ) श्रम-विभाग के कारण प्रत्येक व्यक्ति काम के एक ही भाग को सीखता और जानता है और उसी मे लगा रहता है। उसे दूसरे काम को सीखने की ज़रूरत नहीं पडती। किंतु यदि किसी कारण उस के काम की मॉग न रहे या घट जाय तो उसे बेकार हो जाना पडता है। और चूंकि उस को अन्य कामों की शिक्षा नहीं मिली है, इस लिए वह किसी दूसरे काम में नहीं लग सकेगा। दूसरे, मज़दूर एक दूसरे के कामों पर इतने निर्भर कर दिए गए है कि यदि एक प्रकार के काम करनेवाले मजदूर किसी कारण बेकार हो जायें तो उसी काम के अन्य उपविभागों में काम करने वाले सभी मज़दूर भी बेकार हो जायेंगे। अस्तु, श्रम-विभाग से बेकारी का प्रश्न और भी भीषण हो गया है।

ऊपर के आक्षेपों का उत्तर भी है। यह मानना पडेगा कि श्रमविभाग के कारण प्रत्येक उपविभाग का काम सरल कर दिया गया है और शीघ्र ही, आसानी से और कम समय तथा थोडे व्यय मे सीखा जा सकता है। अस्तु, बेकार मनुष्य जल्दी दूसरे काम को सीख कर उस मे लग सकता है। श्रम-विभाग के कारण अब श्रमियों को अपने एक काम मे डूबे रहने के लिए मजबूर नहीं होना पडता। वे जल्दी ही दूसरा काम सीख कर काम को आसानी से बदल सकते है।

(३) स्वास्थ्य की हानि—श्रमविभाग के कारण प्रत्येक व्यक्ति को काम के पूरे समय भर एक ही प्रकार से लगे रहना पडता है। दूसरे, कारख़ाने

की प्रथा का बोलबाला हो गया है। अस्तु, एक ही स्थान पर सैकड़ों, हज़ारों व्यक्तियों को एक साथ काम मे लगना पड़ता है। इन कारणों से उन के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

इस संबध मे अनेक सुधार किए जा रहे है।

मनुष्य प्रगतिशील प्राणी है। उन्नति करते रहना उस का स्वभाव है।

श्रमविभाग का परिणाम

श्रमविभाग उन्नतिशीलता और प्रगति का फल है। इस से मनुष्य की उत्पादन-शक्ति बहुत ही अधिक बढ गई है और मनुष्य भारी, हानिकर, अरुचिकर, गंदे, नीरस, कष्टदायक कामों से छुटकारा पा गया है, क्योंकि ऐसे काम अब मशीनों से लिए जाते है, जो श्रमविभाग की प्रमुख देन है। श्रम-विभाग के कारण देश के प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति को उस की योग्यता, निपुणता, शिक्षा, सामर्थ्य के अनुसार काम मे लगाया जा सकता है। इस कारण शक्ति का ह्रास नही होने पाता। कार्य का समय घट गया है और मजदूरी बढ गई है। श्रमियो को विश्राम, मनोरंजन, आत्मोन्नति के लिए बहुत अधिक समय बचने लगा है। धनोत्पादन अधिक से अधिक हो सकता है तथा ज्ञान की, आविष्कारो की, और सभ्यता की वृद्धि हो रही है। जो कुछ हानियां हैं वे श्रम-विभाग के दुरुपयोग के कारण हैं और उन का प्रतिकार तेज़ी से किया जा रहा है।

अध्याय १२

पूँजी

संपत्ति दो तरह की होती है—(१) एक तो वह जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सीधे (प्रत्यक्ष रूप से) काम में आए। इसे उपभोग्य संपत्ति कहते हैं। (२) दूसरी वह जो सीधे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपभोग में न आ सके, वरन् और अधिक संपत्ति उत्पादन करने के काम में आवे। इसे उत्पादक संपत्ति कहते हैं।

संपत्ति के भेद

उत्पादक संपत्ति के भी दो भेद होते हैं—(अ) एक तो वह जो मनुष्य द्वारा उत्पन्न न की गई हो वरन् प्रकृति की देन हो जैसे भूमि और अन्य प्राकृतिक देन। (आ) दूसरे वह जो मनुष्य के द्वारा उत्पन्न की गई हो, जैसे मशीन, कारखाने, औज़ार, रेल, तार, जहाज कच्चा माल, मकान, हल, बैल, बीज, श्रमियों को दिया जानेवाला वेतन आदि। इसे पूँजी कहते हैं।

सब पूँजी धन होती है। पर सब धन पूँजी नहीं होता। केवल वही धन जो और अधिक धनोत्पादन में काम आए पूँजी माना जायगा। एक आदमी के पास कुछ धन है। यदि वह उसे खाने-पीने, दान-भेंट में लगाता है तो वह पूँजी न माना जायगा। पर यदि वह उसे ब्याज पर उधार देता है या एक कारख़ाना खोल कर उसे किसी वस्तु के उत्पादन में लगाता है तो वही धन पूँजी माना जायगा।

धन और पूँजी

प्रारंभिक अवस्था में धनोत्पत्ति के लिए केवल श्रम और भूमि अनिवार्य हैं। पूँजी अधिक उत्पत्ति में सहायक ज़रूर होती है, पर अनिवार्य नहीं होती। यदि पूँजी न हो तो भी मनुष्य धनोत्पत्ति कर ही लेता है। पूँजी की सहायता

धनोत्पत्ति और पूँजी

से धनोत्पत्ति की मात्रा और शक्ति बहुत बढ जाती है। एक किसान हल-बैलों के ज़रिए अधिक शीघ्रता और आसानी से खेतों को जोत-बोकर अन्न उत्पन्न कर सकता है। किंतु जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति में विकास होता जाता है वैसे ही वैसे धनोत्पत्ति मे पूँजी का महत्व बढता जाता है। वर्तमान समय मे बड़े पैमाने की उत्पत्ति के कारण पूँजी का महत्व इतना बढ गया है कि बिना ख़ासी पूँजी के धनोत्पत्ति का कार्य न तो प्रारंभ ही किया जा सकता और न चलाया ही जा सकता है, क्योंकि बड़े-बडे कारख़ानों के लिए बहुत बडी पूँजी की ज़रूरत पडती है। छोटे पैमाने पर उत्पत्ति शुरू करने मे न तो तैयार माल उतना सस्ता पडता है और न उस की बिक्री का वैसा प्रबंध ही हो सकता और न प्रतियोगिता मे ठहरा ही जा सकता। अस्तु, आधुनिक समय मे पूँजी का महत्व श्रम आदि से बहुत बढ गया है। पूँजी के सामने और सब साधन फीके पड गए हैं।

पूँजी की उत्पादकता

पूँजी ख़ुद तो अपने आप कुछ नही कर सकती, वह निष्क्रिय है। यदि पूँजी का उपयोग करने के लिए श्रम और प्रबंध न हों तो पूँजी बेकार पडी रहे, उस से कोई उत्पत्ति न हो। जब श्रम द्वारा उस का उचित उपयोग किया जाता है, तभी पूँजी उत्पादक हो सकती है। किंतु यदि श्रम बिना पूँजी के उत्पादन कार्य मे लगे तो उत्पत्ति बहुत ही कम हो सकेगी। बिना पूँजी के श्रम उतना उत्पादक नही हो सकता। मशीन, औज़ार, कच्चे माल के रूप में पूँजी का उपयोग करके ही श्रम अधिक से अधिक उत्पत्ति कर सकता है। अन्य सब बातों के समान रहने पर जिन श्रमियों को उत्पादन कार्य में जितनी ही अधिक पूँजी की सहायता मिलेगी उन की उत्पत्ति उतनी ही अधिक होगी। पूँजी के कारण श्रम की उत्पादक शक्ति बहुत बढ जाती है।

पूँजी की उत्पादकता के संबंध मे दो मत विशेष उल्लेखयोग्य हैं—एक तो प्राचीन अर्थशास्त्रियों का मत है कि पूँजी धनोत्पत्ति के लिए अनिवार्य है। बिना पूँजी के सभ्य समाज मे धनोत्पत्ति नही हो सकती। यदि

कोई व्यक्ति धनोत्पत्ति करना चाहता है तो यह जरूरी है कि या तो ख़ुद उस के पास पूँजी हो या वह किसी पूँजीपति से सहयोग करके या उस के अधीन श्रमी होकर उस से औजार, मशीन, कारख़ाना, कच्चे माल, संचालन शक्ति (बिजली, आदि,) के रूप मे पूँजी लगवा कर धनोत्पत्ति करे। जिस समाज में जितनी ही अधिक पूँजी होगी उस की उत्पादक शक्ति उतनी ही बढी-चढी होगी। दूसरा मत है समाजवादियो का। उन का कहना है कि पूँजी के द्वारा दूसरो के श्रम को अपने लाभ के लिए उपयोग में लाने की शक्ति पूँजीपति को प्राप्त हो जाती है। पूँजीपति खुद कुछ भी श्रम नहीं करता। पर अपनी पूँजी के बल पर दूसरे श्रमजीवियो के श्रम से उत्पन्न संपत्ति का अधिकांश भाग हडप लेता है। जिस के पास जितनी ही अधिक पूँजी होगी उस की शक्ति दूसरो के श्रम के फल को हडप लेने की उतनी ही अधिक होगी।

पूँजी की असली विशेषता है श्रम की उत्पादन शक्ति को बहुत अधिक बढा देना। यह पूँजी की उत्पादन-वृद्धि करनेवाली शक्ति के दुरुपयोग का फल है कि श्रमजीवियो के श्रम का अनुचित लाभ उठा कर पूँजीपति ख़ुद और अधिक पूँजी बढा लेते हैं।

पूजी के भेद

अर्थशास्त्रियों ने विविध दृष्टियो से पूँजी के अनेक भेद किए है, जो इस प्रकार है—

(१) चल और अचल

जो पूँजी धनोत्पादन मे अधिक न टिक कर एक ही बार के उपयोग मे, थोडे ही समय मे काम आ जाती है और फिर दुबारा काम मे लाए जाने के लिए नहीं रह जाती, उसे चल या अस्थायी पूँजी कहते हैं, जैसे बीज, श्रमजीवियों की मज़दूरी, कारखाने का कोयला, कच्चा माल आदि। जो पूँजी बहुत समय तक अनेक बार धनोत्पादन के उपयोग मे लाई जा सके उसे अचल, स्थायी पूँजी कहते है, जैसे कारखाने की इमारत, मशीने, औज़ार आदि।

स्थिति-भेद के कारण वही पूँजी एक के लिए चल पूँजी और दूसरे के

लिए अचल मानी जा सकती है। जो कारख़ाना जहाज़, रेल की पटरियां मशीनें या औज़ार बना कर बेचता है उस के लिए ये सब तैयार माल होंगे इनकी गिनती चल पूँजी में की जायगी, क्योंकि वह एकबार ही उन्हे बेच कर रुपया खड़ा कर लेता है। पर जो उन्हें आगे के धनोत्पादन मे सहायता देने के लिए खरीदेंगे उन के लिए ये ही वस्तुएं अचल पूँजी होंगी क्योंकि वे इन का अनेक बार अपने उत्पत्ति क्रम मे उपयोग करके धनोत्पादन करेंगे।

(२) उत्पत्ति-पूँजी और उपभोग-पूँजी

जिन वस्तुओं से अन्य वस्तुओं की प्रत्यक्ष रूप मे उत्पत्ति हो उन्हें उत्पत्ति-पूँजी कहते है, जैसे कच्चा माल, औज़ार, मशीन आदि। कोई-कोई इसे व्यापार-पूँजी भी कहते है। पर मार्शल का मत है कि व्यापार-पूँजी मे वे सभी वस्तुएं आ जाती हैं जिन्हे कोई व्यक्ति अपने व्यापार के लिए काम मे लाता है, जैसे बिक्री के लिए रक्खी हुई वस्तुएं, श्रमजीवियों का भोजन, वस्त्र आदि। उपभोग-पूँजी उसे कहते है जो प्रत्यक्ष रूप मे तो उपभोग के काम मे आकर आवश्यकताओं की पूर्ति करे पर परोक्ष रूप मे धनोत्पादन मे सहायक हो, जैसे श्रमियों के भोजन-वस्त्र आदि।

(३) वेतन-पूँजी और सहायक पूँजी

उत्पादक कार्य मे लगे हुए श्रमियों को जो पूँजी वेतन के रूप मे दी जाय उसे वेतन-पूँजी कहते है। वेतन-पूँजी के अलावा और जो भी पूँजी उस व्यवसाय मे लगी हो उसे सहायक या साधक पूँजी कहते है।

(४) व्यक्तिगत, सार्वजनिक और राष्ट्रीय पूँजी

जिस पूँजी पर किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का अधिकार हो उसे व्यक्तिगत पूँजी कहते है। जिस पूँजी पर किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह विशेष का अधिकार न होकर किसी स्थान की जनता का सम्मिलित अधिकार हो उसे सार्वजनिक पूँजी कहते है। किसी एक राष्ट्र या देश की सारी पूँजी मिल कर राष्ट्रीय पूँजी मानी जाती है। जिस पूँजी पर एक से अधिक राष्ट्रों का सम्मिलित अधिकार होता है उसे अंतर्राष्ट्रीय पूँजी कहते है।

अचल और सहायक पूँजी के बढ़ाने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती जा रही है। कृषि तथा उद्योग-धंधों में सभी जगह यह प्रयत्न हो रहा है कि जहां तक हो सके मनुष्यों के स्थान में मशीनों से अधिकाधिक काम लिया जाय, ताकि एक बार पूँजी लगा कर मशीनें खरीद ली जायें और बार-बार दिए जाने वाले श्रमियों के वेतन यानी चल पूँजी में कमी हो। इस के कारण अचल और सहायक पूँजी चल और वेतन-पूँजी से बहुत अधिक बढ़ रही है।

प्रवृत्ति

जो देश गरीब और औद्योगिक उन्नति में पिछड़े हुए हैं उन्हें अपने उद्योग-धंधों, कल-कारखानों की उन्नति के लिए विदेशों से पूँजी लेनी पड़ती है। पर प्रायः विदेशी पूँजी के कारण उन्हें सूद के साथ ही कुछ राजनीतिक अधिकार भी देने पड़ते हैं। इस से उन्हें हानि उठानी पड़ती है। गरीब तथा पिछड़े हुए देशों को विदेशी पूँजी से लाभ उठाना चाहिए पर इस प्रकार कि विदेशी प्रभाव के कारण उन की उन्नति आदि में हानि न हो, बाधा न पड़े।

देशी और विदेशी पूँजी

अध्याय १४

पूँजी की वृद्धि

सभी पूँजी धन है। धन श्रम से उत्पन्न होता है। श्रम करके उत्पन्न किया हुआ धन जब आगे के धनोत्पादन के लिए बचा लिया जाता है तो उसी को पूँजी कहते हैं। अस्तु, पूँजी पहले के (भूतकालीन) श्रम का फल है, जो आगे के काम के लिए संचित किया जाता है। धन को भविष्य के धनोत्पादन के लिए संचित करने के लिए यह ज़रूरी होता है कि वर्तमान समय के उपभोग का सुख, भविष्य के लिए स्थगित किया जाय।

पूँजी तथा सञ्चय

भिन्न-भिन्न समाजों, स्थानों तथा समयों के लिए और एक ही समाज के लिए भिन्न-भिन्न समयों के लिए संचय के कारण और स्थितियां भिन्न-भिन्न होती है। तो भी आमतौर पर पूँजी की उत्पत्ति और वृद्धि १) संचय करने की इच्छा, (२) संचय करने की सुविधा, (३) संचय करने की शक्ति, पर निर्भर रहती है। और सभ्यता, शिक्षा, शांति, सुव्यवस्था से संचय-कार्य मे बहुत बड़ी सहायता मिलती है। संचय करने के कारणों मे से संचय करने की इच्छा मुख्य मानसिक कारण है। और जब तक यह मानसिक कारण न होगा तब तक संचय होना सहज संभव नही। संचय की इच्छा न रहने से बहुत से धनी व्यक्ति बहुत धन मिलने पर भी कोई पूँजी इकट्ठी नही कर सकते, और संचय करने की इच्छा होने पर ग़रीब भी कुछ न कुछ पूँजी जमा कर ही लेते हैं।

संचय करने की इच्छा नीचे लिखे कारणो पर निर्भर रहती हैः—

सभी चाहते हैं कि वे और उन के बालबच्चे सुख से रहें, उन्हें कोई

(१) दूरदर्शिता — कष्ट या किसी तरह का अभाव न हो। कुछ मनुष्य वर्तमान समय की आवश्यकताओं के साथ ही भविष्य मे आनेवाली बातों का भी ख़याल रखते है और उस के लिए उचित प्रबंध कर लेते है। इसी को दूरदर्शिता कहते है। जो जितना ही अधिक दूरदर्शी होगा वह उतना ही अधिक भविष्य में होनेवाले कष्टो, अभावो (बीमारी, बेकारी, धनोत्पादन मे अशक्ति आदि) का ख्याल कर सकेगा तथा उन के दूर करने के लिए धन-संचय द्वारा उचित प्रबंध करेगा। धन-संचय दूर-दर्शिता पर बहुत कुछ निर्भर रहता है।

(२) सम्मानादि की आकांक्षा — सभी चाहते है कि समाज मे उन का तथा उन के कुल का सम्मान हो, वे इज्जत से देखे जायँ, समाज पर उन का प्रभाव और प्रभुत्व बढे, उन्हें समाज मे सामाजिक, राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो। धन द्वारा समाज मे सम्मान, शक्ति, प्रभाव, प्रभुत्व प्राप्त करना बहुत सरल होता है। धनी का सभी मान करते है, उस का सभी पर प्रभाव-प्रभुत्व रहता है। अनेक व्यक्ति इसी आकांक्षा से धन-संग्रह करते है। धन-संचय पर इन आकांक्षाओं का बडा प्रभाव पडता है।

(३) सफलता की आकांक्षा — धन द्वारा वर्तमान समाज मे मनुष्य को अनेक प्रकार की सफलताएं प्राप्त हो सकती है। अनेक मनुष्य केवल सफलता प्राप्त करने के भूखे रहते है। धन की हानि सह कर भी वे समाज के सामने अपने काम मे सफल बने रहना चाहते है। इसी ख़याल से वे धन-संचय करते है।

(४) कुटुंब का प्रेम — अनेक मनुष्य ख़ुद शारीरिक और मानसिक कष्ट उठा कर, अभाव सह कर भी बहुत-सा धन इस लिए संचय करते है कि उन के बाल-बच्चे सुख और सम्मान से रह सके।

अनेक मनुष्य सूद द्वारा एक बँधी आमदनी अपने या अपने किसी

(५) सूद द्वारा लाभ उठाने की प्रवृत्ति

आत्मीय, पुत्र आदि के निर्वाह के लिए क़ायम करने की ग़रज़ से धन-संचय करते है ताकि उस धन को सूद पर उठा कर लाभ उठावे। ऐसी दशा मे अन्य सभी बातें समान रहने पर सूद की दर जितनी ही ऊँची होगी, संचय भी उतना ही अधिक होगा क्योंकि आमदनी अधिक होने की लालच लगी हुई है।

इस संबंध मे एक अपवाद है। यदि कोई व्यक्ति एक बँधी हुई रकम ही चाहता हो, उस से ज्यादा नही, तो सूद की दर बढने पर उस के संचित धन की तादात कम होगी और सूद घटने पर संचित धन का परिमाण ज़्यादा होगा। यदि कोई चाहता है कि उसे केवल १०० मासिक मिलते जायँ तो यदि सूद की दर ऊँची रहेगी तो कम धन ही में उसे १०० मासिक सूद से मिल सकेगा। अस्तु, वह कम धन संचय करेगा। किंतु यदि सूद की दर गिर जायगी तो १०० मासिक सूद से प्राप्त करने के लिए उसे अधिक धन संचय करना पड़ेगा।

(६) स्वभाव

कुछ मनुष्यों का स्वभाव ही धन को जोड कर रखने का होता है। कोई-कोई तो पेट काट कर, कष्ट सहकर भी धन जमा करते जाते है।

(७) उदारता

कुछ मनुष्यों मे अपने अथवा अपने परिवारवालों के लिए धन-संचय करने की उतनी प्रवृत्ति नही होती। पर वे देश, समाज, धर्म अथवा दीन-दुखियों के लिए ख़ुद कुछ कष्ट सह कर भी धन संचय करते हैं। ऐसे लोग सादा जीवन विता कर भी परोपकार के लिए ख़ासी पूँजी जमा कर जाते है।

(८) पेशे का तथा धार्मिक विचारों का प्रभाव

कुछ पेशे ऐसे होते है जिन के कारण मनुष्य मे संचय करने की प्रवृत्ति ही नही रहने पाती, क्योंकि उन्हें यह निश्चय नही रहता कि वे उस संचित धन का उपयोग भी कर सकेंगे। ऐसे पेशे वे हैं जिन में सदा मृत्यु का भय लगा रहता है। पर इन पेशेवालो को अपने आत्मीयों,

स्त्री, पुत्रादि की जीविका की अपेक्षाकृत अधिक चिंता होना स्वाभाविक ही है। अस्तु, ऐसी दशा में वे अन्य मनुष्यों से अधिक संचय करने के लिए चिंताशील रहते है, क्योंकि उन्हें डर रहता है कि न जाने कब वे उठ जायें और उन के स्त्री-पुत्रों को विपत्ति का सामना करना पड़े। अस्तु वे अपेक्षाकृत अधिक संचय करते हैं।

धार्मिक विचारों का भी मनुष्य की संचय करने की इच्छा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिन धर्मों में इस जगत को मायाजाल, क्षणिक और असार माना जाता है, तथा इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उन धर्म वालों में संचय करने की प्रवृत्ति बहुत कम होना स्वाभाविक ही है। किंतु ऐसे धर्मवाले भी परोपकार तथा धर्म के कामों के लिए धन-संचय में प्रवृत होते ही है।

ऊपर धन-संचय के उन कारणों का वर्णन किया गया है जिन का मनुष्य की इच्छा और मन से संबंध है। किंतु मनुष्य की इच्छा ही सब कुछ नहीं है। इच्छा होने पर भी संचय की शक्ति और सुविधा न रहने से धन का संचय कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी होगा। संचय की शक्ति और सुविधा वाह्य परिस्थितियों पर निर्भर रहती है।

बाह्य स्थिति और कारण

उपभोग, तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही धनोत्पत्ति होती है। यदि केवल इतना ही धन उत्पन्न हो सके कि उस से केवल किसी तरह जीवन निर्वाह मात्र हो सके तो ऐसी दशा में धन का बच कर संचित होना संभव नहीं। अस्तु, धन-संचय तभी हो सकता है जब इतना धन उत्पन्न हो कि जीवन-निर्वाह के लिए काम में आने के बाद भी उस में से कुछ हिस्सा बच जाय। बचत पर ही संचय-शक्ति निर्भर रहती है।

संचय की शक्ति

एक ख़ास बात ध्यान देने योग्य है। संचय की शक्ति और इच्छा

सचय की सुविधा

होने पर भी यदि संचय के लिए सुविधाएं न हों तो संचय होना कठिन होगा। संचय की सुविधा में नोचे लिखी बाते समावेशित हैं :—

जीवन और सपति की रक्षा

लोग धन-संचय तभी करेंगे जब उन्हे पूर्ण विश्वास होगा कि जान-माल का कोई ख़तरा नही है, वे जो धन जोडेंगे उसे .खुद उपभोग कर सकेंगे। इस के लिए देश के अंदर शांति, सुव्यवस्था और न्याय-कानून की तथा देश के बाहर से आक्रमणों के रोकने का ठीक-ठीक प्रबंध हो। यदि लोगों को यह भय होगा कि वे जो संचय करेंगे उसे चोर, डाकू, अन्यायी राज-कर्मचारी या बाहरी लुटेरे आदि उन से छीन ले जायँगे तो वे शक्ति और इच्छा रहने पर भी संचय न करेंगे। अस्तु, बाहरी-भीतरी अशांति, अराजकता, अत्यधिक कर तथा प्रजा-शोषक कानून आदि धन-संचय करने के लिए बहुत ही घातक है।

मुद्रा

मुद्रा के व्यवहार के कारण धन-संचय की सुविधा बहुत अधिक बढ गई है। मुद्रा के व्यवहार के पूर्व धन-संचय करने वालों को गुड तेल अन्न वस्त्र, फल, शाकपात, लकडी सभी पदार्थों को जमा करके रखना पडता था, जिस से एक तो इन वस्तुओं के संचय करने मे स्थान अधिक लगता था, दूसरे ये गुप्त रूप से छिपा कर नहीं रक्खी जा सकती थीं। अस्तु, चोरी-डाके आदि का ज़्यादा खतरा रहता था। तीसरे इन के जल्दी बिगड जाने का सदा भय लगा रहता था और इन के बिगड जाने से हानि उठानी पडती थी। मुद्रा के व्यवहार से ये सब असुविधाएं दूर हो गई है, और धन-संचय के कार्य मे बहुत सुगमता तथा वृद्धि हो गई है। मुद्रा के वस्तुओं के विनियम का माध्यम तथा साधन होने से उस के द्वारा सभी वस्तुएं आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। अस्तु, अब धन-संचय मे बहुत अधिक सुविधा हो गई है।

बैंक, ज्वाइंट स्टॉक कंपनी, इंश्योंरेस आदि सुरक्षित तथा लाभ-

दायक साधनों के कारण संचय की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। यदि पूँजी लगाने के सुरक्षित तथा लाभदायक साधन न हों तो संचय करने की इच्छा तथा शक्ति रहने पर भी लोग संचय करने के लिए उतने उत्साहित न हो सकेंगे, क्योंकि उन्हें संचित धन को अपने पास रखना पड़ेगा। अस्तु, उस की रक्षा आदि संबंधी व्यय तथा चिंता बढ़ेगी। यदि देश में संचित धन को ऐसे कामों में लगाने की सुविधा हो जिन से लाभ (ब्याज आदि के रूप में) भी हो तथा धन की रक्षा की चिंता और व्यय से मुक्ति मिले तो संचय की प्रवृत्ति अवश्य ही बहुत बढ़ जायगी। वर्तमान काल में बैंकों, सेविंग बैंकों, इंश्योरेंस कंपनियों, सहयोग-समितियों, ज्वाइंट स्टॉक कंपनियों आदि में ब्याज या लाभ के नियमों पर पूँजी आसानी से लगाई जा सकती है और कानूनन सुरक्षित भी रहती है। अस्तु, सभी सभ्य देशों में धन-संचय की प्रवृत्ति बढ़ गई है।

प्राकृतिक स्थिति

प्राकृतिक स्थिति का भी संचय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जिन प्रदेशों में अति-वृष्टि अनावृष्टि, बाढ़, भूकंप, रोग आदि के कारण भयंकर दुर्घटनाएं होती रहती हैं और हरदम विनाश की आशंका लगी रहती है वहां अपेक्षाकृत शांत प्रदेशों से कम धन से संचय की संभावना होती है।

सूद की दर

धन-संचय ख़र्च को रोकने का फल है। अस्तु, इस के लिए जो पुरस्कार दिया जाता है उसे सूद कहते हैं। अन्य सभी वस्तुओं के समान रहने पर सूद की दर अधिक होने पर धन-संचय अधिक होगा क्योंकि लाभ अधिक होने से अधिक धन-संचय की प्रवृत्ति होगी।

अध्याय १४

मशीन

मशीनों की गिनती पूँजी के ही अंदर होती है। आजकल धनोत्पत्ति के कार्यों में पूँजी का एक बहुत बडा भाग मशीनो के रूप मे लगा हुआ देख पड़ेगा। प्रतिदिन मशीनों का उपयोग बढता चला जा रहा है। इसी कारण इसे मशीन-युग कहते है। संसार के प्राय. सभी छोटे-बड़े कामो मे मशीनों का उपयोग किया जा रहा है। मशीन-युग बहुत पुराना नहीं है। अठारहवीं सदी के मध्यकाल तक मशीनों का वैसा ज़ोर न था। अठारहवीं सदी के मध्य से ही सब से पहले इंगलैंड मे मशीन-युग और पूँजीवाद का आरंभ हुआ। धीरे-धीरे जर्मनी और यूरोप के अन्य देशों तथा अमरीका ने इंगलैंड का रास्ता पकडा। भारत आदि देशों मे तो आज भी मशीन-युग पूरी तरह से नहीं शुरू हो सका है।

मशीन-युग

आदि-काल से ही मनुष्य कम से कम श्रम और प्रयत्न द्वारा अधिक से अधिक कार्य करने की चेष्टा मे रहता चला आ रहा है। इसी धुन में उस ने अनेक तरह के औज़ार बनाए, पशुओं से काम लिया; जल, वायु, भाप, तेल, बिजली आदि की शक्तियों से सहायता लेना शुरू किया। इन सब के लिए वह बराबर नए-नए यंत्र बनाता और पुराने यंत्रों में सुधार करता गया। इसी विकास-क्रम की चरम सीमा मशीन-युग है। मशीन और औज़ार मे यों केवल प्रकार या दर्जे का अंतर मात्र है।

मशीन और औजार

कार्ल मार्क्स के अनुसार मशीन के तीन भाग होते हैं, जो यांत्रिक

रूप में एक साथ सम्मिलित होने पर भी भिन्न होते हैं : (१) मोटर या संचालक यंत्र, (२) शक्तिप्रसारक यंत्र, और (३) औजार अथवा काम करने वाला यंत्र। संचालक यंत्र द्वारा कुल मशीन में चलने की शक्ति आती है। प्रसारक यंत्र संचालन-शक्ति को नियंत्रित करता तथा काम करनेवाले यंत्रों को प्रसारित और विभाजित करता है। असली काम काम करनेवाले यंत्र द्वारा किया जाता है।

किस तरह के कार्य मशीन द्वारा होते हैं

जो काम बहुत भारी, बारीक, थकानेवाले होते हैं, जिन्हें मनुष्य हाथों द्वारा नहीं कर सकता, या बहुत कठिनता से कर सकता है, और जिन में इतनी अधिक सचाई और शुद्धता की जरूरत पडती है कि मनुष्य के हाथों द्वारा बनाए जाने से उन की सचाई या दुरुस्ती में फर्क पडने का डर रहता है, और जो काम नित्य-नियमित रूप से बराबर एक ही तरह से किए जाते हैं वे सभी मशीन द्वारा बहुत जल्दी, बडी आसानी से और बहुत ही सस्ते में ठीक-ठीक हो जाते हैं।

मशीन का प्रभाव

मशीन ने वर्तमान औद्योगिक जगत की कायापलट कर दी है। मशीन ने धनोत्पत्ति की शक्ति और पैमाने ही बदल दिए हैं, प्रतिस्पर्द्धा को बहुत बढा दिया और साथ ही परिमित कर दिया है, और ट्रस्टों और एकाधिपत्यो का रास्ता खोल दिया है, और श्रम के गुण पर और जीवन, बेकारी और वेतन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है।

समाज को मशीन से लाभ भी हुए है और हानियां भी। पहले लाभों का वर्णन किया जाता है।

मशीन से होनेवाले लाभ

(१) मशीन मनुष्य की अपेक्षा बहुत तेजी से और अधिक परिमाण में और अधिक अच्छी तरह से कार्य कर सकती है। इस प्रकार मशीन के कारण उत्पादन की शक्ति और गुण बहुत अधिक बढ गए है। आज छापे की मशीन

केवल एक घंटे मे २० मील लंबा अखबार छाप सकती है, और एक मशीन से एक घंटे मे करीब तीन लाख दियासलाइयां बन सकती है।

(२) भारी से भारी और कठिन से कठिन काम मशीन के द्वारा आसानी से हो सकते है। ये काम मनुष्य बिना मशीन के नही कर सकता या कठिनता से कर सकता था। आज हजार मन वज़न वाला एक-एक हथौडा उन मोटे लोहे के पत्तरों को बात की बात मे पीट कर तैयार कर देता है जिन्हे बडी से बडी तोप के गोले नही उडा सकते।

(३) बहुत ही महीन और बारीक, नाजुक काम जो हाथों के ज़रिए मनुष्य या तो कर ही नही सकता या मुश्किल से कर सकता है, मशीन के द्वारा आसानी से और जल्दी हो जाते है।

(४) कुछ बहुत ही सचाई और दुरुस्ती के काम मशीन द्वारा बिलकुल ठीक-ठीक हो जाते है, जो हाथ से नही किए जा सकते।

(५) मशीन द्वारा एक ही नाप, नमूने, आकार-प्रकार की बहुत-सी वस्तुएं, मशीनो के पुर्ज़े आदि बनते है जो हाथों से नही बन सकते। इस कारण आजकल मशीनों और उन के पुर्ज़ों का व्यवहार बढ़ रहा है, क्योंकि एक पुर्जे के ख़राब होने पर ठीक उसी तरह का दूसरा पुर्ज़ा आसानी से और सस्ते मे लगाया जा सकता है। इस से उत्पादन की शक्ति और भी अधिक बढ़ रही है।

(६) अधिक से अधिक संचालक-शक्ति को मनुष्य के वश में करके मशीन उस की उत्पादन शक्ति बहुत बढा देती है। मशीन मनुष्य को (अ) यांत्रिक युक्तियो द्वारा मनुष्य की तथा प्रकृति की शक्तियो का अधिक से अधिक और उचित से उचित उपयोग कर लेने की शक्ति प्रदान करती है। (आ) मशीन मनुष्य को वायु, जल, भाप, बिजली, रासायनिक प्रयोग आदि सभी तरह की संचालक-शक्तियो को काम में ले आने की शक्ति दे देती है।

(७) मशीन के चलाने के लिए ऐसे मनुष्यों की ज़रूरत पड़ती है जो

समझ और ज़िम्मेदारी से काम कर सके। अस्तु, मशीन के कारण बुद्धि, चरित्र तथा जिम्मेदारी की वृद्धि होती है।

भारी, थकानेवाले, नीरस, गंदे कामों को करके मशीन मनुष्य के शारीरिक और मानसिक कष्ट को कम करती और सुख और उन्नति के साधनों को बढ़ाती है। क्योंकि भारी और थकावट लानेवाले कामों से .फ़ुरसत पाने के कारण मनुष्य के शरीर को आज उतना थकना और कष्ट उठाना नहीं पड़ता। दूसरे गंदे और नीरस कामों से फ़ुरसत पाने के कारण मज़दूरों के जीवन की नीरसता और गंदगी बहुत कुछ दूर हो गई है। अस्तु उन के जीवन में अब उबानेवाली एक तरह का काम करने की नीरसता उतनी नहीं रह गई है। मशीन से काम करने के कारण मज़दूर के शरीर को कम कष्ट पहुँचता है और कम थकावट आती है। इस से उस के मन और मस्तिष्क बहुत कुछ ताजे रहते है। इस लिए काम के समय और काम के बाद भी वह अधिक अच्छी तरह से जीवन का रस बनाए रख सकता है और आत्मोन्नति कर सकता है।

(६) मशीन के कारण भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधों (तथा समय और दूरी) की भिन्नता, पृथकता आदि बहुत कुछ दूर हो गई है। पहले एक तरह के उद्योग-धंधे से दूसरे तरह के उद्योग-धंधे में जाना बहुत कठिन था, क्योंकि प्रत्येक उद्योग-धंधे का पूरा काम सीखना सरल न था और न जल्दी सीखा जा सकता था। अब मशीनों के करीब-करीब एक-सी होने के कारण एक उद्योग-धंधे में काम करनेवाला व्यक्ति आसानी से और कम समय ही में उसी तरह के दूसरे उद्योग-धंधे में लग सकता है, क्योंकि मशीनें कुछ ही फेरफार के साथ करीब-करीब एक ही सी होती है। दूसरे मशीनों द्वारा काम जल्दी होने से महीनों का काम कुछ दिनों और घंटों में हो जाता है, और बात की बात में दूर से दूर स्थान में पहुँचा जा सकता है, और हजारों मील दूर बैठ कर भी लोगों से सलाह, मशविरा, सौदा, लेन-देन किया जा सकता है।

(१०) मशीन के द्वारा उत्पन्न होने के कारण वस्तुएं बहुत सस्ती और सुलभ हो गई है, अस्तु ग़रीब से ग़रीब उन का उपयोग करके जीवन का सुख और अपने रहन-सहन का दर्जा बढा सकता है। जो वस्तुएं पहले बादशाहो, शहंशाहो को बहुत ख़र्च करने पर भी मुश्किल से मिलती थी वे आज मज़दूरों के उपभोग मे आने लगी है। इस से सभ्यता मे बहुत वृद्धि हुई है।

मशीनों से केवल लाभ ही नही होते, कुछ हानियां भी होती है। अब आगे मशीन से होनेवाली हानियों का वर्णन किया जाता है :—

(१) एक मशीन बहुत से आदमियों का काम कर लेती है इस लिए उस उद्योग-धंधे मे बहुत से मज़दूर काम से अलग कर दिए जाते है।

ऊपर के आक्षेप का उत्तर है। काम से अलग किए गए मज़दूरों मे से कुछ तो मशीन बनाने मे लग जाते हैं, कुछ उसी उद्योग-धंधे मे फिर से लगा लिए जाते है क्योंकि माल के सस्ते होने से उस की वस्तुओं की माँग बढ जाती है, अस्तु पहले से कही अधिक माल बनाना पडता है, और सस्ते माल और आविष्कारां के कारण नए-नए पदार्थों के निकलते रहने पर उन सब उद्योग-धंधों तथा उन के लिए मशीने बनाने में मज़दूर खप जाते है। अस्तु, मशीन के प्रयोग किए जाने के समय पहले ज़रूर कुछ मजदूर बेकार हो जाते है पर बाद मे वे किसी न किसी काम मे लग जाते है।

(२) हाथ से बना माल मशीन के बने माल की अपेक्षा मँहगा पडता है इस कारण उस की अधिक खपत नही होती। इस से कला-कौशल और दस्तकारी को भारी हानि उठानी पडती है और कुशल कारीगरों को या तो भूखों मरना पडता है या साधारण अकुशल श्रमी की तरह कम वेतन पर मोटा काम करना पडता है। इस प्रकार मशीन के कारण कला-कौशल को भारी धक्का लगता है।

उत्तर मे कहा जा सकता है कि पहले तो कुशल कारीगर मशीन चलाने वाले बन कर ऊँची मज़दूरी पा सकते है। मशीन चलाने में कौशल और

बुद्धि की जरूरत पडती है। दूसरे, मशीन से बनी वस्तुओं के सस्ते होने के कारण उन की खपत बढ जाती है अस्तु नई-नई डिजाइनों आदि के लिए कला-कौशल, कारीगरी की माँग पहले से बहुत बढ गई है इस कारण कुशल कारीगर की वैसी हानि मशीन युग में भी नहीं हुई है। और न कला-कौशल को वैसा धक्का ही पहुँचा है।

(३) मशीन से माल जल्द और अधिक परिमाण मे तैयार होता है। इस कारण इतना अधिक माल तैयार कर लिया जाता है कि उस की कुल तादाद जल्दी और आसानी से खप नहीं सकती। इस कारण प्रतिद्वंद्विता बढ गई है और बाजारों पर कब्जा करने की धुन में अंतराष्ट्रीय जगत मे बडा संघर्ष और द्वेष पैदा हो गया है, तथा मनोमालिन्य बढ गया है, अशांति पैदा हो गई है। इस कारण युद्ध की प्रवृत्ति बढती जाती है।

उत्तर मे कह सकते है कि युद्ध और अशांति का मूल कारण मशीन न होकर भिन्न-भिन्न देशों का परस्पर का वैर-विरोध है जो केवल आर्थिक न होकर अन्य कारणो से भी होता रहा है और होता रहेगा। इस मे मशीन का उतना दोष नहीं है जितना कि पारस्परिक सद्भाव, व्यवस्था तथा सहयोग के अभाव का। साथ ही तैयार माल के वितरण कर भी प्रश्न है। उधर माल गोदामों मे भरा पडा रहता है। इधर लाखों प्राणी उस के अभाव में मरते-तडपते रहते है।

(४) मशीन द्वारा जल्दी और अधिक परिमाण मे माल तैयार होने के कारण तैयार किया हुआ माल ठीक से खपता नहीं। इस से व्यापारिक तेजी-मंदी और उस से संबंध रखनेवाली बेकारी, मजदूरी मे कमी आदि उत्पन्न होती है। इस से मजदूर वर्ग को बडी हानि उठानी पडती है।

इस का उत्तर यह है कि यह मशीन का दोष न होकर परस्पर की सद्भावना, सुव्यवस्था, सहयोग के अभाव तथा उचित वितरण के न होने का फल है।

(५) मशीनों का प्रयोग जिन देशो मे अधिक होता है उन मे मजदूरो

और पूँजीपतियों मे भीषण संघर्ष, वैर-विरोध, हड़ताल और तालाबंदी आदि भीषण परिस्थितियां उपस्थित हो जाती है। कारख़ानों के आसपास घनी तथा गंदी बस्तियों के बढने के कारण सदाचार, स्वास्थ्य, आरोग्यता का ह्रास देख पडता है; और इन सब बातो के कारण व्यक्तियों तथा सारे समाज को हानि उठानी पडती है।

इस का जवाब यह है कि सद्भावना, सुव्यवस्था, तथा सहयोग से पूँजी और श्रम का संघर्ष दूर किया जा सकता है तथा सदाचार और स्वास्थ्य के बारे में बहुत कुछ सुधार हो सकता है और किया जा रहा है।

(६) मशीन के साथ काम करनेवाला मनुष्य ख़ुद मशीन बन जाता है। उसे अपने दिमाग से काम लेने की ज़रूरत नही पडती। वह एक-सा काम करते रहने और मशीन की तेजी के साथ उतनी ही फुर्ती से बराबर लगे रहने के लिए बाध्य रहता है। अस्तु, वह मशीन का एक निर्जीव-सा पुर्ज़ा बन जाता है। इस से उस के शरीर पर भी बडा असर पडता है, अधिक थकावट उस के एक अंग विशेष मे आती है। एक-सा काम करने के कारण कुछ रस और नवीनता नही रह जाती। इस से काम नीरस और उबाने-वाला हो जाता है। मनुष्य को मानसिक, शारीरिक उन्नति करने का मौका न मिलने से उस का मानसिक और नैतिक ह्रास होने लगता है।

इस आक्षेप के उत्तर मे हम कह सकते है कि मशीन के साथ काम करने से मनुष्य मे तत्परता, तेजी और व्यवस्था आ जाती है। काम के घंटे मे कमी होने से उसे मनोरंजन, अध्ययन, और मिलने-मिलाने तथा आत्मोन्नति करने के लिए अधिक समय मिलता है। इस से उस का जीवन एक-सा न रह कर सरस और वैचित्र्यपूर्ण तथा सुखकर हो जाता है। काम की एकता तथा नीरसता से जीवन की एकता तथा नीरसता कहीं अधिक हानिकर होती है। मशीन के कारण मनुष्य के जीवन मे एकता-नीरसता नही आने पाती। साथ ही मशीनों के कारण तरह-तरह के सामान सस्ते होने से श्रमी को अधिक और विविध भाँति की उपभोग की समग्री मिलने

से उस का जीवन अधिक सुखद हो जाता है। अस्तु मशीन के साथ का काम कड़ा और तेज़ रहने पर भी उतना हानिकर नहीं हो पाता।

अंत में यह मान लेना पड़ेगा कि मशीन के कारण मनुष्य की उत्पादन और उपभोग-शक्ति बहुत बढ़ गई है। मशीन के कारण होनेवाले लाभ बहुत अधिक है। जो हानिया होती है वे मशीन के कारण न होकर पूँजीपतियो के स्वार्थ के और स्थिति के दुरुपयोग के कारण होती है और ये सुव्यवस्था द्वारा दूर की जा सकती है। मशीन मनुष्य के लाभ के लिए है, न कि मनुष्य मशीन के लिए।

में, कैसे माल ले जाना या मँगाना चाहिए, कैसे माल का विज्ञापन करना चाहिए तथा अपने तैयार माल के बारे में किस बाजार की क्या, कैसी रुचि और माँग होगी इस का पता रख कर अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिए ?

प्रबंध और श्रम

वैसे तो प्रबंध श्रम ही के अंतर्गत आता है, पर उत्पत्ति में अधिक महत्व रखने के कारण प्रबंध उत्पत्ति का एक स्वतंत्र साधन माना जाता है। दोनों में भेद केवल यह है कि श्रमी को अधिकतर शारीरिक मेहनत करनी पड़ती है, किंतु प्रबंधक का कार्य बहुत कुछ मानसिक होता है। दूसरे, श्रमी को प्रबंधक द्वारा निर्धारित किया हुआ काम करना पड़ता है। किंतु प्रबंधक स्वयं यह निर्णय करता है कि कौन श्रमी क्या काम करे और कैसे और किस साधन का कितने परिमाण में, कब, कैसा उपयोग किया जाए।

प्रबंधक के गुण

ऊपर लिखे कामों में सफलता प्राप्त करने लिए यह जरूरी है कि प्रबंधक में उत्पत्ति के विविध उपयुक्त साधनों के जुटाने तथा उन में से अच्छे, किंतु सस्ते, उपयुक्त साधन चुन कर काम में ला सकने की योग्यता होनी चाहिए। वह इस तरह दूरदर्शिता, से काम ले कि कोई उस से असंतुष्ट न हो। और न उसे यह देखने के लिए अधिक निरीक्षण की आवश्यकता पड़े कि उस का बतलाया हुआ काम ठीक से हो रहा है या नहीं। उसे बाजार की स्थिति, माँग, पूर्ति के, रुचि तथा रुचि परिवर्तन, और सामाजिक मनोविज्ञान तथा नवीन आविष्कारों, यंत्रों, औजारों, देशों, यातायात, विज्ञापन के साधनों आदि का पूरा ज्ञान होना चाहिए ताकि सब साधन ठीक से जुटा कर वह आवश्यक माल, उचित मात्रा में तैयार करके, उचित यातायात द्वारा ठीक बाजार में भेज कर, उचित विज्ञापन करने के बाद अधिक से अधिक तादाद में, ठीक दामों पर बेच सके, ताकि अधिक से अधिक लाभ हो। सब से ज़रूरी बात यह है कि वह प्रतिस्थापन सिद्धांत को उपयोग में ला सके और हर

तरह के आदमियों और साधनों से काम ले सके।

इस सिद्धांत के अनुसार कोई एक साधन वही तक, उसी मात्रा मे उत्पत्ति के काम मे लगाया जा सकता है जब तक कि उस के उतने उपयोग से उत्पत्ति मे अन्य दूसरे साधनों के उस के स्थान पर उपयुक्त होने के बजाय अधिक उत्पत्ति हो, पर खर्च कम पड़े। यदि किसी काम मे दस मज़दूर लगाने से १०० रुपए खर्च करना पडता है, किंतु वही काम एक मशीन ७५ रुपए खर्च मे पूरा कर देती है तो प्रतिस्थापन सिद्धांत के अनुसार उन दस मज़दूरों के स्थान मे एक मशीन से काम लेना अधिक लाभदायक होगा। अस्तु प्रबंधक प्रत्येक साधन को अपने उत्पत्ति के काम मे केवल उतने ही परिमाण मे लगाएगा जिसे प्रत्येक साधन पर व्यय होनेवाली रकम की अंतिम इकाई का प्रतिफल दूसरे किसी साधन पर व्यय होनेवाली रकम की अंतिम इकाई के समान ही हो। प्रबधक मँहगे साधनो के स्थान पर सस्ते साधनों का उपयोग अधिक मात्रा मे करेगा।

समसीमात या प्रतिस्थापन सिद्धात

यह उपयोग दो तरह का होगा—(१) एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का उपयोग, जैसे श्रम के स्थान पर पूँजी और पूँजी के स्थान पर श्रम, जैसे मजदूरों को निकाल कर मशीन से काम लेना। (२) उसी साधन के किसी दूसरे प्रकार से काम लेने लगना, जैसे कुशल कारीगरों या श्रमियो के स्थान मे अकुशल, साधारण श्रमियो से काम लेना। साधारण मशीन के स्थान मे और अधिक बढिया मशीन काम मे लाना। प्रबंधक हमेशा इस बात की चेष्टा करता रहेगा कि साधनो को इस क्रम और परिमाण मे लगाया जाय कि उत्पादन-व्यय कम से कम हो, साथ ही उत्पत्ति अधिक से अधिक हो।

अध्याय १६

उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण

अनेक कारणों से किसी एक खास जगह में कुछ खास उद्योग-धंधे जम कर चलने लगते है। इसी को अर्थशास्त्र में उद्योग-धंधे का स्थानीयकरण अथवा भौगोलिक श्रम-विभाग कहते है।

स्थानीयकरण के कारण

अनेक बाते ऐसी होती है जिन के कारण कोई एक खास उद्योग-धंधा एक खास स्थान में चलाने से कम से कम ख़र्च में अधिक से अधिक माल तैयार किया जा सकता है और अधिक से अधिक लाभ हो सकता है। कभी-कभी एक स्थान पर का स्थानीयकरण एक से अधिक कारणों से होता है। नीचे उन कारणो का विवरण दिया गया है :—

(१) प्राकृतिक

कुछ दशाओ मे किसी एक स्थान के जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति, ज़मीन की उत्पादक शक्ति, उस स्थान की खास पैदावार, खास वनस्पति, खास खनिज पदार्थ अथवा संचालक शक्ति आदि किसी विशेष प्रकार के उद्योग-धंधे के लिए बहुत अधिक सुविधा प्रदान करके कारखानों को उस स्थान पर स्थापित किए जाने में बडी सहायता देते है। लोहे की खानो के पास लोहे के कारख़ानों का स्थानीयकरण इस का उदाहरण है। जंगलों मे लकडी चीरने के कारखाने स्थापित करने से अधिक सुविधा होती है। इसी तरह कभी-कभी किसी स्थान की जलवायु किसी खास उद्योग-धंधे के लिए उस स्थान को सब से अधिक उपयुक्त बना देती है। मैंचेस्टर और बंबई की नम वायु कपड़े के कारखानो के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई है। कभी-कभी कारख़ाने संचालक शक्ति के स्थानों के पास स्थापित किए जाते है ताकि संचालक

शक्ति आसानी से प्राप्त हो सके।

कुछ ऐसे आर्थिक कारण पड जाते है जो किसी एक स्थान को किसी एक उद्योग-धंधे के लिए अधिक सुविधाजनक बना देते है। जिन स्थानों मे माल को लेआने लेजाने की सुविधा, रेल, जहाज़, नाव, सडक, नहर, नदी, समुद्र आदि के कारण अधिक होती है वहां, अन्य सब बातों के समान रहने पर, अधिक स्थानीयकरण होगा, क्योंकि तैयार माल को बाज़ारों मे पहुँचाने और कच्चे माल, मशीन, औज़ार आदि को कारख़ानों मे लाने मे अधिक सुविधा होगी।

(२) आर्थिक

दूसरे, अन्य बातों के समान रहने पर, जहा श्रमी अधिक संख्या में, अधिक अच्छे और सस्ते मिलेगे वहां उद्योग-धंधो के स्थानीयकरण की प्रवृत्ति अधिक होगी। इसी तरह जहा अपेक्षाकृत पूँजी अधिक आसानी से तथा कम सूद पर मिल सकेगी तथा जहां व्यापारिक स्थिति अधिक अच्छी होगी वहां भी स्थानीयकरण अधिक होगा।

जिन स्थानों में सरकार या राजा आदि के द्वारा किसी उद्योग-धंधे या कलाकौशल को किसी प्रकार का संरक्षण या प्रोत्साहन दिया जाता है वहां उस उद्योगधंधे का स्थानीयकरण होना स्वाभाविक ही है।

(३) राजनीतिक

कभी-कभी किसी स्थान विशेष मे कोई मनुष्य या दल किसी तरह का उद्योग प्रारंभ कर देता है। उस के सफल होने पर वह स्थान उस काम के लिए मशहूर हो जाता है। बाद मे अनेक कारणों से अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त होने लगती है और वह स्थान स्थानीयकरण के उपयुक्त समझा जाने लगता है, क्योंकि वहां एक तो श्रमी उस काम मे कुशल हो जाते हैं। दूसरे, कच्चे मालवाले उस स्थान पर सुविधा से कच्चा माल भेजने लगते है। तीसरे, हर तरह के श्रमी वहां काम पाने की आशा से आने लगते है। चौथे, पूँजी भी वहां सुभीते से मिलने लगती है। पाँचवे, तैयार माल

(४) पहले प्रारंभ होना

के ग्राहक उसी स्थान पर अधिक आते है। फिर इन सब बातो के कारण अनुकूल वातावरण पैदा हो जाता है। अस्तु, जिन्हे कारखाने खोलने होते है वे उसी स्थान को सब से उपयुक्त समझते है। इस प्रकार पहले किसी कारख़ाने का प्रारंभ हो जाना भी स्थानीयकरण का एक ज़बरदस्त कारण हो जाता है।

स्थानीयकरण के विरोधी कारण

इन ऊपर लिखे कारणो से एक स्थान पर किसी उद्योग-धंधे का स्थानीय करण होता है। पर कुछ ऐसी बाते भी है जो स्थानीयकरण को रोकती है। यातायात के साधनो मे आशातीत उन्नति होने के कारण अब माल ले आना ले जाना उतना कठिन और महँगा नही रह गया है। इस कारण अब कारख़ानो के किसी खास बाजार, मडी, खान, कच्चे माल के स्थान आदि के पास स्थापित करना उतना जरूरी नहीं रह गया है।

दूसरे, बिजली आदि संचालक शक्ति के सस्ते हो जाने और दूर-दूर तक आसानी से पहुँच सकने के कारण भी अब स्थानीयकरण उतना ज़रूरी नही रह गया है। तीसरे, नगरों की जमीन के महँगी हो जाने से भी स्थानीयकरण मे बाधा पडने लगी है और नए कारखानो को दूर-दूर स्थापित करने की प्रवृत्ति बढने लगी है।

स्थानीयकरण योग्य उद्योगधधे

सभी उद्योग-धधे स्थानीयकरण के उपयुक्त नहीं होते। केवल उन्हीं उद्योग-धंधो का स्थानीयकरण हो सकता है जिन की उत्पत्ति बडे पैमाने पर हो, जिन के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की माँग स्थिर और अधिक हो, जिन के माल का बाजार बडा हो और जिन का माल आसानी से, कम खर्च मे, और कम से कम हानि उठा कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक तथा दूर तक पहुँचाया जा सकता है। इस से यह स्पष्ट है कि जिन वस्तुओं की माँग कम हो और वह माँग स्थिर न होकर, घटती-बढती रहे, जो वस्तुएं जल्दी ख़राब होनेवाली हों, जो वस्तुएं इतनी भारी हो कि उन के ले जाने मे

बहुत खर्च पड़े और कठिनाई हो उन को उत्पन्न करनेवाले उद्योग-धंधे स्थानीयकरण के लिए उपयुक्त नही होते ।

स्थानीयकरण से जनता और उत्पादकों तथा व्यवसायियों को समान रूप से अनेक लाभ होते है । हम यहां पर उन मे से केवल मुख्य-मुख्य लाभों का वर्णन कर रहे है ।

स्थानीयकरण से लाभ

(१) उस ख़ास उद्योगधंधे का नाम चारो तरफ मशहूर हो जाता है जिस से उस वस्तु के ग्राहक दूर-दूर से आते रहते है । फिर एक वार मशहूर हो जाने के कारण उस वस्तु के दाम भी अच्छे लगते है । उस वस्तु से संबंध रखनेवाले श्रम, औजार, मशीन, कच्चे माल आदि वहां आप से आप पहुँचते रहते है । इन सब बातों से काफी लाभ होता है ।

(२) उस उद्योगधंधे से संबंध रखनेवाले हर प्रकार के श्रमी वहां काम पाने की ग़रज से आते है और उन्हे काम मिलता रहता है । इस कारण उस वस्तु के कारख़ाने वालों को उस काम के लिए कुशल और साधारण श्रमियों की कमी ही पडती है और ढूंढने की तरद्दुद नही उठानी पडती । हर तरह के श्रमी आसानी और कम वेतन पर मिलते रहते है । साथ ही वहां वालों के लिए उस काम के विषय मे काफी जानकारी हो जाती है, और श्रमियों के लडके आदि आसानी से उस काम को सीख जाते है । इस से आगे के लिए श्रमियों की तैयारी आसानी से होती रहती है । उसी वस्तु के अन्य कारखाने खोलनेवालों को इस से वडी सहूलियत होती है ।

(३) उस उद्योग-धंधे मे लगे हुए लोगों को और उसी उद्योग मे लगनेवाले नए व्यक्तियों को आसानी से पूँजी मिल सकती है, क्योंकि वहां की स्थिति से पूर्ण परिचित रहने से पूँजी देनेवाले उस काम में पूँजी लगाने को अधिक आसानी से तैयार रहते है ।

(४) एक ही वस्तु को तैयार करनेवाले अनेक कारख़ानो के एक ही स्थान मे होने के कारण सब या अधिकांश कारख़ानेवाले एक साथ मिल कर ऊँचे दर्जे की मशीन, विशेषज्ञ आदि रख सकते हैं और पारी-पारी से

उपयोग मे लाकर कम से कम ख़र्च में अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। साथ ही उन सब मे से किसी एक मे नवीन आविष्कार, सुधार आदि होने से दूसरे सभी उस मे लाभ उठा सकते हैं और आपस में विचार विनिमय करके अनेक सुधार और आविष्कार कर सक्ते हैं।

(५) कई कारख़ाने एक साथ होने मे प्रत्येक मे जो छीज निकलती है वह काम मे लाई जा सकती है। यदि हर एक कारख़ाना अलग-अलग रहे तो छीज के पदार्थ की मात्रा इतनी अधिक नहीं भी हो सकती कि उस के लिए अलग कारख़ाना चलाया जा सके। किंतु एक ही तरह की वस्तु बनाने वाले अनेक कारख़ानो मे छीज के पदार्थ की मात्रा एक स्वतंत्र कार-ख़ाना चलाने लायक हो सकती है। अस्तु, भिन्न-भिन्न कारखानों मे जो वस्तु छीज के रूप व्यर्थ जाती थी वह काम मे लाई जा सकती है और इस प्रकार एक गौण वस्तु का कारखाना नए सिरे से चलाया जा सकता है, जिस से सब को लाभ होने लगता है और व्यर्थ का नुकसान बचाया जा सकता है। छीज से तैयार गौण वस्तु के कारखाने को यातायात, महाजनी, बैंकिंग आदि की वे सब सुविधाएं सुगमता से प्राप्त हो जाती हैं जो मुख्य वस्तु के लिए रहती हैं।

(६) अनेक कारखानों को औजार, मशीन, कच्चा माल आदि देने तथा यातायात, बैंकिंग, आदि द्वारा सहायता देने के लिए उस स्थान पर अनेक अन्य पूरक उद्योग-धंधे चल पड़ते हैं।

दूसरे उस स्थान मे अन्य प्रकार के श्रम को काम में लाने के लिए अनेक पूरक उद्योग-धंधे भी प्रारंभ हो जाते हैं। जैसे, लोहे के कारखानो मे बलवान मनुष्यों की जरूरत पड़ती है। उन के बाल-बच्चे और स्त्रियां खाली रहती हैं। इस से लोहे के कारखानो को अपने मज़दूरो को अधिक वेतन देना पड़ता है ताकि वे अपने कुटुंब के ख़र्च को चला सकें। ऐसे स्थानों पर स्त्रियो और बालकों के फालतू श्रम को उपयोग मे लाने के लिए अनेक हलके काम के कारख़ाने खुल जाते हैं (जैसे कपड़े आदि की मिलें) जिस से

लोहे के कारखानेवालों को कम ही वेतन मे बलवान मजदूर मिलने लगते है, क्योंकि मजदूर-परिवारों को स्त्री-बालकों के श्रम से भी आय होने लगती है, इस से वे कुछ कम वेतन पर भी लोहे के कारखाने मे काम करते रहते है। इस प्रकार मुख्य और पूरक दोनो प्रकार के उद्योग-धंधो को लाभ पहुँचता है।

स्थानीयकरण से हानिया

किंतु स्थानीयकरण से केवल लाभ ही नहीं होते, कुछ हानियां भी होती है, जिन का विवरण यहां दिया जाता है। (१) स्थानीयकरण के कारण उस स्थान पर केवल एक ही तरह के काम के बाहुल्य के कारण केवल एक ही तरह के श्रम की आवश्यकता होती है। इस से दूसरे तरह के श्रमी जो वहा रहते है बेकार रह जाते है। जैसे, यदि स्थानीयकरण वाले कारखाने ऐसी वस्तु बनाते है जिस मे केवल बलवान पुरुष ही काम कर सकते है तो प्रत्येक कुटुंब के स्त्री, बालक तथा कमज़ोर प्राणी बेकार रहेंगे। इस से कारखानेवालो को अपेक्षाकृत अधिक वेतन देना पड़ेगा, परंतु श्रम-जीवियो को प्रति कुटुंब के विचार से औसत रूप से कम आमदनी होगी। इस से सभी को हानि होगी। इस दोष को सहायक और पूरक उद्योगों द्वारा दूर किया जा सकता है जिस से सभी तरह के श्रम की खपत हो। (२) एक ही तरह के उद्योग-धंधे के स्थानीयकरण से वहां वालो मे बेकारी बढने और आर्थिक मंदी तथा हलचल का बडा भय रहता है, क्योंकि किसी कारण से यदि उस वस्तु की मांग कम पड गई या बंद हो गई तो सभी को हानि उठानी पडती है, क्योंकि सारा काम एक ही वस्तु पर निर्भर रहता है।

यह दोष भी सहायक-पूरक उद्योगों के द्वारा दूर किया जा सकता है, जिस से उस स्थान पर अनेक वस्तुओं की उत्पत्ति होने लगे और किसी-न किसी वस्तु की मांग बनी रहे।

अध्याय १७

उत्पत्ति की मात्रा

जब किसी एक वस्तु का उत्पादन, एक समय मे, एक उत्पादन इकाई से, अधिक तादाद मे होता है तो उसे बडी मात्रा की उत्पत्ति कहते है। इस संबंध मे उत्पादन की इकाई का विचार बहुत जरूरी है। एक स्थान पर स्वतन्त्र-रूप से बहुत से व्यक्ति भिन्न-भिन्न उत्पादन इकाइयो मे किसी एक वस्तु का उत्पादन करते हुए भी बडी मात्रा मे उत्पत्ति करते हुए न माने जायेंगे चाहे उस स्थान मे वह वस्तु कुल मिला कर कितनी ही बडी तादाद मे क्यो न तैयार की जाती हो। इसी तरह एक ही मालिक के एक ही वस्तु के कई कारखाने अलग-अलग, भिन्न-भिन्न उत्पादन इकाइयो मे उत्पादन करते हुए कुल मिला कर चाहे जितनी बडी तादाद उस वस्तु की तैयार करे पर वह भी बडी मात्रा की उत्पत्ति न मानी जायगी। बडी मात्रा की उत्पत्ति के लिए यह ज़रूरी है कि उस वस्तु की उत्पादन इकाई मे जो वस्तु एक बार तैयार हो उस की तादाद अपेक्षाकृत बडी हो।

बडी और छोटी मात्रा की उत्पत्ति

औद्योगिक प्रगति के कारण उत्पादन कार्य मे बहुत बडे उलट फेर हो गए है, और आए दिन होते रहते है। इन सब के कारण बडी मात्रा की उत्पत्ति को बडा प्रोत्साहन मिल रहा है। आवागमन के साधनो से जितनी ही उन्नति होती जा रही है, बाजार का विस्तार भी उतना ही अधिक बढ रहा है। बाजार के विस्तार, श्रमविभाग, मशीन के उपयोग आदि से बडी मात्रा की उत्पत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिल रहा है।

बडी मात्रा की उत्पत्ति से माल तैयार करनेवालो को तैयार माल

सस्ता पडता है और लाभ अधिक होता है, उपभोक्ताओ को अधिक तादाद और कम दामो पर नाना प्रकार की वस्तुएं प्राप्त होती है, और मजदूरों को अधिक वेतन मिलता है और काम करने मे अनेक तरह की सहूलियतें होती है। इन कारणों मे भी वडी मात्रा की उत्पत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होनेवाले लाभ

वडी मात्रा की उत्पत्ति से वहुत से लाभ होते है जिन का वर्णन यहां किया जाता है :—(१) वडी मात्रा की उत्पत्ति मे अनेक तरह के कुशल और अकुशल साधारण श्रमियो और कारीगरो को रख कर, प्रत्येक को उस के उपयुक्त काम मे वरावर लगाए रख कर उन से अधिक मे अधिक काम लिया जा सकता है। साथ ही प्रवंधक भिन्न-भिन्न कार्यो के लिए अच्छे से अच्छे व्यक्तियो को वडी से वडी तनख्वाह पर रख कर खुद देख-रेख, विचार और प्रवध के लिए स्वतत्र रह कर अनेक लाभ की वातें सोच और कर सकता है। इन सब वातों से वहुत किफायत होती है।

(२) अनेक वढिया अप-टू-डेट मशीनों और सुधारो का उपयोग किया जा सकता है, तथा प्रत्येक खास काम के लिए एक खास मशीन काम मे लाई जा सकती है। साथ ही मशीनो आदि की मरम्मत, सुधार, देख-रेख के लिए अपना स्वतंत्र प्रबंध किया जा सकता है, जिस से मरम्मत मे कम खर्च पड़ता है तथा मशीनें ठीक रहती है। इस के साथ ही नए-नए प्रयोगों सुधारो, आविष्कारो के लिए एक स्वतंत्र व्यवस्था की जा सकती है जिस से कारखाने को बहुत बड़ा लाभ होता रहता है। साथ ही बिजली, कोयला आदि संचालक शक्ति के व्यय मे भी कम से कम खर्च पड़ता है।

(३) कच्चे माल, मशीन, औजार आदि खरीदने और तैयार माल वेचने मे बहुत किफायत होती है, क्योंकि अधिक तादाद मे माल खरीदने और लाने-लेजाने से वस्तु का भाव सस्ता पड़ता है, तथा रेल, जहाज आदि का कम भाड़ा देना पड़ता है और अन्य अनेक प्रकार की सुविधाएं

आसानी से प्राप्त हो जाती है। माल वेचने मे भी दाम अधिक अच्छे खडे होते है और वेचने के लिए कमीशन, विज्ञापन-व्यय, कनवेंसिग, भाडा आदि कम देना पडता है। साथ ही अधिक तादाद होने मे खरीदारो को भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार वस्तुएं देकर उन्हें अधिक सतुष्ट किया जा सकता है। तैयार माल भी कम रोकना और रखना पड़ता है। कम सूद पर किंतु अधिक सहूलियत से पूंजी मिल जाती है। इन वातो के अलावा छीज के पदार्थों से गौण वस्तुएं वनाई जाकर व्यर्थ की हानि वचाई जाती है, जो छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे नही वचाई जा सकती। वडी मात्रा की उत्पत्ति मे अपना कच्चा माल आदि ख़ुद ही तैयार किया जा सकता है, इस प्रकार वीच के नफे को खुद उठाया जा सकता है।

(४) भूमि भी औसत हिसाव से कम लगती है, इस से भाड़े मे कमी होती है। एक सौगुने वडे कारखाने को सौगुनी भूमि की दरकार न होकर १०/२० गुनी भूमि मे काम निकल जाता है।

(५) वडी मात्रा मे उत्पत्ति करनेवाले का नाम मशहूर हो जाता है, इस कारण उसे विज्ञापन, कन्वेसिग आदि मे तो किफायत होती ही है, साथ ही रेल, जहाज आदि की कपनियो, वैको, पूँजीपतियो, सरकार आदि से भी काफी सुविधाएं और किफायते, छूटे आदि मिल जाती है, और वहुत लाभ होता रहता है।

(६) वडी मात्रा की उत्पत्ति के लिए वडे और अनेक वाजारो की जरूरत होती है, इस कारण स्थायित्व रहता है, और आर्थिक संकट मे कम पड़ना पड़ता है, क्योकि अनेक वाजार होने से एक वाजार मे तेजी-मदी होने से वैसी विशेष हानि नही होती, क्योकि दूसरे वाजारों द्वारा लाभ उठाया जाकर हानि पूरी की जाती है। छोटी मात्रा और परिमित वाजार वालों के लिए ऐसे सुभीते नही रहते। दूसरे, वडी मात्रा की उत्पत्ति के लिए वडी पूँजी की जरूरत पड़ती है। अस्तु, किसी तरह का संकट का आसानी से सामना किया जा सकता है और प्रतिद्वंद्वियों के साथ डट कर

मोर्चा लिया जा सकता है, और कीमत घटाने के युद्ध मे सफलता प्राप्त की जा सकती है ।

(६) बडी मात्रा की उत्पत्ति के कारण माल सस्ता पडता है, इस से उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुएं आसानी से अधिक संख्या मे और अनेक तरह की मिल सकती है । इस से उपभोक्ताओं तथा समाज को बडा लाभ होता है । दूसरे मजदूरों को वेतन अपेक्षाकृत अधिक मिलता है, और उन के कामों मे अनेक प्रकार की, और अधिक सुविधाएं दी जाती है ।

बाह्य और आभ्यंतरिक बचत

बडी मात्रा की उत्पत्ति मे जो बचत होती है वह दो तरह की है, एक तो बाह्य और दूसरी आभ्यंतरिक । आभ्यंतरिक बचत किसी कारखाने के अंदर व्यवस्था मे सुधार के कारण होनेवाली बचत होती है। जैसे, श्रम-विभाग, अप-टु-डेट मशीन, बढिया औजार के उपयोग द्वारा अथवा कच्चे माल, संचालक-शक्ति आदि के उपयोग मे कमी के द्वारा उत्पादन-व्यय मे कमी की जाय । बाह्य बचत वह बचत है जो अंदरूनी व्यवस्था के कारण न होकर बाहरी व्यवहार द्वारा व्यय मे कमी हो । जैसे, कच्चे माल, मशीन, औजार आदि की खरीद, ढुलाई आदि मे किफायत करने से उत्पादन व्यय मे कमी पड़े ।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की सीमा

बडी मात्रा की उत्पत्ति तभी तक लाभदायक होगी जब तक कि उस मे बाह्य अथवा आभ्यांतरिक बचत की गुंजाइश हो । यदि बचत की गुंजाइश न होगी तो बडी मात्रा की उत्पत्ति की वृद्धि रुक जायगी । कोई भी कारखाना तभी तक बढता चला जायगा जब तक कि श्रम, मशीन, कच्चे माल आदि के उपयोग मे बचत हो अथवा बाहरी लोगो से मिलनेवाली सुविधाओं, रियायतो, छूटों आदि मे वृद्धि होती चली जाय, जिस से उत्पादन-व्यय मे कमी हो सके । किंतु ऐसा समय आता है, जब बडी मात्रा द्वारा होनेवाली बचत बंद हो जाती है, और औसत उत्पादन-व्यय बढने लगता है । इस स्थिति पर पहुंच कर बडी मात्रा मे और अधिक वृद्धि करना हानिकारक होने लगता

है। अस्तु, वह रोक दी जाती है। बडी मात्रा की उत्पत्ति की वृद्धि दो बातों पर निर्भर रहती है, एक तो व्यवस्थापक की योग्यता-क्षमता पर, और दूसरे बाजार की स्थिति पर —

(अ) व्यवस्थापक (प्रबधक तथा साहसी) की योग्यता और क्षमता शक्ति की एक सीमा होती है। एक मनुष्य उतना ही प्रबंध ठीक से कर सकता है जितना कर सकने की उस की योग्यता, क्षमता और शक्ति होती है। उस के बाद वह ठीक से प्रबंध नहीं कर सकता। सीमा के बाहर होने पर जो भी कार्य किया जायगा उस का प्रबध ठीक से न हो सकेगा। इस कारण उस मे उत्पादन-व्यय अधिक बैठेगा, लाभ कम होगा, हानि अधिक।

व्यवस्थापक की क्षमता

(आ) कोई वस्तु तभी तक बनाई जा सकेगी जब तक कि किसी बाजार मे उस की खपत हो। क्योंकि बाजार मे खपत होने मे ही लाभ हो सकेगा। यदि बाजार छोटा होता जाय तो खपत कम होती जायगी, अस्तु उत्पत्ति की मात्रा कम करनी पडेगी। क्योंकि, यदि उत्पत्ति कम न की गई तो कुछ माल बिना बिके, व्यर्थ मे पडा रहेगा और कारखाने को हानि उठानी पडेगी। बाजार जितना ही बडा होगा, उस वस्तु की माँग जितनी अधिक होगी, उस की उत्पत्ति उतनी ही बडी मात्रा मे हो सकेगी।

बाजार की स्थिति

बडी मात्रा की उत्पत्ति को रोकने के कुछ विरोधी कारण भी जोर पकड रहे है। यातायात मे सहूलियत करने और संवाद-समाचार वितरण करने वाले तार, टेलीफून, रेल, जहाज आदि साधनो के कारण छोटी मात्रावालो को भी अनेक ऐसी सुविधाएं हो गई है जिन से वे आसानी से बडी मात्रावालो से मोर्चा लेकर डटे रह सकते है। साथ ही छोटी-छोटी किंतु तेज और अच्छा काम करनेवाली मशीनो के, और घर-घर पहुँचनेवाली सस्ती संचालक-शक्ति के कारण अब कारीगर अपने घर मे बैठ कर भी सस्ते मे वस्तुएं बना सकते

कुछ विरोधी कारण

है। साथ ही सहकारिता सहयोग के कारण छोटी मात्रावाले भी माल के खरीदने-बेचने, लेआने-लेजाने, तथा पूँजी उधार लेने मे वे ही सब सहूलियतें प्राप्त कर लेते है जो बडी मात्रावालों को मिल सकती है। इन सब कारणों से बडी मात्रा की उत्पत्ति की वृद्धि मे बाधा पडती है।

साथ ही कुछ ऐसे काम है जो छोटी मात्रा मे ही अधिक अच्छे और ठीक तथा सस्ते हो सकते है। इस प्रकार के वे काम है जिन मे कला और सौदर्य की प्रधानता रहती है, जिन से बहुत कीमती कच्चा माल लगता है (जैसे हीरा, सोना, मोती), जिन मे खास व्यक्ति की रुचि, तर्ज, काट-छॉट आदि की ज़रूरत पडती है।

ऊपर वाले विवरण मे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ ऐसे व्यवसाय है जिन मे बडी मात्रा की उत्पत्ति संभव और हितकर होती है, और कुछ मे नही। नीचे उन व्यवसायो और उद्योग-धंधो का विवरण दिया जाता है जिन मे बडी मात्रा की उत्पत्ति संभव और लाभदायक होती है।

खान के काम और तैयार माल बनाने वाले उद्योग-धंधो मे मशीन और अधिक मनुष्यो के एक साथ काम करने की ही आवश्यकता होती है, अस्तु, इन मे बडी मात्रा मे लाभ अधिक संभव है। इन के अलावा बैंकिंग, इंश्योरेंस, थोक व्यापार आदि मे भी बडी मात्रा के कारण लाभ अधिक होता है।

बडी मात्रा की उत्पत्ति मे केवल लाभ ही लाभ नहीं होते वरन् अनेक हानियां भी होती है। बडी मात्रा की उत्पत्ति मे बडी पूँजी लगने और नाम तथा प्रभाव अधिक होने के कारण प्रतियोगिता मे छोटी मात्रा वालो को हार कर हट जाना पडता है। बडी मात्रावालो के द्वारा ट्रस्ट, कार्टेल और गुट्ट बन जाते है, और एकाधिकार प्राप्त हो जाता है, जिस से उस वस्तु के उत्पादन आदि पर पूर्ण स्वत्व हो जाता है। वे अकेले बाज़ार में रह जाते हैं, अस्तु, बाजार में वस्तु की कीमत बढा देते हैं, और माल घटिया देने

बडी मात्रा की उत्पत्ति मे हानियां

लगते हैं। साथ ही नए बाजारो को हाथ मे करने के लिए अनेक प्रकार से संघर्ष पैदा कर देते है।

ट्रस्ट, एकाधिकार आदि के कारण देश के कुछ थोडे से आदमियों के हाथ मे देश का अधिकाश धन आ जाता है, और अधिक जन-संख्या के हाथो मे कम धन जाने पाता है। इस से विषम वितरण की समस्या उत्पन्न हो जाती है, और अनेक प्रकार के झगडे खडे होने लगते है।

बडी मात्रा की उत्पत्ति के कारण बहुत से मजदूरो को एक साथ अस्वास्थ्यकर स्थानो मे एकत्र होकर काम करना पडता है। बडी मात्रा के उत्पादकों के पास अधिक पूंजी और साधन होने के कारण उन की शक्ति बढ जाती है। अस्तु, उन से मज़दूरी के लिए ठीक से तय करने की शक्ति मजदूरो मे नहीं रह जाती। इस से मजदूरो को कम मजदूरी दी जाती है, और वे मशीन की तरह काम मे लगाए जाते है। मजदूरो की रक्षा के लिए जो कानून बनाए जाते है, पूंजीपति बडी आसानी से उन की अवहेलना कर सकते है। अस्तु, बडी मात्रा की उत्पत्ति के कारण मजदूरो की दशा खराब होती जाती है।

बडी मात्रा की उत्पत्ति मे वस्तुएं मशीन के द्वारा बडी जल्दी मे बनाई जाती है, इस कारण उन मे कला और सौंदर्य तथा टिकाऊपना, जो हाथ के बने सामान मे होता था, नहीं पाया जाता। अस्तु, बडी मात्रा की उत्पत्ति से कला-कौशल कारीगरी, दस्तकारी को हानि पहुंची है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि बडी मात्रा की उत्पत्ति से अनेकानेक लाभ है। किंतु साथ ही कुछ हानिया भी होती है। अनेक व्यवसाय तथा उद्योग-धधे ऐसे भी है जो बडी मात्रा के उपयुक्त नहीं हैं। छोटी मात्रा मे ही उन का उत्पादन तथा व्यापार लाभदायक हो सकता है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे कुछ विशेष लाभ होते है जिन का यहां वर्णन किया जाता है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति से लाभ

छोटी मात्रा मे उत्पत्ति करनेवाले उपभोक्ताओ के बहुत संपर्क मे रहते है।

अस्तु उन की आवश्यकताओं को अच्छी तरह से जान कर उतनी ही मात्रा मे और उसी प्रकार का माल तैयार करते है जितने की तत्काल खपत हो सकती है। इस से न ज्यादा माल व्यर्थ पडा रहता और न व्यापारिक तेजी-मंदी तथा संघर्ष की नौबत आती है। उत्पादको को इतना ज्यादा लाभ भी नही होता कि कुछ थोडे से आदमियो के पास अधिक धन जमा हो जाय और असमान वितरण की समस्या पैदा हो। कारीगर प्रायः स्वतत्र रूप से अपने घरों मे काम करते है। इस से एक तो उन्हे अपने स्त्री-पुत्रों आदि से काम मे सहायता मिल जाती है, जो कारखाने मे नहीं मिल सकती। अस्तु स्त्री-पुत्रादि का श्रम वडी मात्रा की उत्पत्ति मे व्यर्थ जाता है और छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे उस का उपयोग हो जाता है। दूसरे, उन्हे अपनी इच्छा और सुविधा से काम करने की स्वतंत्रता रहती है। इस से काम ज्यादा और अच्छा होता है और मन और शरीर पर बुरा प्रभाव नही पडता, जैसा कि कारख़ानो मे बॅधे वक्त पर, दूसरों की कडी निगरानी मे करने से होता है। छोटी मात्रो की उत्पत्ति मे व्यवस्थापक का सीधा संबंध अपने मजदूरों और कारीगरो से रहता है, इस से एक तो उस का सीधा निरीक्षण और संबंध होने से काम ज्यादा और अच्छा होता है, दूसरे श्रमियो के साथ उस का आपसी बर्ताव रहता है, जिस से मालिक और नौकरों का संघर्ष नहीं बढने पाता, और जो भी शिकायते या त्रुटिया होती है वे जल्दी और ठीक-से दूर कर दी जाती है और काम करनेवाले उत्साहित किए जा सकते है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे कारीगर अपने कला-कौशल, चातुरी, बुद्धिमानी, बारीकी दिखा सकता है, और अधिक उत्साह और जिम्मेदारी से काम करता है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे हिसाब-किताब रखने, निगरानी करने आदि मे कम खर्च पडता है। ग्राहको और व्यापारियो तथा काम करनेवालो के साथ निजी संपर्क होने से किसी गड-बड का वैसा डर नहीं रहता।

किंतु छोटी मात्रा की उत्पत्ति से लाभ ही लाभ हो, सो बात नही

छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे हानिया

है। उस मे हानियां भी होती हैं। छोटी मात्रा में उत्पत्ति होने मे वस्तु की इकाई पीछे खर्च अधिक पडता है, कुशल और अधिक वेतनवाले कारीगर नहीं रक्खे जा सकते, अच्छी मशीनो, औजारो आविष्कारो, सुधारो मे लाभ नहीं उठाया जा सकता, अनुसधान, परीक्षण के लिए विशेष गुंजाइश नहीं रहती, और श्रम-विभाग से लाभ नहीं उठाया जा सकता। अस्तु, एक ही श्रमी को साधारण और कुशलता दोनो तरह का काम करना पडता है, जिस से उस की कुशलता का पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। माल खरीदने, बेचने, लाने-लेजाने, विक्री, विज्ञापन, पूंजी लेने आदि मे वैसी सुविधा नहीं रहती। इस संबंध मे सहयोग और सहकारिता से बहुत कुछ सहूलियते प्राप्त की जा सकती है। तो भी कुछ औद्योगिक कार्य ऐसे है जो छोटी मात्रा मे किए ही नहीं जा सकते, जैसे रेल, तार, जहाज आदि के कार्य।

बडी मात्रा की उत्पत्ति से होनेवाले लाभो के कारण अमरीका, जर्मनी

भीमकाय व्यवसाय

आदि देशो मे अधिक से अधिक लाभ उठाने की दृष्टि मे एक बडे व्यवसाय के या उस की विभिन्न शाखाओ के अनेक बडे-बडे कारखानो का सर्व्वोच प्रबध और आर्थिक नियन्त्रण एक ही व्यक्ति या कपनी के हाथ मे दे दिया जाता है। इसी को भीमकाय व्यवसाय अथवा बडे परिमाण का प्रबंध कहते है। इस के दो रूप होते है (१) उत्तरोत्तर मिलन और (२) क्षैतिज मिलन।

जब एक ही व्यवसाय के क्रम से उत्तरोत्तर होनेवाले विविध कार्यो को

उत्तरोत्तर मिलन

एक ही प्रबध तथा नियन्त्रण मे लाया जाता है तो उसे "उत्तरोत्तर मिलन" कहते है। एक कपडे की मिल ख़ुद अपना कपास खेती करके पैदा करे, रुई निकलवा कर कारखाने को दे, सूत तैयार करे तथा कपडा बना कर भिन्न-भिन्न बाजारो मे भेजे, तथा जरूरत पडने पर अपने ही आवागमन के साधन भी काम मे लाए अपने ही प्रबंध

से संचालक शक्ति और मशीन आदि भी तैयार करे। यह उत्तरोत्तर मिलन होगा। इस मे कच्चे माल की तैयारी से लेकर तैयार माल को भेजने तक का सारा काम क्रम से उसी व्यवसाय के प्रबंध के अंतर्गत रहता है।

क्षैतिज मिलन

जब एक व्यवसाय के उन अनेक कारख़ानो को, जिन मे एक ही तरह की वस्तु तैयार होती हो, एक ही प्रबंध और नियंत्रण मे रखते है तो इसे क्षैतिज मिलन कहते है। ये कारखाने ज़रूरत होने से भिन्न-भिन्न स्थानो से कच्चा माल आदि लेने और तैयार माल भिन्न-भिन्न बाजारों मे भेजने आदि की सुविधा से विभिन्न स्थानों पर स्थापित किए जाते है या होते है। इन के लिए कच्चे माल, मशीन, औज़ार, संचालक शक्ति आदि की खरीद, माल लाने-लेजाने की व्यवस्था, बिक्री, विज्ञापन आदि का प्रबंध एक साथ किया जाता है ताकि किफायत पड़े।

बडी और छोटी मात्राओं की उत्पत्ति एक साथ

अनेक कारणो और परिस्थितियो के अनुकूल रहने से अनेक वस्तुओ की उत्पत्ति छोटी और बडी मात्रा मे साथ ही साथ होती रहती है। इस के लिए ये कारण ज़रूरी है (१) माल मॅगाने भेजने की (२) संचालक शक्ति के सस्ते मे घर-घर भेजने की (३) छोटे-छोटे किंतु तेज चलने वाले सस्ते यंत्रों की तथा (४) सहकारिता, सहयोग की यथेष्ट सुविधाएं और प्रबंध की, जिस से उत्पादको को कच्चा माल, मशीन, संचालक शक्ति, पूॅजी आदि प्राप्त करने तथा तैयार माल भेजने, बेचने, विज्ञापन आदि करने मे आसानी और सुविधा हो। इस प्रकार की सुविधाएं होने से छोटी मात्रा मे उत्पत्ति करनेवाले भी संघर्ष मे बडी मात्रा मे उत्पत्ति करनेवालो के सामने टिक सकते है और बाजारो मे नफे के साथ अपना माल बेच सकते है।

अध्याय १८

व्यावसायिक व्यवस्था और साहस

"दूसरे व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त इस उद्देश्य से व्यवस्था करना कि उत्पन्न वस्तुओं के द्वारा जिन की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से उस के लिए कुछ बदले में देंगे, 'कारबार' 'व्यापार' या 'व्यवसाय' कहलाता है।" "लाभ उठाने के लिए दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था को 'कारबार' 'व्यवसाय' या' व्यापार' कहते है।" और प्रतियोगिता-पूर्ण वर्तमान काल मे दूसरो की आवश्यकताओं की पूर्ति करके लाभ उठाने के लिए 'नुकसान' या 'हानि' सहना, जोखिम उठाना और उस के लिए साहस करना जरूरी है।

आवश्यकता की भिन्न-भिन्न वस्तुओं को तैयार करनेवाले, उन से वस्तुओं को लेकर थोक और फुटकर बेचनेवाले केवल इसी खयाल से खरीद-फरोख्त करते है कि इस क्रय-विक्रय से वे लाभ उठावे। किंतु लाभ उठाने के साथ ही उन्हे हानि सहने, जोखिम उठाने के लिए भी सदा तैयार रहना पडता है। प्रत्येक 'कारबार', 'व्यवसाय', 'व्यापार' के साथ जोखिम लगा रहता है।

जो व्यक्ति किसी 'कारबार', 'व्यापार', 'व्यवसाय' की व्यवस्था करता है, उस का नियन्त्रण करता है और हानि लाभ सहने का जोखिम उठाता है, साहस करता है, उसे 'साहसी' कहते है।

धनोत्पादन के सभी साधनो को समुचित रीति से जुटा कर धनोत्पादन की व्यवस्था करना और उस से होनेवाले हानि-लाभ का सारा जोखिम अपने ऊपर लेना ही साहसी का काम होता है। बिना साहसी के धनो-त्पादन हो ही नहीं सकता। धनोत्पादन के अन्य सभी साधनो के रहने

पर भी बिना साहसी के धनोत्पत्ति की कोई भी व्यवस्था नही हो सकती, क्योंकि धनोत्पत्ति से होनेवाले नफा-नुकसान का जोखिम कोई भी अन्य साधक उठाने को तैयार नही होता। भूमिवाला भूमि देने को तैयार है, पर उस के एवज मे उसे लगान या भाडा चाहिए, चाहे धनोत्पत्ति से लाभ हो या हानि। इसी प्रकार श्रमी को अपने श्रम के बदले में वेतन या 'मज़-दूरी', पूँजीपति को अपनी पूँजी के लिए सूद, प्रबंधक को अपने प्रबंधकार्य के लिए वेतन चाहिए। उन से, कारोबार मे होनेवाले हानि-लाभ से वैसा कुछ भी मतलब नही। यह साहसी का काम है कि वह भूमि के लिए भाडा (लगान), श्रम के लिए मज़दूरी, पूँजी के लिए सूद और प्रबंध के लिए वेतन देने और कारोबार से होनेवाले हानि-लाभ के जोखिम को उठाने के लिए तैयार हो और उत्पत्ति की व्यवस्था करे। कारोबार मे सफलता होने पर उसे लाभ होगा। पर यदि उस मे फायदे के बजाय नुकसान हुआ तो भी साहसी को मज़दूरों को वेतन, भूमिपति को भाडा (लगान) पूँजी-पति को सूद और प्रबंधक को वेतन तो देना ही पड़ेगा। अस्तु, धनोत्पत्ति की सारी ज़िम्मेदारी उसी पर रहती है। वह उत्पत्ति और वितरण दोनो ही मे प्रधान होकर रहता है।

कारोबार की रीति-नीति निश्चित करना साहसी का मुख्य काम होता है। किस वस्तु की उत्पत्ति करना, किस मात्रा मे उत्पत्ति करना, कौन से उपाय काम मे लाना, किस साधन को कितने अनुपात मे लगाना और कहां से, किन शर्तों और मूल्य पर लेना, किन कच्चे मालो, मशीनो, औज़ारों आदि को कैसे, कहा से, कब और कितने मूल्य मे लेना; तैयार माल को किस तरह, किन शर्तों पर और कितने मूल्य मे, कब, कहा बेचना आदि सभी बातों को निश्चित करना साहसी का काम है। इन सब कामो से होनेवाले लाभ तथा हानि का पूरा जोखिम वही उठाता है। उत्पत्ति होने के पहले ही यह तय हो जाता है कि धनोत्पादन मे योग देनेवाले श्रम, भूमि, पूँजी, प्रबंध को कितना और किस हिसाब से प्रतिफल दिया जायगा।

पर जोखिम उठाने, साहस करने के लिए साहसी को क्या मिलेगा इस का कोई भी निश्चय नहीं किया जा सकता। यह तो धनोत्पादन के बाद, उत्पन्न वस्तु के खप जाने पर ही मालूम होता है कि उस कार्य मे कितना लाभ या हानि हुई। अस्तु, सहसी को अपने काम के लिए कोई निश्चित पुरस्कार नही मिलता और न यही निश्चित हो सकता है कि उसे कोई पुरस्कार मिलेगा भी। क्योंकि यदि कुछ न बचा, बल्कि कुछ घाटा ही हुआ तो साहसी को अपने पास से देना पड़ेगा और हानि उठानी पड़ेगी।

उत्पत्ति की रीति-नीति निश्चित करने, साधनो को समुचित रूप मे जुटाने और कारबार से होनेवाले लाभ-हानि का सारा जोखिम अपने ऊपर लेने के कारण साहसी का ध्यान सदा इस बात पर रहता है कि अधिक से अधिक और अच्छी से अच्छी उत्पत्ति, कम से कम उत्पादन व्यय मे हो और वस्तु के इतने अधिक दाम खडे हो कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो सके। अधिक मे अधिक लाभ ही कारोबार का मुख्य उद्देश्य रहता है। इस के लिए साधनो और पदार्थों के व्यर्थ के क्षय, छीज, को दूर करने की साहसी अधिक से अधिक चेष्टा करता है। इस प्रकार वह ख़ुद भी लाभ उठाता है और समाज को भी व्यर्थ क्षय, छीज से बचा कर लाभ पहुँचाता है। इन सब बातो से यह सिद्ध है कि जिस देश मे, जितने ही अधिक योग्य, क्षमताशील साहसी होगे, उस देश की औद्योगिक उन्नति उतनी ही अधिक होगी।

जिस समय धनोत्पत्ति के रूप कम थे, कच्चे माल साधारण श्रेणी के होते थे, केवल हाथो से चलाए जाने वाले कुछ साधारण औज़ारो के द्वारा काम होता था, श्रमविभाग बहुत साधारण था, बाजार का विस्तार बहुत ही परिमित था, वस्तुए कम थीं और उन के विभिन्न प्रकार भी उतने ज्यादा और विभिन्न दर्जे के न थे, और जब रुचि, फ़ैशन और माँग मे एकाएक अधिक परिवर्तन नही होता था, उस समय वैसे साहस और साहसी की ज़रूरत नही थी, जैसे कि आजकल। आस-पास के जाने-समझे उपभोक्ताओ

की रुचि, माँग, क्रयशक्ति आदि को जान-समझ कर वस्तुएं उत्पन्न की जाती थीं। इस से जोखिम कम था। उस समय प्रायः एक ही मनुष्य भूमिपति, पूँजीपति, श्रमी, प्रबंधक तथा साहसी सभी ख़ुद ही होता था, क्योंकि वह अपने घर में, अपनी पूँजी लगा कर, ख़ुद मेहनत करके, किसी वस्तु को बनाता था और उस से होने वाले हानि-लाभ का ख़ुद जिम्मेदार होता था। समय बदला। श्रम-विभाग बढ़ा। मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। बाजारों का विस्तार बढ़ गया। वस्तुओं की संख्या और प्रकार बे-तरह बढ़ गए। बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने लगी। बड़ी पूँजी और नाज़ुक-पेचीदा मशीनों की जरूरत बढ़ी। भविष्य के लिए और दूर के बाजारों के लिए उत्पत्ति होने लगी। रुचि, फैशन, माँग में एकाएक भारी परिवर्तन होने लगे। कारबार से होनेवाले हानिलाभ बढ़ गए। इस से सभी विभागों में विशिष्टता की जरूरत पड़ी। अस्तु, धनोत्पादन में एक ऐसे विशिष्ट व्यक्ति की जरूरत हुई जो व्यवस्था करने और जोखिम उठाने में विशेष दक्ष हो। अस्तु इस समय औद्योगिक जगत में साहसी का महत्व बहुत बढ़ गया है। वही औद्योगिक संसार का सेनानायक माना जाता है।

कभी-कभी प्रबंधक और साहसी का, अथवा पूँजीपति और साहसी का काम एक ही व्यक्ति करता है। पर अंतर स्पष्ट है। यदि साहसी प्रबंधक का काम ख़ुद न करना चाहे तो वह अपने कारबार के प्रबंध के लिए वेतन देकर किसी दूसरे व्यक्ति को रख सकता है। इसी तरह एक ही व्यक्ति किसी कारबार में अपनी निजी पूँजी भी लगाता है और उस के हानि-लाभ का जोखिम भी उठाता है। पर पूँजी के लिए उसे सूद मिलता है और जोखिम उठाने के लिए लाभ। वह ख़ुद अपनी पूँजी न लगा कर दूसरों से पूँजी लेकर लगा सकता है और जो सूद ख़ुद लेता था वह उन्हें दे सकता है। जो पूँजी लगाता है या प्रबंध करता है उस से उस व्यापार के होने वाले हानिलाभ के जोखिम से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। साहसी का काम इन सब से भिन्न है। वह चाहे तो अनेक अन्य साधनों का स्वामी होकर

भी जोखिम उठावे अथवा पृथक् होकर।

साहसी में दो तरह के गुणों की जरूरत पड़ती है :—(१) मनुष्यों की परख और उन से काम लेने की योग्यता तथा (२) देश, काल, पात्र, स्थिति आदि का ज्ञान और अनुभव।

साहसी के गुण और शिक्षा

प्रत्येक कारोबार की सफलता के लिए यह जरूरी है कि उस में ऐसे आदमी चुन कर भिन्न-भिन्न विभागों में लगाए जाय जो ठीक उसी काम के उपयुक्त हों और जिन का भरोसा किया जा सके। और लाभ के लिए यह जरूरी है कि ऐसे मनुष्यों से कम से कम वेतन पर अधिक से अधिक और अच्छा से अच्छा काम लिया जाय। यह तभी संभव है जब मनुष्यों की और उन के स्वभाव की पूरी परख साहसी को हो और वह जब प्रत्येक मनुष्य से ठीक-ठीक काम ले सके। साथ ही उसे गंभीर, मज़बूत दिल का, धीर प्रकृतिवाला, उत्साह-युक्त तथा सदा नवीन बातों को समझने-जाननेवाला और उन की तह तक पैठनेवाला होना जरूरी है, ताकि लोगों को विश्वास दिला कर उन से सभी उपयुक्त साधन जुटा कर वह धनोत्पादन कर सके और हानि होने पर हिम्मत न हार बैठे।

उसे यह ज्ञान और अनुभव रखने की भी जरूरत है कि कब, कहा, कैसे, कितने में, कौन साधन प्राप्त हो सकेंगे, किस समय खरीद के लिए, कौन स्थान उपयुक्त है, और बेचने के लिए कौन। उसे जल्दी से जल्दी ठीक विचार और निर्णय करनेवाला भी होना चाहिए, ताकि प्रत्येक काम के लिए वह ठीक समय पर उचित निर्णय कर सके।

ये गुण स्वाभाविक होते है। पर शिक्षा से भी बहुत कुछ सुधार हो जाता है।

अध्याय १९

व्यवसाय-व्यवस्था के प्रकार

व्यवसाय-व्यवस्था के प्रकार

वर्तमान काल मे उद्योग और व्यवसाय की सारी सफलता प्रबंध और व्यवस्था पर निर्भर है। व्यावसायिक व्यवस्था के अनेक प्रकार होते है। मुख्य प्रकारो का नीचे वर्णन किया जाता है :

(१) एकाकी उत्पादन प्रणाली—केवल एक व्यक्ति द्वारा व्यवस्था।

(२) साझेदारी—एक से अधिक साझेदारो द्वारा व्यवस्था।

(३) मिश्रित पूँजी की कंपनिया—कुछ चुने हुए व्यक्ति अनेक मालिको के नाम पर व्यवस्था करते है।

(४) एकाधिकार, ट्रस्ट, कार्टेल—इस प्रकार की व्यवस्था कि केवल एक व्यक्ति या समूह का सर्वाधिकार स्वत्व रहे।

(५) सहयोग और सहकारिता उत्पादन प्रणाली—अनेक व्यक्ति सम्मिलित होकर व्यवस्था करते है।

(६) सरकार द्वारा उत्पादन व्यवस्था—सरकारी विभाग द्वारा व्यवस्था। इस प्रणाली मे सारे कारबार की पूरी जिम्मेदारी [illegible]

की सारी निजी संपत्ति तक कानूनन ले ली जा सकती है।

इस प्रणाली में लाभ यह है कि व्यवस्थापक खुद अपने सब कारबार का जिम्मेदार होता है और सारा लाभ या हानि उठाता है, अस्तु अपनेपन के कारण काम ज्यादा और अधिक अच्छा होता है और व्यर्थ का व्यय-छीज कम से कम होता है।

इस प्रणाली में कठिनाइयां अनेक हैं। किसी बड़े और पेचीदा कारबार के सभी विभागों का नियंत्रण, निरीक्षण, और संचालन सफलता-पूर्वक करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती है, और एक व्यक्ति में ये सब गुण एक साथ शायद ही कभी मिल सकें। इस से व्यवसाय को अच्छी तरह से चलाने में अड़चनें पड़ती हैं। दूसरे, एक व्यक्ति को अधिक पूंजी मिलना उतना सरल नहीं होता, इस से जिन कारबारों में अधिक पूंजी की जरूरत पड़ती है वे इस प्रणाली द्वारा नहीं चलाए जा सकते। तीसरे, अपरिमित दायित्व होने से व्यवस्थापक की सारी निजी संपत्ति के जाने का सदा भय लगा रहता है, इस कारण व्यवस्थापक न तो उतने उत्साह, दृढ़ता और साहस से काम कर सकता है और न नए परीक्षण आदि करने का साहस कर सकता है। इन सब कारणों से एकाकी उत्पादन प्रणाली उन्हीं कारबारों के लिए उपयुक्त होती है जिन में कम पूंजी, परिमित योग्यता, साधारण कुशलता-क्षमता की आवश्यकता पड़े, जैसे, खेती, फुटकर बिक्री आदि।

साझेदारी

एकाकी उत्पादन प्रणाली के दोषों को दूर करने के विचार से साझेदारी प्रणाली की व्यवस्था की गई। साझेदारी में दो अथवा अधिक व्यक्ति मिल कर व्यवस्था करते हैं, और सारे कारबार के लिए अलग-अलग और साथ ही सम्मिलित रूप से भी जिम्मेदार रहते हैं। प्रत्येक के ऊपर अपरिमित दायित्व रहता है और कुल कारबार तथा लेन-देन, लेखा-जोखा, कर्ज, इकरार, अहद के लिए प्रत्येक साझीदार अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार और देनदार ठहराया

जाता है, और इस के लिए उस की सारी निजी संपत्ति कानूनन काम में लाई जा सकती है। पर अब अमरीका आदि देशों मे परिमित दायित्व की साझेदारी प्रणाली भी चलने लगी है जिस मे प्रत्येक साझीदार केवल कुछ निश्चित रकम के लिए ही उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

साझेदारी से अनेक लाभ होते है। योग्यता, कुशलता-क्षमता के अनुसार कारबार का प्रत्येक विभाग एक-एक साझीदार के ज़िम्मे कर दिया जाता है, जिस से काम ठीक से हो। जैसे एक व्यक्ति कारख़ाने के अंदरूनी प्रबंध का जिम्मा लेता है। दूसरा, कच्चा माल, मशीन आदि खरीदने का भार लेता है। तीसरा, तैयार माल की बिक्री का काम सँभालता है। साझेदारी के कारण एक व्यक्ति जो केवल पूँजी लगा सकता है पूँजी लगाता है, दूसरा अपनी योग्यता से नियंत्रण और संचालन करता है, तीसरा प्रबंध करता है। यदि ये तीनो एक साथ न रहते तो कोई काम न कर सकते क्योंकि जिस के पास पूँजी है वह नियंत्रण न कर सकता, नियंत्रण कर सकने वाला पूँजी न लगा सकता और इस प्रकार उन मे से कोई भी विना दूसरे की मदद के कोई काम न चला सकता। साझेदारी के कारण विभिन्न शक्तिया एक साथ मिल कर काम करने लगती है। अनेक व्यक्तियो के कारण कारवार की साख ज्यादा रहती है, इस कारण कर्ज़ और पूँजी ज्यादा और साथ ही सहूलियत से मिल सकती है।

साझेदारी से दोष यह है कि यदि साझेदारो मे सद्भाव, विश्वास और एका न रहा तो आपस के वैर-विरोध ही मे उन की सारी शक्ति क्षय होती है और कारवार नष्ट हो जाता है। दूसरे, अपरिमित दायित्व रहने से एक के दोष से सभी को भारी से भारी हानि उठाने का भय रहता है।

साझेदारी के दोषों को दूर करके बडी पूँजीवाले व्यवसाय चलाने की ग़रज से मिश्रित पूँजी की कंपनियों का प्रादुर्भाव हुआ। जब किसी बडे व्यवसाय के लिए बडी पूँजी की जरूरत होती है तो उस पूँजी के बहुत से छोटे-छोटे भाग कर

मिश्रित पूँजी की कपनिया

दिए जाते हैं जिन्हें हिस्सा या शेयर कहते हैं और जो एक या अधिक तादाद में अनेक व्यक्तियो द्वारा खरीद लिए जाते है। प्रत्येक व्यक्ति को (जिस ने एक या अधिक हिस्सा खरीदा हो) हिस्सेदार या शेयर-होल्डर कहते हैं। ये ही सब हिस्सेदार उस कंपनी के मालिक और साझीदार होते हैं और कारबार का सारा जोखिम उठाते है, हानि-लाभ के जिम्मेदार रहते हैं। पर कारबार के नियंत्रण, संचालन और निरीक्षण मे वे सीधे तौर पर—प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते। काम चलाने के लिए वे संचालक-समिति को चुनते हैं। यह समिति कारबार की व्यवस्था और उस का संचालन और मुख्य रीति-नीति निर्धारित करती है। समिति द्वारा एक प्रधान संचालक चुना जाता है जो व्यवस्था की पूरी ज़िम्मेदारी लेता है और संचालक समिति की व्यवस्था करता है। प्रधान संचालक या सचालक-समिति प्रबंध के लिए वेतन पर एक अथवा अधिक प्रबंधक नियुक्त करती है। वेतन-भोगी प्रबंधक विस्तृत प्रबंध, नियंत्रण, संचालन, निरीक्षण आदि के ज़िम्मेदार होते हैं। कानून की नजरों मे संचालक और प्रबंधक कंपनी के नौकर माने जाते हैं।

हिस्सेदारो की देनदारी परिमित होती है। हिस्सो को दूसरों के हाथो बेचने या दे सकने का कानूनी हक रहता है। हिस्से छोटे मूल्य के और विभिन्न प्रकार के होते हैं, और कारबार की व्यवस्था वेतन-भोगी संचालको और प्रबंधकों के द्वारा होती है। इन सब कारणो से मिश्रित पूंजी की कंपनी से उद्योग-व्यवसाय मे एक ऐसी जान आ गई है और बडे से बड़े पैमाने पर बडे से बडे पूँजीवाले व्यवसायों के लिए आसानी से पूंजी इकट्ठी करके कारबार चला लेना इतना सुगम हो गया है कि एकाकी प्रणाली और साझेदारी के समय मे उस का खयाल भी नहीं किया जा सकता था।

कंपनी व्यवस्था से लाभ

परिमित देनदारी होने से हिस्सेदारों का जोखिम बहुत कम हो गया है। इस से बहुत से व्यक्ति जो अपरिमित देनदारी के भय से उद्योग-व्यवसाय से दूर रहना चाहते थे अब आसानी से उस में भाग ले सकते है। परिमित

देनदारी के कारण अब उन्हें केवल उतने ही रुपए की ज़िम्मेदारी लेनी पड़ती है जितने के उन्हों ने हिस्से खरीदे हों। उन की बाकी सब संपत्ति सुरक्षित रहती है। उसे कोई छू नहीं सकता। यदि किसी ने सौ रुपए के हिस्से ख़रीदे है तो उस से केवल सौ रुपए वसूल किए जा सकते है। यदि उस ने हिस्से खरीदते वक्त, पूरे १०० रुपए दे दिए है तो बाद मे उस से फिर कुछ भी नहीं लिया जा सकता। यदि उस ने १०० रुपए के हिस्से खरीदे हैं पर दिए है केवल ५० रुपए ही, तो ज़रूरत पड़ने पर उस से केवल बाकी ५० रुपए ही और वसूल किए जा सकते है। दूसरे, हिस्सों के छोटे-छोटे होने और हिस्से के रुपयो की वसूली एकमुश्त न होकर प्रायः किस्तो में होने से सभी छोटे-बड़ो को उन के खरीदने मे और कारबार के लिए पूँजी लगाने मे सहूलियत होती है। इस कारण जो रुपया वैसे उद्योग-व्यवसाय मे नहीं लग सकता था वह भी आसानी से पूँजी बन कर काम में आ जाता है। तीसरे, हिस्सों के हस्तांतरित करने के हक के कारण लोगो को आसानी से किसी कंपनी के हिस्सो मे लगे हुए रुपए को, हिस्से बेच कर निकालने या दूसरे कारबार मे लगाने की सहूलियत रहती है। इस मे पूँजी प्राप्त करने मे बड़ी आसानी हो गई है। एकाकी या साझेदारी प्रणालियों मे यह सब सहूलियते नहीं है। कंपनी व्यवस्था प्राय उन उद्योगों और व्यवसायो के लिए बहुत ही उपयुक्त होती है जिन मे नई-नई योजनाओं का परीक्षण करना पड़ता है या जो बहुत ही जोखिम की होती हैं, क्योंकि हिस्सो के छोटे-छोटे और परिमित देनदारी के होने के कारण यह सब जोखिम उठाया जा सकता है और हानि होने पर वह अनेक व्यक्तियों मे बँट कर कम हो जाता है, और यदि लाभ हुआ तो हिस्सेदारो के साथ ही सारे समाज का भला होता है। एकाकी प्रणाली तथा साझेदारी का कारबार एक अथवा दो व्यक्तियों की योग्यता, कुशलता आदि पर निर्भर रहता है। अस्तु, उन के जीवन, या काम करते रहने के काल तक ही वह कारबार ठीक से चल सकता है। इस कारण उस में उतना स्थायित्व नहीं

होता जितना कि कंपनी के काम में होता है। क्योंकि, कंपनी अधिक से अधिक वेतन देकर अच्छे से अच्छा व्यक्ति अपने काम के लिए रख सकती है, और आवश्यकता पड़ने पर उस के स्थान पर दूसरे की नियुक्ति कर सकती है। इस कारण कंपनी के काम में अधिक स्थिरता और मज़बूती रहती है। कंपनी को योग्य और विशेषज्ञ कार्यकर्ताओं और सलाहकारों से लाभ उठाने का बहुत अधिक मौका रहता है। इस कारण विशेष योग्यता, क्षमता, कुशलता और व्यवसाय बुद्धिवाले ऐसे भी व्यक्ति, जिन के पास व्यवसाय चलाने को कुछ भी पूँजी नहीं है, कंपनी के कारण बड़े से बड़ा लाभ खुद भी उठा सकते हैं और कंपनी तथा समाज को भी अपनी विशेष क्षमता से लाभ पहुँचा सकते हैं। यदि कंपनी-व्यवस्था न हो तो ऐसे व्यक्ति न तो ख़ुद उतना लाभ उठा सकें और न समाज का कुछ भला कर सकें। कुछ ऐसे व्यवसाय हैं जो बिना कंपनी-व्यवस्था द्वारा बड़ी पूँजी इकट्ठा किए चलाए ही नहीं जा सकते, क्योंकि चाहे कोई कितना ही धनी क्यों न हो, एक अकेला उस व्यवसाय में न तो कुल पूँजी लगा कर व्यवसाय चला सकता और न उतना बड़ा जोखिम ही उठा सकता है। रेल, जहाज, कंपनी आदि ऐसे ही व्यवसाय हैं जो कंपनी-व्यवस्था द्वारा ही चलाए जा सकते हैं। कंपनी-व्यवस्था से समाज को वे सभी लाभ भी होते हैं जो श्रम-विभाग, मशीनों के प्रयोग तथा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होते हैं।

कंपनी-व्यवस्था से समाज को हानियाँ भी होती हैं। हिस्सेदारों की देनदारी परिमित होने के कारण कभी-कभी कंपनी बिना समझे-बूझे बहुत ही जोखिम और हानि के काम कर डालती है। हिस्सों के हस्तांतरित हो सकने के कारण हिस्सेदारों में आपसी मेल, सहयोग या अपनापन नहीं रहता और न वक़्त पड़ने पर वे एक-दूसरे की मदद करने और साथ देने के लिए तैयार रहते हैं। कारबार बिगड़ने पर हिस्सों की दर गिरने के पहले ही

कंपनी व्यवस्था से हानियाँ

समझदार हिस्सेदार अपने-अपने हिस्से बेच कर अलग हो जाते है और सीधे-सादे हिस्सेदारों को सारा नुकसान सहन पडता है। संचालक भी अनेक चालों से हिस्सों के दाम ऊँचे-नीचे करके सीधे-सादे हिस्सेदारो को ठगते और हानि पहुँचाते है। कंपनी का काम हिस्सेदारो, संचालकों और वेतन-भोगी प्रबंधकों मे बंटा होने के कारण तथा सारा जोखिम उठाने वाले और पूँजी लगानेवाले मुख्य मालिक हिस्सेदारो को कारबार का विशेष ज्ञान और अनुभव न रहने के कारण कोई भी अपने उत्तरदायित्व का ठीक से विचार नही रखता। इस से कारबार मे बडा धक्का लगता है। कंपनी-व्यवस्था मे असली मालिक (हिस्सेदारों) और मज़दूरों मे कोई निजी संपर्क न रहने से मजदूरों की शिकायतो और आराम-तकलीफ का वैसा कुछ खयाल नही रक्खा जाता। हिस्सेदारों को अपने मुनाफे से सरोकार रहता है। इस से श्रम और पूँजी का संघर्ष और विरोध बढ रहा है। इस के अलावा, बडी कंपनी सरकारी अफ़सरों को मिला कर अनेक अनुचित और जनता के हित के विरोधी काम और कानून पास करा लेती है। इस से नैतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों मे बड़े बखेड़े खड़े हो जाते हैं। रिश्वत और अनुचित दबाव का बोलबाला हो जाता है। फिर कंपनी अपनी व्यवस्था के और बडी पूँजी के कारण अनेक प्रतिद्वंद्वियो को उचित-अनुचित उपायों तथा प्रतियोगिता द्वारा उत्पादन और बिक्री आदि के क्षेत्रों से हटा कर उस वस्तु का एकाधिकार प्राप्त कर लेती है, और तब किसी प्रतिद्वंद्वी के न रह जाने पर मनमाने दाम बढा कर तथा घटिया माल देकर जनता को हानि पहुँचाती है।

उद्योग-व्यवसाय मे कंपनी-व्यवस्था द्वारा इतनी अधिक उन्नति हुई है और समाज को इतना अधिक लाभ पहुँचा है कि ऊपर की हानियों को देखते हुए भी आज का संसार उसे छोड नही सकता। अस्तु, सरकारी कानून और सामाजिक नियंत्रण द्वारा कंपनी-व्यवस्था की त्रुटियां दूर करके उस के द्वारा कंपनी के हिस्सेदारो और साथ ही समाज का अधिक

से अधिक हित किया जाना जरूरी है।

कंपनी व्यवस्था की त्रुटियों और हानियों से (१) मजदूरों और उपभोक्ताओं को सहयोग द्वारा अपने हितों की रक्षा करने और (२) सरकार द्वारा उद्योग-व्यवसाय की व्यवस्था का नियंत्रण किए जाने के लिए जोरों से प्रोत्साहन मिला है।

सहकारिता

कंपनी-व्यवस्था (और एकाकी प्रणाली, साझेदारी) के द्वारा श्रमियों, छोटी मात्रा के उत्पादकों, उपभोक्ताओं, कर्ज लेनेवालों आदि पर अनेक प्रकार से अन्याय किया जाता है। क्योंकि बड़ी कंपनियों की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने पर (१) श्रमियों को अनुचित रूप से कम मजदूरी देकर और काम ज्यादा लेकर, (२) छोटी मात्रा के उत्पादकों को प्रतियोगिता द्वारा हरा कर उत्पादन क्षेत्र से हटाकर, (३) उपभोक्ताओं को वस्तु के दाम बढ़ा कर और घटिया माल देकर, (४) कर्ज लेनेवालों को अधिक सूद लगा कर, कंपनी-व्यवस्था के कारण मनमाने ढंग पर चूसा जाता है। इन गरीब, कमज़ोर और पीड़ित वर्गों के व्यक्तियों ने अपनी रक्षा के लिए एक साथ मिल कर सहकारिता से काम करके शक्तिशाली बनने और कंपनियों आदि के मुकाबले में सफल होने का उपाय निकाला है। सहकारिता का मुख्य गुर है कमजोरों और गरीबों का एक साथ संगठित होकर ख़ुद काम करना। कार्यों के अनुसार सहकारिता के तीन मुख्य भेद हैं— (१) उत्पादकों की सहकारिता, (२) उपभोक्ताओं की सहकारिता अथवा सहकारी-खरीद, और (३) सहकारी साख या सहकारी महाजनी।

सहकारी उत्पादकता से लाभ

इन में से उत्पादकों की सहकारिता ही अधिक महत्वपूर्ण है और अधिक सफल हो सकी है, इस कारण उसी का यहां वर्णन किया जायगा। इस में श्रमी ही व्यवस्था करते और जोखिम उठाते हैं। इस प्रकार वे ख़ुद मालिक और नौकर दोनों रहते हैं। इस से पूँजी और श्रम का हित-विरोध दूर हो जाता

है, क्योंकि साहसी और श्रमी दोनों ही का कार्य ख़ुद श्रमी ही करते है। इस के लिए रोज़ के काम के लिए मिलनेवाली मज़दूरी के अलावा व्यवसाय मे लाभ होने पर उन्हे नफा भी मिलता है। यदि मज़दूर ख़ुद अपनी निजी पूँजी नही लगा सकते तो सूद पर उधार लेकर व्यवसाय चलाते है। वे ही अपने निरीक्षक और प्रबंधक चुनते या नियुक्त करते है और व्यवसाय की रीति-नीति निर्धारित करते है।

इस पद्धति से अनेक लाभ है—

(१) मजदूर ख़ुद मालिक होते है, इस लिए वे अधिक सावधानी तथा मेहनत से और खूब मन लगा कर काम करते है। इस से निरीक्षण कम करना पडता है। वे मशीनों, औजारों आदि को अधिक अच्छी तरह से रखते और काम मे लाते है, कच्चे और तैयार माल मे व्यर्थ क्षय-छीज बचाते है। इन सब कारणों से बहुत बचत होती है।

(२) श्रम और पूँजी के हित-विरोध के दूर हो जाने के कारण हडताल या द्वारावरोध की नौबत नही आती। इस से श्रमियों को लगातार और अधिक अच्छी परिस्थितियो मे काम करने के मौके मिलते है।

(३) श्रमी ख़ुद जोखिम उठाते है, इस से वे इस बात का सदा ध्यान रखते है कि सभी छोटे-बड़े काम और प्रबंध ईमानदारी और योग्यता से हो रहे है या नही। इस से उत्पादन बहुत सस्ता और ठीक होता है और कार्य-क्षमता की वृद्धि होती है।

(४) मजदूरी के अलावा उन्हे मुनाफ़ा भी मिलता है। समाज मे सम-वितरण होता है क्योंकि एक ही व्यक्ति या समूह के पास अधिक पूँजी जमा नही होने पाती।

सहकारी उत्पादकता से हानिया

सहकारी उत्पादन से अनेक हानिया भी होती है, जिन का यहां वर्णन किया जाता है। मज़दूर ही मालिक होते हैं इस मे अपने निरीक्षको और प्रबंधक के कामो मे बिना ठीक से जाने समझे या बिला जरूरत दख़ल देते और उन के कामो

की आलोचना करते हैं, और नियन्त्रण को भंग करते रहते हैं। इस से कार्य-क्षमता कम हो जाती है।

(२) अच्छे प्रबंधक इस लिए कम मिलते हैं कि श्रमी मालिक उन्हें उचित वेतन देने के लिए तैयार नहीं रहते, क्योंकि वे उन की कार्यक्षमता के महत्व को उतना नहीं समझते।

इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी सहकारी उत्पादकता का भविष्य बहुत अच्छा देख पड़ता है, क्योंकि आज दिन संसार के भिन्न-भिन्न देशों में सहकारिता के सिद्धांतों और उन से होनेवाले लाभों का अधिकाधिक प्रचार हो रहा है।

उद्योगवाद के वर्तमान युग में उद्योगधंधों में पूंजी लगानेवालों और लगवानेवालों का एक अलग वर्ग ही पैदा हो गया है, जिस का काम ही यह है कि इस बात की खोज करता रहे कि कब, कहां, कितना, कौन-सा उद्योग-धंधा, किस पैमाने पर चलाया जाना लाभदायक होगा और किस में कितनी पूंजी लगाई जाय। इस काम में वे इतने कुशल, दक्ष और विशेषज्ञ होते हैं कि जनता और सरकार सभी उन से इस संबंध में सलाह लेती है, और औद्योगिक, व्यावसायिक, तथा व्यापारिक व्यवस्थाएं उन्हीं के नियन्त्रण में रहती हैं।

अध्याय २०

एकाधिकार

जब किसी वस्तु की उत्पत्ति या बिक्री (या खरीद) का पूरा अधिकार किसी एक व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा कंपनी के हाथ मे आ जाता है तो उसे एकाधिकार प्रणाली अथवा एकाधिकार कहते है। एकाधिकार मे मुख्य विशेषताएं है—(१) प्रतियोगिता का अभाव, (२) कीमत का (और पूर्ति का) नियंत्रण; और (३) कार्य तथा प्रबंध, और व्यवस्था का ऐक्य। जब किसी उद्योग-धंधे मे उत्पादन या क्रय-विक्रय का कुल अधिकार केवल एक ही व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा कंपनी के हाथों मे रहे और कुछ भी प्रतियोगिता न हो तो उसे 'पूर्ण एकाधिकार' कहते है। जब थोडी बहुत प्रतियोगिता चलती रहे और उत्पादन या क्रय-विक्रय के संपूर्ण क्षेत्र पर एक व्यक्ति, व्यक्ति-समूह, कंपनी का काफी अधिकार तो रहे पर पूरी तरह से कुल अधिकार न रहे तो उसे 'आंशिक एकाधिकार' कहते है।

पूर्ण तथा आंशिक एकाधिकार

मूल कारण क्षेत्र, स्वामित्व आदि भिन्न-भिन्न आधारों तथा दृष्टियों के कारण एकाधिकार के भिन्न-भिन्न भेद होते है, जिन का वर्णन यहां दिया जाता है :—

एकाधिकार के भेद

पहला वर्गीकरण मूल कारण की दृष्टि से किया जाता है। इस के चार उपभेद होते है—(अ) प्राकृतिक, (आ) सामाजिक, (इ) कानूनी, (ई) स्वेच्छिक एकाधिकार। जब कोई प्राकृतिक पदार्थ परिमित मात्रा मे पाया जाता है और उस के उद्गम स्थान पर किसी का कब्ज़ा हो जाने कारण एकाधिकार प्राप्त होता है तो उसे 'प्राकृतिक एकाधिकार' कहते है, जैसे सोने वा कोयले की खानों पर एकाधिकार। अनेक सामाजिक आर्थिक

कारणों से जो एकाधिकार प्राप्त होता है उसे सामाजिक एकाधिकार कहते हैं, जैसे किसी एक स्थान पर जल, बिजली आदि का एकाधिकार (क्योंकि एकाधिकार में उत्पादन आदि होने से उस में सुविधा और बचत होती है।) पेटेंट, कापीराइट आदि के द्वारा कानूनन जो एकाधिकार प्राप्त हो जाता है उसे 'क़ानूनी एकाधिकार' कहते हैं। जब अपनी रक्षा, अपने अधिक लाभ आदि की बातें सोच कर कुछ प्रतिद्वन्द्वी व्यवसायी-व्यापारी आपस में मिल कर अपने काम को एक साथ करने का प्रबंध कर लेते हैं और उस से उन्हें एकाधिकार प्राप्त होता है, तब उसे 'स्वेच्छिक एकाधिकार' कहते हैं।

दूसरा वर्गीकरण स्थान या क्षेत्र की दृष्टि से किया जाता है। (अ) जब किसी उद्योग-व्यवसाय पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है जो केवल एक खास स्थान या नगर ही तक सीमित हो तो उसे 'स्थानीय एकाधिकार' कहते हैं। (आ) यदि एक राष्ट्र या देश भर में एकाधिकार का स्वत्व हो उसे 'राष्ट्रीय एकाधिकार' कहेंगे, और (इ) यदि अनेक देशों या राष्ट्रों तक वह एकाधिकार चल सके तो उसे 'अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकार' कहते हैं।

तीसरा वर्गीकरण स्वामित्व की दृष्टि से किया जाता है। (अ) जब किसी एकाधिकार का मालिक या प्रबंधक कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह होता है, तो उसे 'व्यक्तिगत एकाधिकार' कहते हैं। (आ) जब किसी एकाधिकार का मालिक या प्रबंधक किसी देश की सरकार या म्युनिसिपैलिटी आदि सरकारी, अर्ध-सरकारी या सार्वजनिक संस्था होती है तो इसे 'सार्वजनिक एकाधिकार' कहते हैं। (इ) जब किसी एकाधिकार का मालिक तो कोई सरकार या सार्वजनिक संस्था हो पर उस का प्रबंध हो किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथों में हो तो उसे 'अर्ध-सार्वजनिक एकाधिकार' कहते हैं।

औद्योगिक सम्मिलन

अनेक औद्योगिक प्रतिद्वंद्वियों में से कोई एक किसी एक या अनेक कारणों से अधिक शक्तिशाली होता जाता है और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को प्रतियोगिता में नीचा दिखा

कर उन के कारबार को ख़रीद कर या उन के मालिकों को किसी न किसी तरह से राज़ी कर के अपने मे मिला लेता है। कभी-कभी सब या अधिकांश प्रतिद्वंद्वी प्रतियोगिता की बुराइयों से घबरा कर आपस में मिल जाते है। इस प्रकार प्रतियोगिता दूर हो जाती है और उस उद्योग धंधे की व्यवस्था तथा प्रबंध आदि एक साथ होने लगते है। इस प्रकार आंशिक अथवा पूर्ण एकाधिकार स्थापित हो जाता है। ट्रस्ट, कार्टेल, पूल आदि इसी तरह के एकाधिकार पूर्ण औद्योगिक सम्मिलन हैं। ट्रस्ट में जो भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधे मिलते है उन का अपना अलग व्यक्तित्व नहीं रह जाता, वे सब मिल कर पूरी तरह से एक हो जाते है, और मिल कर बनी हुई उस एक संस्था की व्यवस्था और प्रबंध समष्टि रूप से एक ही होता है।

ट्रस्ट और कार्टेल

कार्टेल में जो उद्योग-धंधे मिलते हैं उन का अपना व्यक्तित्व बहुत कुछ अलग-अलग बना रहता है और प्रत्येक विभिन्न संस्था को काम की भी बहुत कुछ स्वतंत्रता रहती है। कार्टेल मे सम्मिलित होनेवाली प्रत्येक संस्था स्वतंत्र रूप से अलग बनी रहती है, और कुछ खास बातो के लिए ही सब मिल कर समझौता करती तथा संघ बनाती हैं; जैसे वस्तुओं की कीमत क्या होगी, उत्पत्ति किस परिमाण मे की जायगी आदि आदि के निर्णय के लिए सम्मिलित व्यवस्था रहती है। इस प्रकार ट्रस्ट में प्रबंध की एकता और नियंत्रण पूरे रहते हैं, इस लिए स्थिरता और दृढता अधिक होती है। पर कार्टेल में जो भिन्न-भिन्न संस्थाएं सम्मिलित होती है उन सब का प्रबंध न तो एक रहता है न उन पर पूर्ण नियंत्रण ही होता है, और प्रत्येक संस्था के लिए मुनाफे की कोई एक दर भी निश्चित नहीं की जाती। इस कारण कार्टेल के संगठन में शिथिलता रहती है और स्थायित्व कम होता है।

ट्रस्ट में सम्मिलित विभिन्न संस्थाओं के हिस्सेदार अपनी-अपनी संस्था के हिस्सो के एवज़ में ट्रस्ट के हिस्से खरीद लेते हैं। इस प्रकार कुल संस्थाओं के मेल से एक ट्रस्ट बन जाता है जिस के मालिक हिस्सेदार होते हैं और

प्रबंध और व्यवस्था एक हो जाती है और एक रीति-नीति से काम चलाया जाता है। इस से प्रतियोगिता दूर हो जाती है।

होल्डिंग कंपनी

होल्डिंग कंपनी ऐसे प्रोमोटर्स या हिस्सेदारों की एक संस्था होती है जो उसी तरह की अन्य संस्थाओं या कंपनियों के अधिकांश हिस्से या स्टाक खरीद लेते है, जिस से उन कंपनियों के संचालन की शक्ति उन के हाथ मे आ जाती है। इस प्रकार 'होल्डिंग कपनी' और 'ट्रस्ट' मे प्राय सभी बाते एक-सी रहती है, केवल ऊपर के दिखावे के लिए होल्डिंग कपनी मे सम्मिलित कंपनियो या सस्थाओ का अस्तित्व अलग-अलग रहता है और प्रत्येक संस्था के हिस्से अलग-अलग रहते है। रीति-नीति स्थिर करने और व्यवस्था करनेवाले तो वही कुछ थोडे से व्यक्ति रहते है जो उन विभिन्न संस्थाओ के हिस्से खरीदे रहते है।

मर्जर

जब कोई एक बडी कंपनी अन्य अनेक कपनियो को खरीद कर अपने मे पूरी तरह से मिला कर हजम कर लेती है तो इस सम्मिलन को 'मर्जर' कहते है। इस मे अन्य किसी भी कंपनी या संस्था का अलग अस्तित्व बिल्कुल नही रह जाता।

साधारण समझौता

आपस की प्रतियोगिता की हानियो से बचने के लिए व्यवसायी आपस मे मिल कर बिक्री से संबंध रखनेवाली बातो और एक बँधी कीमत आदि के संबंध मे कुछ समय के लिए समझौता कर लेते है और उसी के अनुसार कारबार चलाने का प्रयत्न करते है। इसे 'साधारण समझौता' कहते है। इस मे प्रत्येक कंपनी, संस्थाएं आदि बिल्कुल अलग और स्वतंत्र रहती है और मनमाने ढंग से अपना प्रबध और उत्पादन करती है। इस से एक कीमत तय हो जाने पर भी उसी पर सब संस्थाए कायम नही रह सकती, क्योकि उत्पादन पर नियंत्रण न होने से प्रत्येक सस्था इतना पैदा करती है कि सब उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि वह सब का सब माल मिल कर बाज़ार मे खप नही सकता, इस से कीमत मे भी कमी करनी पडती है और इस

प्रकार समझौता टूट जाता है। इस प्रकार 'साधारण समझौता' अधिक दिन चलनेवाला नही होता।

इस दोष को दूर करने के लिए 'सम्मिलित - संघ' की योजना की गई है। इस संघ मे उन कारणो पर नियन्त्रण रक्खा जाता है जो कीमत को तय करने वाले होते है। प्रतियोगिता दूर करने के अनेक उपाय होने के कारण सम्मिलित-संघ भी अनेक प्रकार के होते है जिन का वर्णन आगे दिया जाता है:—(१) उत्पादन-परिमाण-संघ। इस मे यह निर्धारित कर दिया जाता है कि प्रत्येक कंपनी या संस्था कितना उत्पादन करेगी और इसी का समझौता रहता है। (२) विक्रय-क्षेत्र-निर्धारकसंघ। इस मे यह तय कर दिया जाता है कि कौन कंपनी कहां अपना माल बेचेगी। एक दूसरे के क्षेत्र मे कोई दूसरा हस्तक्षेप नही कर सकता। (३) लाभ-निर्धारक संघ। इस मे सब कंपनिया या संस्थाएं अपना-अपना 'असल मुनाफा' एक केंद्रीय संस्था मे जमा कर देती है और फिर पूर्व-निश्चित ढंग पर उस का बँटवारा होता है।

सम्मिलित सघ

प्रत्येक दशा मे विभिन्न कंपनिया या संस्थाएं आपस मे नही मिलती। मिल कर साथ काम करने के लिए कुछ खास बाते जरूरी है। प्राय नीचे लिखी दशाओं मे कंपनियों का मिलन आसान होता है:—

(१) जब प्रतिद्वंद्वियों की संख्या कम होती है, (२) और वे नजदीक होते है जिस से वे आपस मे मिल कर सलाह कर के निश्चय कर सकें; (३) जब उत्पन्न वस्तु एक-सी हो जिस से अधिक मात्रा में उस की उत्पत्ति, आसानी और कम खर्च से की जा सके, (४) जब देश मे एक साथ काम करने की प्रवृत्ति हो और स्थिति, आचार-व्यवहार, मत आदि बीच मे बाधक न हो; (५) जब उस उद्योग-धंधे के लिए बड़ी पूँजी की जरूरत हो जिस से छोटे-छोटे उत्पादक पूँजी की कठिनाई अनुभव करके मिलने को उत्सुक हों; और (६) जब सरकारी संरक्षण नीति के कारण एक साथ मिल कर काम करने में अधिक सुभीता देख पड़े।

वडी मात्रा की उत्पत्ति, व्यवस्था, प्रबंध और वडी पूंजी से होनेवाली अनेक तरह की वचत, सुविधा और लाभ तथा एकाधिकार द्वारा होनेवाला अधिक से अधिक लाभ—यह एकाधिकार के मूल कारण होते हैं।

एकाधिकार के कारण

एकाधिकार से होनेवाले लाभों की सूची लंवी है। कच्चे माल मशीन, औज़ार आदि की ख़रीद में तैयार माल की विक्री मे, ढुलाई के लिए रेल, जहाज़ भाडा आदि में विज्ञापन, कनवेसिग कमीशन आदि में, पूंजी लेने और सूद की दर मे, अनुसंधान, प्रयोग आदि में वचत, सुविधा और कमी होती है; और उत्पादन मे प्रति इकाई कम खर्च पडता है। ग्राहकों को अधिक सस्ता और अधिक अच्छा माल और उस के अनेक प्रकार और उन सब के संवंध मे सुविधाएं दी जा सकती है। देशी विदेशी वाजारो को अधिक आसानी से हथिया लेने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। दूकानदारो और वेचने वालो को अधिक माल, अनेक तर्ज़ के माल, अधिक संख्या मे सस्ते और सुभीते से दे सकने और अधिक समय तक के लिए कर्ज़, और नाना प्रकार की सुविधाएं दे सकने की शक्ति आ जाती है। सरकार, रेलवे जहाज़ आदि की कंपनियों और व्यापारियो से अनेक तरह की सुविधाएं आसानी से प्राप्त की जाती है। वाजार को देख कर माँग के अनुसार उत्पत्ति की जाती है ताकि अधिक माल पडा न रहे और वाज़ार न विगडे। माल की खपत की अनिश्चितता कम हो जाने से व्यवसाय और काम में स्थिरता अधिक रहती हैं। रिज़र्व फड आदि कम रखना पडता है क्योंकि लाभ करीव-करीव वरावर एक-सा होता रहता है। इस कारण रिज़र्व फंड की वैसी ज्यादा जरूरत नहीं पडती। प्रतिद्वंद्विता से होनेवाली सभी हानियां दूर हो जाती है। इस कारण जनता और उत्पादक दोनों को ही एकाधिकार से वहुत लाभ होते हुए देखे गए हैं।

एकाधिकार से लाभ

किंतु एकाधिकार से केवल लाभ ही लाभ नहीं होते। उस से कुछ

हानिया — हानिया भी होती है जिन का यहां वर्णन किया जाता है। (१) एकाधिकार होने पर प्रतिद्वंद्वी न तो रहने दिए जाते है न उन को क्षेत्र मे आने का मौका ही दिया जाता है, इस से उस व्यवसाय मे कोई नया व्यक्ति नही आ सकता। (२) अस्तु, वस्तु का दाम बढा कर उपभोक्ताओं से मनमाना नफा लिया जाता है। (३) दूकानदारों को अनुचित रूप मे दूसरों के माल को बेचने मे रोका जाता है। (४) व्यापारियो, रेल, जहाज आदि की कंपनियो को दबा कर रियायती और बहुत सस्ते दर पर माल लिया जाता है, और ढुलाई आदि कराई जाती है, और सरकारी कर्मचारियों को मिला कर, दबा कर या रिश्वत आदि देकर मनमाने कानून बनवा लिए जाते है और इस प्रकार समाज मे अनीति फैलाई जाती है।

सरकार द्वारा कानून बना कर एकाधिकार का नियंत्रण करने की चेष्टा की जाती है, पर वह अभी तक इस कार्य मे वैसी सफल नहीं हुई है। सरकार द्वारा नियंत्रण दो तरह से किया जाता है—(१) वस्तु या सेवा की एक कीमत निर्धारित करके, और (२) एकाधिकार विरोधी कानून बना कर एकाधिकार होने मे रुकावटे डाल कर। पर अभी तक सरकार को इन दोनो बातो मे असफलता रही है। इस कारण कुछ लोगों का मत है कि सरकार को उत्पादन-कार्य अपने हाथों में लेना चाहिए।

अध्याय २१

सरकार और धनोत्पादन

अर्थशास्त्र मे यह मान लिया जाता है कि समाज सुसंगठित है और शाति तथा रक्षा और सुव्यवस्था के लिए सरकार स्थापित है। सरकार (१) नियंत्रण करके, (२) सहायता देकर और (३) स्वयं उत्पत्ति करके देश के उत्पादन-कार्य मे भाग ले सकती है।

नियत्रण

सरकार देश के धनोत्पादन मे तभी नियत्रण करती है जब देश मे निजी तौर पर व्यक्ति और व्यक्ति-समूह धनोत्पत्ति तो काफी करते है पर उन के कुछ कार्यों से समाज या उस के किसी भाग को हानि पहुँचती है। इस के लिए सरकार तरह-तरह के कानून बना कर हानिकर कार्यों को रोकती है, जैसे, काम के घटो को और काम के बीच के अवकाश-समय को निर्धारित करना, कल-कारखानो की स्वास्थ्य-संबंधी स्थिति तथा मशीनो से रक्षा आदि के सबंध मे विशेष नियम बनाना, कंपनी, बैक आदि के संबंध मे ऐसे नियम बनाना जिस से हिसाब-किताब ठीक रहे और जनता धोखे या फरेब मे न फँसे, एकाधिकार की हानियों को दूर करने के लिए नियम बनाना, आदि।

सहायता

सरकार उत्पत्ति मे दो तरह से सहायता दे सकती है -(१) परोक्ष रूप से, और (२) प्रत्यक्ष रूप से। किसी उद्योग-धधे को प्रारंभ करने मे लोगो को हानि या अड़चनो की आशंका होती है। यदि सरकार उन उद्योग-धंधो को देश के लिए हित-कर समझती है तो वह (१) उस मे होनेवाले न्यूनतम लाभ का ज़िम्मा ले लेती है। यानी यदि उस व्यवसाय मे पूर्व-निश्चित बँधा सुनाफा न

हुआ तो जो कमी पडती है उसे सरकार अपने खजाने से पूरा कर देने का ज़िम्मा ले लेती है। (२) उस व्यवसाय मे लगने वाली पूँजी के सूद का ज़िम्मा ले लेती है। (३) उत्पत्ति, परिमाण अथवा निर्यात की प्रति इकाई पीछे एक निश्चित रकम सहायता के रूप मे देने का ज़िम्मा लेती है। (४) उस व्यवसाय मे लगाने के लिए प्रचलित सूद की बाज़ार दर से कम दर पर रुपया सरकारी खजाने से उधार देती है। (५) अथवा उस व्यवसाय मे होनेवाले व्यय का एक हिस्सा अपने ज़िम्मे ले लेती है। (६) उस व्यवसाय के लिए एकमुश्त या बँधी किस्तो मे कुछ रकम देती है जो फिर कभी वापस नहीं ली जाती। (७) कुछ मशीनें, औज़ार आदि सस्ते किराए पर उत्पादकों को दे देती है और नियम से किराया मिलने पर कुछ बँधे समय के बाद उत्पादको को सदा के लिए उन मशीनों आदि को दे देती है। (८) अपने विशेषज्ञों आदि के द्वारा उत्पादको को सलाह-मशविरा दिलाती, खोज, अनुसंधान, प्रयोग करा कर उत्पादन मे सहायता देती है, और उत्पन्न वस्तुओं का जनता मे प्रचार कराती है। ये सभी प्रत्यक्ष सहायता के ढंग है।

सरकार (१) पेटेंट, कापीराइट आदि के नियम मंज़ूर करके एकाधिकार, या विशेष सुविधाएं आदि देकर, और (२) संरक्षण नीति द्वारा परोक्ष रूप से उद्योग-धंधों और वाणिज्य-व्यवसाय मे सहायता करती है।

सरकार द्वारा उत्पत्ति

कुछ कार्य ऐसे होते है जो यदि केंद्रीभूत व्यवस्था और प्रबंध द्वारा बडी मात्रा मे किए जायँ तो उन मे बहुत मितव्यय होता है और वस्तु अधिक अच्छी तैयार होती है। ऐसे काम एकाधिकार द्वारा अधिक अच्छे और बहुत ही सस्ते मे हो सकते है। पर यदि किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को एकाधिकार दिया जाता है तो वह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह उत्पादन-कार्य मे समाज के लाभ और हित का उतना ख़याल नहीं रखता जितना कि अपने निजी लाभ का। साथ ही कुछ ऐसे कार्य भी हैं जिन से समाज को केवल सामूहिक

रूप में लाभ होता है, अस्तु कोई भी व्यक्ति उन्हें निजी तौर पर करने के लिए तैयार नहीं होता, जैसे, जंगलों और समुद्रतटों की रक्षा, सड़कों, पुलों आदि का बनाना और ठीक स्थिति में बनाए रखना आदि। इस-लिए सरकार को ऐसे कामों को मजबूरन समाज के हित को देखते हुए अपने हाथों में लेना ही पड़ता है। शस्त्रास्त्र या जहरीले पदार्थों के बनाने के कार्य भी सरकार को अपने जिम्मे लेने पड़ते हैं।

इस के अलावा युद्धकाल में सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और जनता को कष्टों से बचाने की दृष्टि से बहुत से कार्य सरकार को अपने हाथों में लेने पड़ते हैं। कभी-कभी अपनी आय बढ़ाने के लिए भी सरकार को कुछ काम ख़ुद करने पड़ते हैं।

अस्तु, कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण सरकार कुछ उत्पादन-कार्य करती ही है। पर कुछ लोगों का मत है कि जनता के हित की दृष्टि से यह जरूरी है कि सरकार सारे उत्पादन-कार्य ख़ुद करे, ताकि कुछ थोड़े-से उत्पादक व्यर्थ का नफा खाकर जनता को हानि न पहुँचा सकें और उत्पा-दन-कार्य से होनेवाले सभी लाभ जनता में पूरी तरह से बँट जायँ।

इस के विरोध में कहा जाता है कि सरकार द्वारा उत्पादन उतना अच्छा, सस्ता और सुचारु रूप से न हो सकेगा, क्योंकि सरकारी कर्मचारी एक बँधे ढर्रे से काम करेंगे, नई सूझबूझ से काम न लेंगे, वे उस तरह से जी-जान लगा कर काम न करेंगे जैसा कि निजी काम करनेवाले करते हैं, क्योंकि सरकारी अफसरों की जीविका नफा-नुकसान पर तो निर्भर रहती नहीं, उन की तनख्वाह और पद निश्चित रहते हैं। फिर वे नए कामों और तरीकों को अख्तियार करने के जोखिम को उठाने के लिए तैयार न होंगे, क्योंकि उन में असफल रहने या उतने अधिक सफल न होने पर ऊँचे पदाधिकारियों अथवा निर्वाचकों की नाराजी का डर लगा रहता है। इस से उद्योग-धंधों में उन्नति न हो सकेगी। इन सब कारणों से सरकार द्वारा चलाए गए उत्पादन-कार्य वैसे सफल न होंगे। केवल

उन्ही कामों मे सरकार सफल हो सकती है, जिन मे जोखिम न हो; जिन मे उत्पन्न वस्तुएं आसानी से तुरंत बिक जायँ; और बडी मात्रा मे होने के कारण जिन मे किफायत हो, और जिन मे प्रतिद्वंद्विता न हो सके; तथा जिन का केंद्रीय व्यवस्था या प्रबंध द्वारा होना उचित हो।

किंतु रूस तथा अन्य देशों के उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया है कि यदि प्रयत्न किया जाय तो सरकार उत्पादन-कार्य मे बहुत कुछ सफल हो सकती है और जनता को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है।

अध्याय २२

उत्पत्ति के नियम

उत्पत्ति के साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबंध, साहस—के सहयोग ही से उत्पत्ति होती है। यह सहयोग किन नियमों के अनुसार किया जाता है, वे नियम किस प्रकार, कहा, किन रिथतियो मे, कैसे लागू होते है उन का वर्णन यहा किया जाता है।

उत्पत्ति के नियम

उत्पत्ति के किसी कार्य मे जैसे-जैसे लागत-खर्च बढाया जाता है वैसे ही वैसे उत्पत्ति की मात्रा मे, कुल लागत-खर्च के अनुपात मे, वृद्धि अधिक होती है। इसे क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि कहते है। इस दशा मे कहा जाता है कि उत्पादन-कार्य मे क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है। किंतु जब लागत-खर्च के बढाए जाने पर कुल खर्च के अनुपात मे उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि बराबर हो यानी जिस अनुपात मे लागत-खर्च बढाया जाय उसी अनुपात मे उत्पत्ति की माता मे भी वृद्धि हो, तो इसे क्रमागत उत्पत्ति-समता कहते है, और इस अवस्था मे क्रमागत उत्पत्ति समता का नियम लागू माना जाता है। यदि लागत-खर्च के बढाए जाने पर कुल लागत-खर्च के अनुपात मे उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि कम होती जाय तो उसे क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास कहते है। इस रिथति मे उत्पादन-कार्य मे क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू माना जाता है। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन मे लागत-खर्च के क्रमश बढने से ऊपर के तीन नियमो मे से किसी न किसी एक नियम के अनुसार ही उत्पत्ति-क्रम चलेगा। प्राय ये नियम क्रमश: लागू होते है, यानी किसी उत्पादन-कार्य मे पहले क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है, अर्थात् लागत-खर्च के क्रमश. बढने पर कुल लागत-खर्च के अनु-

पात मे उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि अधिक होती है। इस के वाद एक सीमा ऐसी आती है जब लागत-खर्च के क्रमशः बढने पर कुल लागत-खर्च के अनुपात मे उत्पत्ति की मात्रा सम रहती है, यानी उस उत्पादन कार्य मे क्रमागत उत्पत्ति-समता का नियम लागू होता है। किंतु यह आवश्यक नही कि ये नियम प्रत्येक उत्पादन-कार्य मे इसी क्रम से लागू हों। किसी कार्य मे पहले ह्रास-नियम, फिर वृद्धि-नियम, बाद मे समता नियम लागू हो, या और किसी दूसरे क्रम से ये नियम लागू हो। पर यह तो निश्चित है कि प्रत्येक उत्पादन-कार्य मे कभी न कभी क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम ज़रूर लागू होगा।

नीचे के कोष्ठक से ऊपर के सिद्धांत स्पष्ट हो जाते है :—

क्रम-संख्या	लागत-खर्च रुपयों मे		संपूर्ण उत्पत्ति मनों मे		सीमांत उत्पत्ति मनों मे	
१	१०		५		५	
२	२०	(१० + १०)	११	(५ + ६)	६	वृद्धि
३	३०	(२० + १०)	१९	(११ + ८)	८	
४	४०	(३० + १०)	३०	(१९ + ११)	११	
५	५०	(४० + १०)	४१	(३० + ११)	११	सम
६	६०	(५० + १०)	५२	(४१ + ११)	११	
७	७०	(६० + १०)	६०	(५२ + ८)	८	ह्रास
८	८०	(७० + १०)	६५	(६० + ५)	५	

ऊपर के कोष्ठक मे स्पष्ट हो जाता है कि जब लागत-खर्च १०) है, तब संपूर्ण उत्पत्ति ५ मन होती है। और सीमांत उत्पत्ति भी ५ ही मन ठहरती है। जब लागत-खर्च की एक इकाई (यानी १० रुपए) और बढा दी जाती है और कुल लागत-खर्च १० के वजाय २० रुपए होता है, तब संपूर्ण उत्पत्ति ११ मन (५ + ६ = ११) होती है, यानी १० रुपए और लगाने से अब उत्पत्ति ६ मन अधिक होती है। इस बार सीमांत उत्पत्ति ६ मन ठहरती है। इस से सिद्ध होता है कि लागत की मात्रा के बढने से जो वृद्धि उत्पत्ति मे होती है वह अनुपात मे पहले से अधिक

है, यानी १० रुपए के बढ़ने से उत्पत्ति ५ मन के स्थान पर ६ मन होती है। तीसरी बार लागत-खर्च की एक मात्रा और बढ़ाई गई। फल-स्वरूप उत्पत्ति १६ मन हुई, यानी तीसरे दस रुपए के एवज़ में उत्पत्ति ६ मन के स्थान में ८ मन हुई। चौथी बार एक मात्रा लागत खर्च की और बढ़ाई गई। अब ४० रुपए लगे। फलस्वरूप कुल उत्पत्ति ३० मन हुई। इस बार १० रुपए के एवज़ में ११ मन की वृद्धि हुई। यानी दूसरी, तीसरी और चौथी मात्रा तक बराबर क्रम से उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। पाँचवी बार लागत-खर्च की एक मात्रा और बढ़ाई गई। ५० रुपए लगाए गए। इस बार की १० रुपए की वृद्धि के एवज में ११ मन ही उत्पन्न हुआ। यानी चौथी बार के बराबर ही वृद्धि हुई। अस्तु, यहां से उत्पादन में समता-नियम लागू होना प्रारंभ हुआ। छठी बार एक मात्रा लागत खर्च की और बढ़ाई गई और कुल उत्पत्ति ५२ मन हुई। इस बार भी ११ मन की वृद्धि हुई जो ठीक पूर्ववर्ती मात्रा की वृद्धि के बराबर ही रही। अस्तु इस बार भी समता-वृद्धि नियम लागू ठहरा। सातवीं बार लागत-खर्च की एक मात्रा और बढ़ाई गई, कुल लागत-खर्च ७० रुपया किया गया। इस बार की बढ़ी हुई मात्रा के एवज़ में केवल ८ मन की वृद्धि हुई। यानी सातवीं बार के १० रुपए के एवज में केवल ८ मन की प्राप्ति हुई। इस से ठीक पूर्ववाली उत्पत्ति से मिलान करने पर ३ मन (११—८=३) की कमी देख पड़ी। अस्तु इस स्थान से क्रमागत ह्रास-नियम लागू होने लगा। इस के आगे लागत-खर्च की एक मात्रा और लगाई गई और कुल उत्पादन-व्यय ८० रुपया आया। कुल उत्पत्ति ६५ मन हुई। पूर्व की उत्पत्ति से इस बार केवल ५ मन की वृद्धि हुई। यानी इस बार के लागत-खर्च दस रुपए की वृद्धि के एवज में केवल ५ मन की प्राप्ति हुई। यहां भी क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हुआ।

कोष्ठक पर नज़र डालने से पता चलता है कि दूसरी से चौथी स्थिति तक क्रमागत उत्पादन-वृद्धि नियम लागू होता है। पाँचवीं और छठवीं

स्थिति तक क्रमागत उत्पादन-समता नियम लागू होता है। और सातवीं और आठवीं स्थिति में क्रमागत उत्पादन-ह्रास नियम लागू होता है।

लागत-खर्च में पूँजी का सूद, श्रम की मज़दूरी, भूमि का लगान, प्रबंध का वेतन; साहस के लिए लाभ, मशीनों औज़ारों आदि की घिसाई आदि, बिक्री के निमित्त कमीशन, विज्ञापन-व्यय, कच्चे माल का, संचालक शक्ति (बिजली, भाप, पशु आदि) का खर्च आदि सभी सम्मिलित माने जाते हैं।

उत्पादन-व्यय के संबंध में विचार करते समय प्रत्येक उत्पादन-कार्य के लिए एक इकाई की मात्रा निश्चित कर ली जाती है, और लागत-खर्च की वृद्धि में क्रम से एक-एक इकाई जोड़ी जाती है। जैसे ऊपर के उदाहरण में उत्पादन-व्यय की इकाई १० रुपया मानी गई है। प्रत्येक वृद्धि दस-दस रुपए के हिसाब से की जायगी। और इसी इकाई के अनुसार उत्पत्ति की मात्रा का विचार किया जायगा। विभिन्न उत्पादन-कार्यों के लिए लागत-खर्च की विभिन्न इकाइयाँ निश्चित की जाती हैं।

इसी क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के प्रत्येक उत्पादन-कार्य में लागू होने के कारण ही एक ही खेत में देश की आवश्यकता के लिए कुल गेहूं नहीं उत्पन्न किया जा सकता और न एक ही कारखाने में कोई एक वस्तु देश भर की कुल आवश्यकता की पूर्ति के लिए तैयार की जा सकती है। क्योंकि, एक सीमा के बाद उस खेत या उस कारखाने पर बढ़ाए जाने-वाले लागत-खर्च के बदले में जो मात्रा उत्पत्ति की प्राप्त होगी वह लागत-खर्च के अनुपात से कम होगी और उत्तरोत्तर यह कमी ता क्रम बढ़ता जायगा; और एक समय ऐसा भी आयगा जब उत्पत्ति की मात्रा नाम-मात्र को ही रह जाय। क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने के कारण उत्पत्ति की प्रत्येक आगे प्राप्त होनेवाली इकाई पर, पहले की इकाई से अधिक लागत-खर्च बैठता जाता है।

इस संबंध में यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि (१) उत्पत्ति की मात्रा

की माप उत्पन्न होनेवाली वस्तु के रूप में की जाती है; (२) लागत-खर्च की माप मूल्य में की जाती है, (३) औसत परिवर्तन (घट-बढ़) से इस बात का निर्णय होता है कि कौन नियम लागू है, न कि सीमांत उपज में, (४) नियमों का संबंध उत्पत्ति के परिमाण से है न कि उत्पन्न वस्तु के मूल्य में, (५) यह जरूरी नहीं कि जिस सीमा से क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू हो, उसी सीमा से उस उत्पादन-कार्य में उत्पादक को हानि होने लगे और न यही ज़रूरी है कि उसी सीमा पर उत्पादक और अधिक लागत-खर्च लगाना बंद ही कर दे। किस सीमा में हानि होनी शुरू हो और किस सीमा पर लागत-खर्च बंद कर दिया जाय यह वस्तु के मूल्य पर निर्भर रहता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि खेती आदि के कार्य में क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास नियम बहुत जल्दी लागू होने लगता है। किंतु कारख़ाने आदि के कार्य में यह नियम (खेती के मुकाबले में) जरा देर से लागू होता है।

एक बात ध्यान में रखने की और है। अनेक प्रकार के उपायों द्वारा क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम टाला भी जा सकता है। नवीन आविष्कार, सुधार, व्यवस्था की सुचारुता, प्रति-स्थापन नियम आदि के द्वारा उत्पादन कार्य में क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम या क्रमागत उत्पत्ति-समता नियम ही लागू रक्खा जा सकता है। और क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम का उत्पादन-कार्य में लागू होना रोका जा सकता है। खेती के कार्य में, खाद, नवीन मशीनों आदि के प्रयोग द्वारा उत्पत्ति की मात्रा बढ़ाई जाती है। कारखानों में नवीन-नवीन सुधारों, अधिक उपयुक्त मशीनों के प्रयोगों, उत्पत्ति के साधनों के उपयोग में उचित परिवर्तनों द्वारा उत्पत्ति की मात्रा बढ़ाई जाती है। इस प्रकार ह्रास नियम लागू होने से रोका जाता है।

किंतु एक न एक सीमा ऐसी होती है जिस पर ह्रास नियम अवश्य ही लागू होने लगता है, और तब फिर उसे दूर करने के उपाय सोचे जाने लगते हैं।

उपभोग

अध्याय २३

उपभोग और उस का महत्व

अर्थशास्त्र मे 'उपभोग' का अपना ख़ास महत्व है। सेवाओ और वस्तुओ के ऐसे सेवन, भोग अथवा काम मे लाए जाने को 'उपभोग' कहते है जिस से उपभोक्ता को प्रत्यक्ष और तात्कालिक तृप्ति और संतोष हो।

उपभोग क्या है?

जब कोई व्यक्ति खाना खाता है, जूते और कपड़े पहिनता है, घडी, छडी, सवारी का इस्तेमाल करता है, मकान मे रहता है, तब कहा जाता है कि वह इन वस्तुओं का उपभोग करता है। कोई भी व्यक्ति किसी पदार्थ को न तो नए सिरे से बना ही सकता और न बिगाड़ या नष्ट ही कर सकता है। वह पदार्थों में उपयोगिता उत्पन्न कर सकता है। इसी तरह वह केवल उपयोगिता ही को नष्ट कर सकता है। उपभोग के अर्थ होते है किसी वस्तु की उपयोगिता को काम मे लाकर इस प्रकार नष्ट कर देना कि उस उपभोग से किसी व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति और तृप्ति हो। एक मनुष्य को भूख लगी। उस ने कुछ चावल खाकर अपनी भूख शांत की। चावल खाने से उसे तृप्ति और संतोष प्राप्त हुए। यह चावल का उपभोग हुआ। यदि वह उन चावलों को नदी मे फेंक दे तो यह उपभोग न होगा, क्योंकि चावलों के पानी मे फेंके जाने से किसी मनुष्य को तृप्ति और संतोष प्राप्त नहीं होते। उपभोग तभी माना जायगा जब उस वस्तु के उपयोग से किसी मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति हो और उस का अभाव दूर होकर उस कार्य से उसे तृप्ति और संतोष प्राप्त हो।

उपभोग दो तरह का होता है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रायः वस्तु-

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष उपभोग

सी वस्तुओं का उपयोग किसी अन्य वस्तु के बनाने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के उपयोग से किसी व्यक्ति की किसी आवश्यकता की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होती। यह सच है कि इस प्रकार के उपभोग से जो वस्तु तैयार होती है उस से किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है। पर इस प्रकार की पूर्ति और तृप्ति अप्रत्यक्ष रूप से होती है। अस्तु, इसे अप्रत्यक्ष उपभोग अथवा उत्पादक-उपभोग कहते हैं। जिस उपभोग से किसी आवश्यकता की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप मे, तत्काल हो उसे ही यथार्थ मे 'उपभोग' अथवा 'अंतिम उपभोग' कहते हैं।

उत्पादक और अनुत्पादक उपभोग

उत्पादक के उस उपभोग को उत्पादक उपभोग कहते हैं जो उस की उत्पादक शक्ति और योग्यता को कायम रखने और बढाने से लिए आवश्यक हैं। इस के अतिरिक्त जो भी उपभोग होगा वह अनुत्पादक उपभोग कहा जाता है। चूँकि समाज का प्रायः प्रत्येक व्यक्ति एक ही साथ उत्पादक और उपभोक्ता दोनो ही होता है इस कारण इस का निर्णय करना बिल्कुल सहज संभव नहीं है कि उस का कौन सा उपभोग उत्पादक है और कौन सा अनुत्पादक।

अर्थशास्त्र का आधार उपभोग

मनुष्य को आवश्यकता होती है और उस की पूर्ति और तृप्ति के लिए वह उद्योग करता है। अस्तु, प्रत्येक आर्थिक उद्योग का प्रारंभ और मूल कारण उपभोग ही है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का सारा दारोमदार और नींव उपभोग पर ही अवलंबित है। साथ ही प्रत्येक उद्योग का अंत जाकर उपभोग ही मे होता है। प्रत्येक उद्योग के अनंतर जो भी वस्तु या सेवा प्राप्त होती है उस का उपभोग करके आवश्यकता की तृप्ति की जाती है। इस प्रकार आर्थिक उद्योगों का आदि और अंत उपभोग ही मे है।

वस्तुओं का उत्पादन, विनिमय और वितरण केवल इसी लिए किया

जाता है कि उन का उपभोग हो। अस्तु, अर्थशास्त्र का सारा आधार और महत्व उपभोग पर निर्भर है। प्रत्येक समाज की उन्नति और प्रगति इस बात पर निर्भर रहती है कि उस की उत्पादक और औद्योगिक शक्तिया और योग्यताएं निरंतर बढती जायें। उत्पादक और औद्योगिक शक्तियो और योग्यताओं के कायम रखने और बढाने के लिए उचित वस्तुओ के उपभोग का होना नितात आवश्यक है। सामाजिक उन्नति उपभोग की बढती हुई विभिन्नता पर निर्भर है। उन्नतिशील तथा प्रगतिशील समाज की आवश्यकताएं बढती जाती है। नित नई आवश्यकताओं की बढती हुई संख्या की पूर्ति करने मे ही प्रगति और उन्नति संभव हो सकती है। जैसे-जैसे नई आवश्यकताएं बढेगी, वैसे ही वैसे उन की पूर्ति के लिए नए नए उद्योग किए जायेंगे और नई-नई वस्तुओ के उपभोग के (और पुरानी वस्तुओ के नए उपयोग) तरीके निकलेगे। इस प्रकार उपभोग के ऊपर ही संसार की उन्नति और प्रगति निर्भर है।

उपभोग और ससार की हलचल

यद्यपि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी प्रकार के उपभोग मे लाई जा सकती है, पर यह ज़रूरी नही है कि प्रत्येक वस्तु जितने परिमाण मे और जिस गुण-धर्म की बनाई जाय, या उत्पन्न की जाय वह सभी उपभोग मे आ जाय। व्यापारिक तेजी मंदी और उस से होनेवाली बेकारी और अशक्ति का मूल कारण यही है कि उत्पादक या उत्पादक-संघ इस बात का ठीक-ठीक निर्णय किए बिना ही वस्तुओ के बनाने और उत्पन्न करने मे लग जाते है कि कब, कहां, किस तरह की, कौन-सी वस्तु, कितनी बनानी, और उत्पन्न की जानी चाहिए। फल यह होता है कि उपभोग के लिए या तो उस वस्तु की कमी पड जाती है और सब को जितनी चाहिए वह वस्तु मिलती नहीं। अथवा सब लोगो के उपभोग के बाद भी कोई-कोई वस्तु बच कर व्यर्थ मे पडी रह जाती है। इस मे बडी गडबडी मच जाती है। इस का एकमात्र उपाय है उपभोग का ख़ूब ध्यान रख कर

वस्तुओं का उत्पादन। जो लोग उत्पादन-कार्य में लगे वे इस बात का पूरा-पता लगा लें कि उपभोक्ताओं को किस प्रकार की वस्तु की, कब, कितनी आवश्यकता है।

देश और समाज की शक्ति और योग्यता उपभोग पर निर्भर

प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति और योग्यता वस्तुओं के उपभोग पर निर्भर रहती है। अच्छी वस्तुओं का, उचित समय पर, उचित परिमाण में उपभोग करने से शक्ति और योग्यता बढ़ती है। इस के विपरीत होने से शक्ति और योग्यता घटेगी और वह व्यक्ति निर्बल और अयोग्य हो जायगा, और उस की उत्पादक-शक्ति क्षीण हो जायगी। अस्तु, वह गरीब और निकम्मा हो जायगा। देश और समाज की क्षमता और शक्ति उस देश और समाज के व्यक्तियों पर निर्भर है। जिस देश तथा समाज और श्रेणी के व्यक्ति जितने ही क्षमताशील, उद्योगी और शक्ति-सामर्थ्यवान होंगे वह देश, समाज और श्रेणी उतनी ही क्षमताशील, उद्योगी और शक्तिशाली समझी जायगी, और व्यक्तियों की योग्यता, क्षमता-शक्ति उपभोग पर निर्भर रहती है। इस कारण प्रत्येक देश, समाज और श्रेणी की शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता-क्षमता, धन-धान्य, सुख-समृद्धि उपभोग पर ही निर्भर रहती है।

उपभोग और उत्पत्ति

उपभोग और उत्पत्ति का बड़ा ही घनिष्ट संबंध है। उपभोग के कारण ही, और उसी के लिए ही उत्पत्ति की जाती है। मनुष्य को उपभोग के लिए वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है। और इस तरह उत्पत्ति का प्रारंभ होता है। जितना ही अधिक उपभोग बढ़ेगा उतनी ही अधिक उत्पत्ति बढ़ेगी और उतने ही अधिक श्रमी काम में लगेंगे। इस प्रकार मज़दूरों का काम में लगना और उत्पत्ति की मात्रा, तीव्रता आदि उपभोग के द्वारा निश्चित की जाती है।

दूसरी ओर कीमत, पूर्ति की मात्रा आदि के द्वारा उत्पत्ति यह निश्चित करती है कि कितना, कैसा, क्या, और किस प्रकार का उपभोग हो। किसी

खास समय मे, एक खास स्थान पर किस वस्तु की, कितनी मात्रा का उपभोग किया जाय, यह बात बहुत कुछ उस वस्तु की कीमत पर भी निर्भर रहती है। यदि कोई वस्तु बहुत महँगी पड़ेगी तो उस का उपभोग कम ही किया जायगा और यदि वह वस्तु सस्ती होगी तो आमतौर पर उस वस्तु का उपभोग अधिक मात्रा मे किया जायगा। यदि किसी वस्तु की उत्पत्ति मे अपेक्षाकृत कम खर्च पड़े और इस कारण वह वस्तु कम क़ीमत पर बेची जा सके तो उस का उपभोग अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे किया जायगा। किसी वस्तु के सस्ते होने से उस का उपभोग बढ़ जाता है, उस की अधिक मात्रा खपने लगती है। इस प्रकार सस्ती उत्पत्ति के कारण उपभोग की मात्रा बढ़ जाती है और उत्पत्ति के महँगी पड़ने पर उपभोग की मात्रा कम हो जाती है। इसी प्रकार महँगी वस्तुओ के स्थान पर उसी काम में आने वाली अन्य सस्ती वस्तुओं का उपभोग किया जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति उपभोग पर अपना प्रभाव डालती है और उपभोग उत्पत्ति पर प्रभाव डालता है। उपभोग और उत्पत्ति एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

उपभोग और वितरण

प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय के अनुसार ही व्यय कर सकता है, और आय के अनुसार ही वस्तुओं को खरीद कर उन का उपभोग करने मे समर्थ होता है। जिस की जितनी ही अधिक आय होगी वह उतनी ही अधिक उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करके उन का उपभोग कर सकेगा, और प्रत्येक मनुष्य की आय वितरण पर निर्भर रहती है। अस्तु, प्रत्येक मनुष्य के उपभोग की मात्रा बहुत कुछ वितरण पर निर्भर रहती है।

इस के साथ ही यह भी होता है कि अपने उपभोग के विचार से व्यक्ति और समाज उद्योग करते हैं और इस प्रकार वितरण का क्रम बदलते रहते हैं। अस्तु, प्रत्येक देश तथा समाज के उपभोग के आदर्श के अनुसार उस का वितरण-क्रम प्रचलित होता है। क्योंकि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सब उद्योग होते हैं।

एक बात और है। संपत्ति के वितरण के ढंग पर भी किसी देश, समाज या श्रेणी के उपभोग की मात्रा, प्रकार आदि निर्भर रहते हैं। जिस देश और समाज में जितना ही अधिक अ-समान वितरण होगा, जिस देश में अमीरी और गरीबी में जितने ही अधिक भेद-प्रभेद होंगे, उस देश में उतनी ही अधिक महँगी और विलासिता की वस्तुओं की खपत और उपभोग होगा, क्योंकि अमीरों के पास अधिक रुपया होगा, इस कारण वे अधिक से अधिक कीमतों की विलासिता की और तडक-भडक की वस्तुओं का उपभोग करेंगे। किंतु जिस देश में संपत्ति का वितरण जितना ही समान होगा उस में विलासिता की वस्तुओं की खपत (उन का उपभोग) अपेक्षाकृत उतनी ही कम होगी, क्योंकि उस समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आय विलासिता की महँगी वस्तुओं के लिए पर्याप्त न होगी। इस प्रकार उपभोग और वितरण का भी बड़ा घनिष्ट संबंध है। वे एक-दूसरे पर बहुत प्रभाव डालते हैं।

उपभोग और विनिमय

उपभोग की तीव्रता-शिथिलता पर विनिमय की तीव्रता-शिथिलता निर्भर रहती है। जिस समाज में जितना ही अधिक तीव्र उपभोग होगा उस समाज में विनिमय की प्रगति भी उतनी ही तीव्र होगी, क्योंकि उन्नत समाज में बिना विनिमय के उपभोग संभव नहीं है। वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय के बाद ही उपभोग संभव है। साथ ही विनिमय के क्रम, प्रकार आदि पर उपभोग बहुत कुछ निर्भर रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की वस्तुओं को विभिन्न व्यक्तियों से प्राप्त करना पडता है। इस तरह, विनिमय के द्वारा ही वह अपने उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की वस्तुओं को ख़ुद नहीं उत्पन्न कर सकता। इस प्रकार उपभोग के लिए उसे विनिमय पर निर्भर रहना पडता है।

इधर जैसे-जैसे आवश्यकताएं बढती हैं, उपभोग की मात्रा, प्रकार

भाँति समझ कर अधिक से अधिक तृप्ति-संतोष प्राप्त कर सके। ऊपर के वर्णन से यह अच्छी तरह साबित हो जाता है कि अर्थशास्त्र मे उपभोग का कितना अधिक महत्व है। एक तरह से कहा जा सकता है कि जिस तरह इस विश्व भर मे ईश्वर व्याप्त है उसी तरह अर्थशास्त्र भर मे उपभोग का आभास और उस की महत्ता व्याप्त है। अर्थशास्त्र की नींव ही उपभोग पर निर्भर है।

पूर्वकाल के अर्थशास्त्रियो ने उपभोग को उतना महत्व नहीं दिया था। किंतु (१) भौतिक विज्ञान, गणितशास्त्र आदि के कारण उपभोग का महत्व लोगों के सामने स्पष्ट रूप से आ जाने और (२) मानव-हित तथा मानव-सेवा के बढते हुए उदार-विचारो के कारण इस प्रश्न पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा है कि किस प्रकार भौतिक तथा अभौतिक संपत्ति के उपभोग के द्वारा जन-समाज का अधिक कल्याण और उसे अधिक संतोष तथा शांति प्राप्त हो सकते है।

आवश्यकताएं सभी को होती है। भोजन, वस्त्र और रहने के लिए स्थान सभी को चाहिए। किंतु सब की आवश्यकताएं बराबर नही होती। जैसे-जैसे मनुष्य की सभ्यता बढ़ती जाती है, जैसे-जैसे समाज अधिकाधिक प्रगतिशील और उन्नतिशील होता जाता है, वैसे ही वैसे उन की आवश्यकताएं संख्या मे, भिन्नता मे, और तीव्रता मे बढ़ती ही जाती है। जो समाज जितना ही अधिक उन्नत और सभ्य होगा उस की आवश्यकताओ की संख्या, भिन्नता और तीव्रता उतनी ही अधिक होगी। अतएव आवश्यकताओ की वृद्धि और सभ्यता की उन्नति मे एक घनिष्ट पारस्परिक संबंध है।

आवश्यकताए और उन्नति

प्रारंभिक अवस्था मे भोजन, वस्त्र और रहने के स्थान की आवश्यकता पड़ती है। शिकार के लिए शस्त्रास्त्र और उत्पादन के लिए औज़ार भी ज़रूरी होते है। साथ ही अवस्था-भेद से दिखावे, श्रेष्ठता-प्रतिष्ठा और तड़क-भड़क की वस्तुओ की ज़रूरत होने लगती है। इस के बाद दिखावे की, श्रेष्ठता-प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति नवीन आवश्यकताओ की सृष्टि करती है। तरह-तरह के भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि दिखावे की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा की प्रवृति के फल है। इस प्रकार उन्नति के साथ-साथ आवश्यकताएं बढ़ती ही जाती है।

आवश्यकताओं की भिन्नता के कारण

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार आवश्यकताएं हमेशा भिन्न-भिन्न होती है। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक नैतिक शारीरिक, भौतिक आदि कारणो से आवश्यकताओ के प्रकार, प्रभाव, संख्या, विभिन्नता आदि मे अंतर पड़ता रहता है। भारतवासियो की आवश्यकताओ से अमरीकावालो की आवश्यकताएं कुछ भिन्न ज़रूर होगी। बंगालवालो को जिन वस्तुओ की आवश्यकता पड़ती है उन से कुछ भिन्न वस्तुओ की आवश्यकता पंजाबवालो को पड़ती है।

किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनुष्य को उद्योग करना पड़ता

आवश्यकता और उद्योग

है। इस प्रकार आवश्यकता उद्योग की जननी है। यह प्रारंभिक अवस्था का क्रम है। आगे चल कर उद्योग के फल-स्वरूप नई-नई वस्तुओं के उत्पन्न होने पर उन के उपभोग द्वारा नई-नई आवश्यकताओं की सृष्टि होती है। इस प्रकार उद्योग से आवश्यकताओं की उत्पत्ति होती है।

आवश्यकताओं के लक्षण

वैसे तो आवश्यकताओं की कोई गिनती नहीं हो सकती। वे असंख्य हैं, और सभी की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कभी संभव नहीं है। किंतु आवश्यकताओं के संबंध में कुछ मुख्य नियम यहां दिए जाते हैं।

(१) आवश्यकताएं असंख्य हैं। जो समाज और व्यक्ति जितना ही अधिक सभ्य और उन्नत होगा उतनी ही अधिक संख्या, विभिन्नता और तीव्रता उसकी आवश्यकताओं की होगी—(२) प्रत्येक आवश्यकता की, एक खास समय के लिए, पूर्ति और तृप्ति की जा सकती है—कोई भी एक आवश्यकता किसी एक खास समय के लिए यथार्थ साधनों द्वारा तृप्ति की जा सकती है। यदि कोई भूखा है तो भोजन के एक खास परिमाण से उस समय के लिए उस की भूख तृप्त की जा सकती है। जैसे-जैसे वह भोजन करता जायगा वैसे ही वैसे उस की भूख की तीव्रता कम होती जायगी और अंत में बिल्कुल शांत हो जायगी। इसी नियम पर सीमांत उपयोगिता-ह्रास नियम अवलंबित है—(३) कुछ आवश्यकताएं एक दूसरे की पूरक होती हैं—अनेक आवश्यकताएं ऐसी होती हैं जिन की पूर्ति एक साथ होती है, जैसे घड़ी और चेन, कलम-दावात, स्याही कागज की आवश्यकता। (४) कुछ आवश्यकताएं प्रतियोगी होती हैं—कुछ आवश्यकताएं ऐसी होती हैं जिन की पूर्ति एक से अधिक वस्तुओं से समान रूप से हो सकती है। जैसे भूख की पूर्ति के लिए रोटी, भात, पूरी, मिठाई, फल आदि किसी एक वस्तु से काम चल सकता है।

इस नियम पर 'प्रतिस्थापन नियम' अवलंबित है। जिन वस्तुओं का

आवश्यकताए और रहन-सहन का दर्जा

उपभोग प्राय रोज ही कोई एक व्यक्ति करता रहता है उन आवश्यकताओ की पूर्ति करने का उस का स्वभाव सा पड जाता है और विना उन के उसे कष्ट होता है, उस की शक्ति और योग्यता-क्षमता मे फर्क पड जाता है। अस्तु, आवश्यकताओ की पूर्ति पर ही प्रत्येक व्यक्ति और समाज के रहन-सहन का दर्जा निर्भर है।

मनुष्य को वस्तुओ के समूह की आवश्यकता होती है। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज की आवश्यक वस्तुओ की मॉग एक प्रकार से सामूहिक होती है। जैसे बंगाल मे रहने-वालो को कुछ खास वस्तु-समूह की आवश्यकता होती है।

मॉग का नियम

प्रत्येक मनुष्य की समस्त आवश्यकताओ की मॉग उस की (१) व्यक्तिगत पसंद और (२) उस के कुटुंब, समाज और व्यक्तिगत जीवन के रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर रहती है।

अध्याय २५

उपयोगिता-संबंधी नियम

उपयोगिता वस्तु का वह गुण है जिस के द्वारा किसी आवश्यकता की तृप्ति हो। उपभोक्ता और उस के मन से उपयोगिता का गहरा संबंध होता है। किसी एक वस्तु की उपयोगिता सभी मनुष्यों को एक-सी नहीं हो सकती, भिन्न-भिन्न मनुष्यो के लिए स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होगी। यही क्यो? एक ही वस्तु की उपयोगिता एक ही मनुष्य को भिन्न-भिन्न समय और परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न होगी। इस कारण भिन्न-भिन्न मनुष्यों की और एक ही मनुष्य की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की उपयोगिता की तुलना करना साधारणतः सहज नही है। अस्तु, केवल एक ही समय, परिस्थिति के पूर्ववत् या अपरिवर्तित रहने पर, किसी एक मनुष्य को भिन्न-भिन्न वस्तुओ से अथवा एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयो से क्रमश' प्राप्त होनेवाली उपयोगिता का अंदाजा करके उस की तुलना की जा सकती है।

उपयोगिता की इकाई और तुलना

वस्तुओं के उपभोग से तृप्ति होती है और तृप्ति से संतोष। वस्तुओ के उपभोग से होनेवाले इसी संतोष का अंदाज़ा लगा कर उस वस्तु की उपयोगिता का निश्चय किया जाता है, और फिर अन्य वस्तुओ और उसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयो से क्रमशः प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की तुलना की जाती है। तुलना करने के लिए यह मान लेना पड़ता है कि किसी एक खास वस्तु की एक ख़ास इकाई के उपभोग मे जो सतोष प्राप्त होता है वह एक के बराबर है और उस की उपयोगिता एक के बराबर

है। अन्य वस्तुओं और उस वस्तु की अन्य इकाइयों के उपभोग से जो संतोष और उपयोगिता प्राप्त होती है उस की तुलना इस उपयोगिता की इकाई से करके परिमाण का निश्चय किया जाता है। यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

कल्पना करो कि सेब, पूड़ी, बिस्कुट आदि की उपयोगिताओं की तुलना करनी है। अब एक खास समय और तुलना के लिए यह मान लेना पड़ेगा कि एक पूड़ी से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता एक के बराबर है। इस इकाई के निश्चित कर लेने के बाद यह तय करना है कि अन्य वस्तुओं की उपयोगिता कितनी है। अब यदि एक सेब खाने से एक पूड़ी के बनिस्बत तीन गुना संतोष प्राप्त होता है तो यह माना जायगा कि सेब की उपयोगिता तिगुनी है। इसी प्रकार यदि एक बिस्कुट खाने से दूना संतोष हुआ तो कहना होगा कि बिस्कुट की उपयोगिता दुगुनी है।

किसी एक मनुष्य के संबंध में विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना करने के लिए उपयोगिता की कोई एक इकाई मान ली जाती है और उस समय सभी वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना इसी इकाई के अनुसार की जाती है। किंतु भिन्न-भिन्न तुलनाओं के लिए उपयोगिता की इकाई भिन्न-भिन्न रहती है। इस का यह कारण है कि भिन्न-भिन्न समय और परिस्थितियों में किसी भी वस्तु की उपयोगिता एक समान बराबर नहीं रह सकती। इस कारण तुलना के लिए समय और परिस्थिति के अनुसार उपयोगिता की इकाई बदल दी जाती है।

वस्तुओं की इकाई

वस्तुएं दो तरह की होती हैं। एक तो वे जिन को विभाजित करने से उन के मूल्य में कमी नहीं आती, जैसे अनाज, सोना, चाँदी आदि। तुलना के लिए इन की इकाई भिन्न-भिन्न होती है, जैसे तोला, छटाक, सेर, मन आदि। दूसरे वे जिन को विभाजित करने से उन के मूल्य में फर्क पड़ जाता है, जैसे मकान, मवेशी, छड़ी, घड़ी, पुस्तक आदि। इन की इकाई सदा एक रहती है।

एक खास समय में प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है।

उपयोगिता-ह्रास नियम

प्रत्येक आवश्यकता परिमित और सीमित है। किसी भी मनुष्य की किसी एक ख़ास वस्तु की आवश्यकता उस वस्तु के अधिकाधिक परिमाण में प्राप्त होने पर घटती चली जायगी और अंत में, परिस्थिति के अपरिवर्तित रहने पर, पूरी हो जायगी।

किसी मनुष्य को चीनी की आवश्यकता है। उसे एक सेर चीनी से जो संतोष प्राप्त होता वह मान लो कि १०० है। अस्तु, पहले सेर से उसे १०० उपयोगिता प्राप्त होती है। अब यदि उसे एक सेर चीनी और मिल जाय तो उसे उस से उतना संतोष न मिलेगा जितना कि पहले सेर से प्राप्त हुआ था। मान लो उसे दूसरे सेर से ८० उपयोगिता प्राप्त होती है। अब यदि उसे एक सेर और चीनी मिल जाय तो उसे इस तीसरे सेर से जो संतोष प्राप्त होगा वह दूसरे सेर से प्राप्त होनेवाले संतोष से कम होगा। यानी तीसरे सेर से उसे ६० उपयोगिता प्राप्त हुई। इस प्रकार बाद में मिलने वाले प्रत्येक सेर चीनी से उसे क्रमशः कम ही कम उपयोगिता प्राप्त होती है। कोई भी एक वस्तु जितनी ही ज्यादा मिलती जाती है उस की आवश्यकता उतनी ही कम होती जाती है और उस वस्तु की प्रत्येक बाद में मिलती जानेवाली इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता कम होती जाती है। यही उपयोगिता-ह्रास नियम है।

इस नियम से यह निष्कर्ष निकलता है कि, परिस्थिति के पूर्ववत् रहने पर, किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जितना ही अधिक परिमाण होता जायगा वह उसी वस्तु की बाद में मिलनेवाली इकाई के लिए उतनी ही कम क़ीमत देने को तैयार होगा।

परिस्थिति का पूर्ववत् रहना जरूरी है। यदि सब बातें पहले ऐसी न रहीं, कुछ रद्दोबदल हो गया तो यह नियम लागू न होगा। यदि कोई मनुष्य अधिक धनवान हो जाय या उस की रुचि में फर्क पड़ जाय तो वह

बाद मे मिलनेवाली इकाइयों के लिए अधिक कीमत भी दे देगा।

उपयोगिता-ह्रास नियम के कुछ अपवाद

यदि किसी वस्तु की इकाइयां उचित मात्रा मे कम होगी तो यह संभव है कि प्रत्येक बाद मे मिलनेवाली इकाई की उपयोगिता घटने के बदले बढती चली जाय। यदि जलाने के समय कोयले की इकाइया तौल के हिसाब मे मानी जायँ तो निश्चय ही प्रत्येक बाद मे मिलनेवाली इकाइयों के उपभोग या संग्रह से अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। अस्तु इकाइयो का परिमाण सामान्यतः इतना छोटा न हो कि साधारण स्थिति से भिन्नता उपस्थित हो जाय।

सीमात उपयोगिता

किसी वस्तु को खरीदते समय मनुष्य उस वस्तु की कुछ इकाइयां ही खरीद कर रुक जाता है, क्योंकि उस के विचार मे उस परिस्थिति मे जो कीमत देनी पडती है उस को देखते हुए वह उसी वस्तु की और अधिक इकाइया लेना लाभदायक नही समझता। उस वस्तु की वह अतिम इकाई जिसे खरीदने के बाद वह खरीद बंद कर देता है और जिस को खरीदते समय उस के मन मे यह दुविधा पैदा हो जाती है कि इसे खरीदना ठीक होगा या नहीं, उस की खरीद की सीमा होती है। इसी सीमात इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता को सीमात उपयोगिता कहते है। एक आदमी एक सेव या एक सेर चीनी खरीदता है तो उसे पहला सेव या सेर ही उस की सीमांत इकाई है। और उसी से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमांत उपयोगिता होगी। यदि कोई मनुष्य दो सेव या दो सेर चीनी खरीदता है तो दूसरा सेव या सेर उस की सीमात ख़रीद होगी और उस दूसरे सेव या सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमांत उपयोगिता होगी। यदि कोई मनुष्य दस सेव या दस सेर चीनी ख़रीदता है तो दसवा सेव या सेर उस की सीमांत खरीद होगी और उस दसवे सेव या सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस के लिए सीमात उपयोगिता होगी।

ऊपर की व्याख्या इस प्रकार से स्पष्ट हो जायगी :—

जब १ सेब या १ सेर चीनी ख़रीदी गई तो सीमांत उपयोगिता १०० है।
,, २ ,, २ ,, , ,, ,, ,, ,, ८० ,,
,, १० ,, १० ,, ,, ,, ,, ,, ,, १० ,,

सीमांत उपयोगिता किसी वस्तु की उपभोग मे लाई जानेवाली अंतिम इकाई की उपयोगिता को कहते है।

एक आदमी दस सेर चीनी खरीदता है। तो दसों सेर चीनी से कुल

समस्त उपयोगिता

मिला कर उसे जो उपयोगिता प्राप्त होगी उसे कुल उपयोगिता कहते है। प्रत्येक सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता इस प्रकार है :—

वस्तु की संख्या या परिमाण				उपयोगिता	सीमांत उपयोगिता	समस्त उपयोगिता
पहले सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता				१००	१००	१००
दूसरे	,,	,,	,,	९०	९०	१९०
तीसरे	,,	,,	,,	८०	८०	२७०
चौथे	,,	,,	,,	७०	७०	३४०
पॉचवे	,,	,,	,,	६०	६०	४००
छठे	,,	,	,,	५०	५०	४५०
सातवे	,,	,,	,,	४०	४०	४९०
आठवे	,,	,,	,,	३०	३०	५२०
नवे	,,	,,	,,	२०	२०	५४०
दसवे	,,	,,	,,	१०	१०	५५०
ग्यारहवे	,,	,,	,,	०	०	५५०
बारहवे	,,	,,	,	—१०	—१०	५४०

ऊपर के कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे वस्तु के परिमाण मे वृद्धि होती है, उस की बाद में मिलनेवाली इकाइयां बढती जाती है,

वैसे ही वैसे कुल उपयोगिता भी बढती जाती है, किन्तु क्रमश ह्रास रूप से। यानी पहले सेर से उसे १०० उपयोगिता प्राप्त होती है। दो सेर चीनी लेने पर उसे १०० से अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। किन्तु ठीक दूनी नहीं, वरन् १९० ही। अर्थात् दूसरे सेर से जो उपयोगिता प्राप्त हुई वह पहले सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से कुछ कम। इसी प्रकार तीसरे सेर से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह दूसरे सेर से प्राप्त होने-वाली उपयोगिता से भी कम है, यानी केवल ८०। किंतु तीन सेर लेने पर कुल उपयोगिता जाकर २७० होती है, न कि ३००। इसी प्रकार दस सेर चीनी लेने पर कुल उपयोगिता ५५० प्राप्त होती है। यानी जैसे-जैसे बाद मे ली जानेवाली इकाइयो की संख्या बढती गई वैसे ही वैसे समस्त उपयोगिता भी बढती गई।

यहा एक बात ध्यान देने योग्य है। बाद मे ली जानेवाली इकाइयो की संख्या जैसे-जैसे बढती जाती है वैसे ही वैसे सीमांत उपयोगिया क्रमश: घटती जाती है। प्रत्येक बाद मे ली जानेवाली इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस से पहलेवाली इकाई की उपयोगिता से कम होती जाती है, और अंत मे दस सेर लेने पर दसवी इकाई की सीमांत उपयोगिता केवल १० ही रह जाती है। अस्तु यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे बाद मे ली जानेवाली इकाइयो के संख्या बढती जाती है वैसे ही वैसे समस्त उपयोगिता बढती जाती है, किंतु सीमात उपयोगिता घटती जाती है। किसी वस्तु के अधिक परिमाण मे सेवन करने से तब तक कुल उपयो-गिता बढती जाती है, साथ ही सीमांत उपयोगिता क्रमश घटती जाती है जब तक कि उस आवश्यकता की पूर्ण-रूप से तृप्ति नहीं हो जाती। किंतु कुल उपयोगिता के बढने का अनुपात क्रमश. कम होता जाता है।

यदि उस वस्तु का सेवन बराबर जारी रक्खा गया तो एक समय ऐसा आ जाता है कि पूर्ण तृप्ति हो जाती है, और पूर्ण तृप्ति होने पर अंत मे जो इकाई सेवन की गई थी उस से कुछ भी संतोष प्राप्त नहीं होता।

अस्तु उस अंतिम इकाई की उपयोगिता शून्य मानी जाती है। अस्तु, सीमात उपयोगिता भी शून्य होगी। इस के ठीक पहले सेवन की जाने वाली इकाई तक तो कुल उपयोगिता बराबर बढती चली जाती है। किंतु जहां पूर्ण तृप्ति हो जाती है, और सीमात उपयोगिता शून्य होती है वहीं से कुल उपयोगिता का बढना बंद हो जाता है। और उस के बाद भी यदि उस वस्तु की और अधिक इकाई या इकाइयों का सेवन जारी रक्खा गया तो उपयोगिता के स्थान मे अनुपयोगिता प्राप्त होगी, जो ऋण-उपयोगिता द्वारा सूचित की जायगी।

इस का कारण यह है कि पूर्ण तृप्ति के बाद जो भी इकाई सेवन की जायगी उस से संतोष के बजाय कष्ट हानि, या असंतोष होगा जो पूर्व प्राप्त संतोष मे से कुछ हिस्सा ले लेगा। फल यह होगा कि पूर्ण तृप्ति के बाद जो भी इकाइयां सेवन की जायँगी उन के कारण सीमांत उपयोगिता ऋण मे दिखलाई जायगी और समस्त उपयोगिता बढने के बजाय क्रमश. घटती ही जायगी।

ऊपर के कोष्टक को देखने से विदित होगा कि दस सेर चीनी लेने तक पूर्ण तृप्ति नही होती, अस्तु समस्त उपयोगिता बढती ही जाती है और सीमांत उपयोगिता कुछ न कुछ रहती ही है। पर ग्यारहवे सेर के लेने पर पूर्ण तृप्ति प्राप्त हो जाती है और उस सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता शून्य मानी गई है। इसी स्थान से समस्त उपयोगिता का बढना बंद हो जाता है। यदि बारहवां सेर और ले लिया जाता है तो चीनी के उस बारहवे सेर से संतोष के बजाय कष्ट, हानि या असंतोष होता है। अस्तु, इस बारहवे सेर की उपयोगिता ऋण १० मानी गई है। चूँकि इस इकाई के कारण संतोष के बजाय असंतोष हुआ इस कारण पूर्व-संचित उपयोगिता मे से १० उपयोगिता कम हो जाती है। अस्तु, इस स्थान से कुल उपयोगिता बजाय बढने के, घटने लगती है। दसवे सेर तक कुल उपयोगिता बराबर बढती ही जाती थी और कुल मिला कर ५५० हुई थी।

ग्यारहवें सेर से उस का बढना रुक गया, किंतु कुल मिला कर उपयोगिता ५५० ही रही, क्योंकि यदि कुछ मिला नहीं तो उस में से कुछ कमी भी नहीं हुई। किंतु बारहवें सेर से कुल उपयोगिता कम होने लगती है और वह ५४० ही रह जाती है, क्योंकि बारहवें सेर से संतोष के बजाय असंतोष प्राप्त होता है और उस इकाई की उपयोगिता ऋण १० होती है।

उपयोगिता-ह्रास नियम के संबंध में ख़ास समय, रुचि, स्वभाव, परिस्थिति और परिमाण का विचार अत्यावश्यक है। उपयोगिता-ह्रास नियम तभी लागू होगा जब किसी एक वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों का सेवन एक खास समय में लगातार किया जायगा। यदि समय का ख़याल न रक्खा जायगा तो नियम लागू न होगा।

यदि कोई मनुष्य एक सेब सबेरे खाय, दूसरा दोपहर को, तीसरा शाम को और चौथा रात को, तो यह जरूरी नहीं है कि दूसरे सेब से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता पहले से, तीसरे से प्राप्त होनेवाली उपयो- दूसरे से, और चौथे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता तीसरे सेब से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से क्रमश कम हो। क्योंकि, बीच में इतने अधिक समय का अंतर पड चुका है कि ह्रास, नियम लागू न होगा। यदि एक ही समय में चारों सेब क्रमशः एक के बाद एक खाए जायँगे तो ज़रूर यह नियम लागू होगा।

रुचि, स्वभाव और परिस्थिति का पूर्ववत्, अपरिवर्तित रहना भी जरूरी है। यदि रुचि में भेद हो गया, स्वभाव बदल गया या परिस्थिति में फर्क पड गया तो ह्रास नियम लागू न हो सकेगा, क्योंकि इस परिवर्तन के कारण वस्तु के उपभोग से होने वाले संतोष और उस से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में अंतर पड जायगा। यदि एक मनुष्य एकाएक बहुत अधिक धनवान हो जाय तो सारी बातें बदल जायँगी, और एक ही वस्तु की बाद वाली इकाइयों से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस के लिए वह न रह जायगी जो उसे धनवान होने के पूर्व जान पडती थी। इसी प्रकार यदि किसी की

रुचि बदल जाय तो संभव है कि सेब के खाने से उसे वह उपयोगिता न प्राप्त हो जो उस के पहले प्राप्त होती थी।

इसी तरह वस्तु की इकाई के परिमाण का भी प्रभाव इस नियम पर बहुत अधिक पड़ता है। यदि इकाई का परिमाण बहुत ही कम रक्खा गया तो यह भी संभव है कि प्रत्येक बाद में ली जानेवाली इकाई के सेवन से उत्तरोत्तर अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त हो। यदि एक पूरे सेब की एक इकाई न मान कर उस के बराबर-बराबर पचास टुकड़े कर दिए जायँ और प्रत्येक टुकड़े को इकाई माना जाय तो संभव है कि प्रत्येक बाद में ली जानेवाली इकाई के सेवन से बजाय क्रमशः कम उपयोगिता प्राप्त होने के अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त हो।

इस नियम के अपवाद-स्वरूप कुछ ऐसी वस्तुएं पेश की जाती हैं जिन की बाद में ली जानेवाली इकाइयों से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस से पहलेवाली इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक ही होती है। शान-शौकत, दिखावट, फैशन, शृंगार की वस्तुओं और दुष्प्राप्य और अप्राप्य पदार्थों की गणना इसी तरह की वस्तुओं में की जाती है। यदि किसी मनुष्य के पास एक कीमती हीरा हो तो उस की जोड़ी के दूसरे हीरे का दाम वह पहले से ज़्यादा देने को तैयार हो जायगा, क्योंकि उसे दूसरे हीरे के प्राप्त करने से पहले के बनिस्बत कहीं अधिक उपयोगिता मालूम पड़ेगी, क्योंकि बराबर के दो हीरे होने से उस की श्रेष्ठता बहुत बढ़ जायगी। इसी प्रकार एक मोटरकार से दूसरे मोटरकार की उपयोगिता और एक महल से दूसरे महल की उपयोगिता ज़्यादा होगी क्योंकि उस के मालिक का दर्जा पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ जायगा और उस की धाक अधिक हो जायगी। पुराने सिक्कों, औजारों और अन्य ऐतिहासिक वस्तुओं के बारे में भी यही सोचा जाता है।

किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों के संबंध में भी एक बात स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। इस नियम के संबंध में यह मान लिया जाता है कि

परिमाण, गुण, उपयोगिता आदि में किसी वस्तु की इकाइयां बिल्कुल एक-सी और समान ही होती हैं, अस्तु किसी भी एक इकाई के स्थान में कोई भी दूसरी इकाई काम में लाई जा सकती है।

इकाइयों के संबंध में एक बात और जरूरी है। सीमांत इकाई कोई खास इकाई नहीं है। किसी वस्तु की कोई भी इकाई सीमांत इकाई हो सकती है। सीमांत इकाई होने के लिए उपभोग के क्रम में सब से अंत में उपभुक्त होना ही जरूरी है। जो भी इकाई उपभोग के क्रम में सब से अंत में उपभुक्त होगी वही सीमांत इकाई होगी। दस सेर चीनी के प्रत्येक सेर को उपभोग-क्रम के अनुसार सीमांत इकाई होने का अवसर आ सकता है। जैसे प्रत्येक सेर चीनी का नाम क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ रख दिया गया। अब यदि च से शुरू करके ञ तक क्रम से प्रत्येक सेर का सेवन किया गया तो ञ सेर अंत में पड़ने से सीमांत इकाई होगी। यदि क्रम बदल दिया जाय और ञ से शुरू करके अंत में क पर खत्म किया जाय तो क सेर सीमांत इकाई होगी। यदि कोई खास सेर का खयाल न करके पहली बार झ, फिर ख, फिर ञ फिर घ आदि का क्रम से उपभोग किया जाय और अंत में ग का उपभोग हो तो ग सेर जाकर सीमांत इकाई होगी। सीमांत इकाई होने के लिए उपभोग-क्रम के अंत की इकाई होना जरूरी है।

दूसरी बात यह है कि क से ञ तक दस सेर सेवन किए जाने के क्रम में जिसी इकाई पर सेवन खत्म मान लिया जायगा और उस से आगे सेवन या उपभोग बंद कर दिया जायगा, वही वह अंतिम इकाई सीमांत इकाई होगी। जैसे यदि केवल क सेर का उपभोग किया गया तो क इकाई ही सीमांत इकाई होगी। यदि क और ख दो इकाइयों का उपभोग किया गया तो ख इकाई सीमांत इकाई होगी। यदि क, ख, ग, घ, ङ, इन पाँच इकाइयों का क्रम से सेवन किया गया तो अंत में पड़ने वाली ङ इकाई ही सीमांत इकाई होगी। यदि क से लेकर ञ तक दस इकाइयों

का यथाक्रम सेवन किया गया तो अंत मे पडनेवाली ज इकाई ही सीमांत इकाई होगी।

किसी एक मनुष्य के पास जैसे-जैसे द्रव्य बढता जायगा वैसे ही वैसे उस की सीमात उपयोगिता कम होती जायगी। यदि किसी मनुष्य की आय ४०) माहवार से १००) माहवार हो जाय तो उस के लिए इस तरक्की के पहले अंतिम रुपए की जो उपयोगिता थी उस से उस अंतिम रुपए की उपयोगिता कम होगी जो उस के पास १००) माहवार पाने पर होगी। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि ४०) माहवार पाने पर चीनी, पानसुपारी, मनबहलाव आदि की वस्तुओ पर होनेवाला उस का जो ख़र्च था वह सौ रुपए माहवार पाने पर बढ जाता है। उसी दामों पर वह वस्तुओं को अधिक मात्रा मे लेने लगता है। इस से साबित होता है कि आय बढने पर उस के लिए रुपए की सीमांत उपयोगिता कम हो जाती है। इस के विपरीत आमदनी कम होने पर रुपए की सीमांत उपयोगिता बढ जाती है। यदि किसी को १००) के स्थान मे ४०) माहवार मिलने लगे तो वह अनेक वस्तुओ की मात्रा में कमी कर देगा।

द्रव्य या रुपए-पैसे की सीमात उपयोगिता

एक ग़रीब मनुष्य के लिए द्रव्य की सीमांत उपयोगिता एक अमीर मनुष्य से अधिक होती है, क्योंकि ग़रीब के पास कम द्रव्य रहता है। जिस मनुष्य को ५०) मासिक मिलते हो, उसे ५० वे रुपए की उपयोगिता उस अमीर आदमी के हजारवे रुपए की उपयोगिता से अधिक होगी जिस को १०००) मासिक की आय हो।

द्रव्य की उपयोगिता बहुत तेज़ी से नहीं घटती। वह बहुत धीरे-धीरे घटती है, क्योंकि द्रव्य से प्रायः सभी आवश्यक वस्तुएं प्राप्त की जा सकती है। अस्तु, द्रव्य के बढने पर अन्य अनेक नई-नई वस्तुएं प्राप्त करके उस की सीमात उपयोगिता तेज़ी से कम होने से रोकी जा सकती है। अस्तु

में द्रव्य अनेकानेक वस्तुओ का एक सम्मिलित रूप माना जाना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि द्रव्य मे प्राय सभी वस्तुएं प्राप्त की जा सकती है।

समसीमात उपयोगिता

यदि किसी मनुष्य के पास एक ऐसी वस्तु हो जिसे वह अनेक उपभोगो (कामो) मे ला सकता है तो वह उस वस्तु को उन उपयोगो मे इस तरह बाँटेगा कि प्रत्येक उपभोग मे उस वस्तु की सीमात उपयोगिता बराबर ही रहे। इस का कारण यह है कि केवल इसी तरह के बँटवारे से वह उस वस्तु के उपभोग द्वारा सब से अधिक संतोष और उपयोगिता प्राप्त कर सकता है।

यदि उस के पास एक थान कपडा है तो वह उसे कुर्ते, टोपिया, चादर आदि मे इस तरह बाँटेगा कि प्रत्येक प्रकार के उपयोग मे होनेवाले उपभोग से समान ही सीमांत उपयोगिता प्राप्त हो। यदि वह कुर्ते अधिक बनवा ले और टोपियां और चादरे कम, तो सीमांत उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार कुर्तो की संख्या अधिक हो जाने से कुर्तो की सीमात उपयोगिता कम हो जायगी। अस्तु कुल उपयोगिता को अधिक से अधिक परिमाण मे प्राप्त करने के लिए उसे प्रत्येक प्रकार के सेवन मे थान को इस तरह से बाँटना पड़ेगा कि प्रत्येक सेवन मे सीमात उपयोगिता बराबर बराबर रहे। इसी को समसीमांत उपयोगिता नियम, प्रतिस्थापन नियम, अथवा उदासीनता नियम कहते है। इसे समसीमात नियम इस लिए कहते है कि वस्तु के प्रत्येक प्रकार के सेवन या उपयोग मे सीमांत उपयोगिता प्राय. बराबर-बराबर रहती है। प्रतिस्थापन नियम इस लिए कहते है कि जिस सेवन या उपयोग या वस्तु से कम उपयोगिता प्राप्त होगी उस के स्थान पर ऐसे सेवन, उपयोग या वस्तु का प्रयोग होगा जिस से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो।

इसे उदासीनता-नियम इस लिए कहते है कि वस्तु के भिन्न-भिन्न सेवनो या उपयोगों मे, या भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उपभोगो से जो सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है वह बराबर-बराबर रहती है। अस्तु, उपभोक्ता

इस असमंजस मे पड जाता है कि किस उपयोग या वस्तु को स्वीकार करे और किसे त्याग दे। वस्तु या उपयोग के चुनने मे उसे उदासीन हो जाना पडता है।

द्रव्य और समसीमांत उपयोगिता नियम

सभी की इच्छा होती है कि अपने द्रव्य को इस तरह खर्च किया जाय कि उस से अधिक से अधिक उपयोगिता और संतोष प्राप्त हो सके। यह तभी हो सकता है जब द्रव्य को विविध वस्तुओ के खरीदने मे इस तरह लगाया जाय कि प्रत्येक वस्तु पर खर्च किए गए अंतिम रुपए से बराबर-बराबर सीमांत उपयोगिता प्राप्त हो। प्रत्येक मनुष्य को अनेक वस्तुओ को अनेक मात्रा मे खरीदना पडता है। अस्तु, उसे इस बात का विचार करना पडता है कि किस वस्तु से उसे कितना संतोष और उपयोगिता प्राप्त होगी। तुलना करने पर उसे जिस वस्तु से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती जान पडेगी, पहले वह उसी को खरीदेगा। किंतु कोई भी वस्तु, उस मे पहले चाहे कितनी ही अधिक उपयोगिता क्यो न प्राप्त हो यदि अधिक मात्रा मे खरीदी जायगी तो उस की उपयोगिता क्रमश घटती जायगी। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को भिन्न-भिन्न वस्तुओ को उसी मात्रा मे खरीदना चाहिए जिस से सब से प्राप्त होनेवाली कुल उपयोगिता सब से अधिक हो। ऐसा तभी हो सकेगा जब वह अपने रुपयो को प्रत्येक वस्तु पर इस प्रकार व्यय करे कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किए गए अंतिम रुपए की सीमांत उपयोगिता प्राय बराबर हो। नीचे लिखे कोष्ठक मे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

रुपया	वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता				
	अन्न	वस्त्र	घी	फल	दूध
पहला	१००	८०	७०	५०	५५
दूसरा	६०	७५	३०	३५	४०
तीसरा	६०	५०	२०	३०	३५

चौथा	४५	३०	१५	२५	३०	
पाँचवां	३०	२०	१०	२०	२५	
छठा	२०	१०	५	१०	२०	
सातवां	१०	५	०	५	१५	
आठवां	५	३	—५	३	१०	
नवां	०	२	—१०	२	५	
दसवां	—५	१	—१५	१	०	
	३६५	२७६	१२०	१८१	२३५	कुल उपयोगिता

मान लो किसी मनुष्य को दस रुपए खर्च करना है। उसे अन्न वस्त्र घी, फल, दूध इन पाँच वस्तुओं पर दसों रुपए खर्च करना है। यदि वह अपने दसों रुपए केवल अन्न पर ख़र्च करे तो उसे सब मिला कर कुल ३६५ उपयोगिता प्राप्त होती है। इसी प्रकार केवल वस्त्र पर दसों रुपए खर्च करने से २७६, घी से १२०, फल से १८१, दूध से २३५ उपयोगिता प्राप्त होती है। किंतु यदि वह प्रत्येक वस्तु पर खर्च किए गए प्रत्येक रुपए से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की तुलना करके इस प्रकार खर्च करता है कि प्राप्त वस्तु से उसे सब से ज़्यादा उपयोगिता प्राप्त हो तो कुल मिला कर सब वस्तुओं पर खर्च किए गए दस रुपयों से उसे कुल उपयोगिता ६६५ प्राप्त होती है। और चूँकि यह उन दस रुपयों के खर्च से प्राप्त होने वाली अधिक से अधिक उपयोगिता है, अस्तु वह इसी प्रकार तुलना कर के प्रत्येक वस्तु पर रुपया ख़र्च करके ६६५ उपयोगिता प्राप्त करेगा।

वह तुलना इस प्रकार करेगा—पहले रुपए के व्यय से उसे अन्न से १०० उपयोगिता प्राप्त होती है जो अन्य किसी भी वस्तु से प्राप्त होने-वाली पहले रुपए की उपयोगिता से अधिक है। अस्तु वह पहला रुपया अन्न पर खर्च करेगा। दूसरा रुपया भी अन्न ही पर खर्च होगा, क्योंकि अन्न पर दूसरे रुपए के व्यय करने से ६० उपयोगिता प्राप्त होती है, जो

अन्य किसी भी वस्तु पर खर्च किए गए दूसरे रुपए के बदले मे मिलने वाली उपयोगिता से अधिक है। तीसरा रुपया वस्त्र पर खर्च होगा, क्योंकि उस के एवज मे ८० उपयोगिता प्राप्त होती है जो तीसरे रुपए के अन्य किसी भी वस्तु पर ख़र्च से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक है। इसी प्रकार, चौथा रुपया भी वस्त्र पर खर्च होगा और उस से ७५ उपयोगिता प्राप्त होगी, जो अन्य किसी भी वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक है। पाँचवा रुपया घी पर खर्च होगा और उस से ७० उपयोगिता मिलेगी। छठा रुपया अन्न पर खर्च होगा और ६० उपयोगिता मिलेगी। सातवां रुपया दूध पर खर्च होगा और ५५ उपयोगिता मिलेगी। आठवा रुपया फल पर खर्च होगा और ५० उपयोगिता मिलेगी। नवां रुपया अन्न पर खर्च होगा और ४५ उपयोगिता मिलेगी। दसवां रुपया वस्त्र पर खर्च होगा और ४० उपयोगिता प्राप्त होगी। इस प्रकार चार रुपए अन्न पर खर्च किए गए और उन से १०० + ९० + ६० + ४५ = २९५ उपयोगिता मिली। तीन रुपए वस्त्र पर व्यय हुए और उन से ८० + ७५ + ४० = १९५ उपयोगिता मिली। और बाकी तीन रुपयों मे से एक रुपया घी पर, एक दूध पर और एक फल पर खर्च किया गया और क्रमश. ७०, ५५ और ५० उपयोगिता मिली। सब वस्तुओं से कुल मिला कर १०० + ९० + ६० + ४५ + ८० + ७५ + ४० + ७० + ५५ + ५० = ६६५ उपयोगिता मिली। यह उपयोगिता की अधिक से अधिक मात्रा है जो सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का ख्याल कर के प्राप्त की जा सकती है। पाचों वस्तुओं पर बांट कर रुपए इस तरह से खर्च किए गए कि प्रत्येक वस्तु पर खर्च होनेवाले रुपए की सीमांत उपयोगिता बराबर रही। इस प्रकार खर्च करने से उसे एक रुपए के बदले मे जो कम से कम उपयोगिता मिली वह है ४०। किन्तु यदि वह किसी भी एक वस्तु पर दसो रुपए व्यय करता तो उसे प्रत्येक रुपए के लिए इस से भी कम उपयोगिता प्राप्त होती। यदि वह दसो रुपए अन्न पर खर्च करता तो सब मिला कर

उसे २३५ प्राप्त होती, वस्त्र पर खर्च करने से २७६; घी पर खर्च करने से १२०, फल पर खर्च करने से १८१, और केवल दूध पर खर्च करने से २२५ उपयोगिता कुल मिला कर प्राप्त होती। अस्तु कुल उपयोगिता और सीमांत उपयोगिता दोनों ही बहुत कम होतीं।

प्रति दिन के जीवन में प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ इसी प्रकार की तुलना कर के सम-सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार अपनी आवश्यकताओं की भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर कमोवेश रुपए खर्च करके अधिक से से अधिक संतोष और उपयोगिता पाने की चेष्टा करता है। यह जरूरी नहीं है कि वह हर समय इस तरह का कोष्ठक बना कर निश्चय करता हो या प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक रुपए के लिए प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की मात्रा की ठीक-ठीक तुलना करता ही हो। पर रुपए खर्च करते समय हर एक आदमी सरसरी तौर से सम-सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार यह तुलना जरूर कर लेता है कि किस वस्तु की कितनी मात्रा ली जाय और प्रत्येक वस्तु पर कितना रुपया खर्च किया जाय ताकि उसे अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो सके।

इस नियम के संबंध में समय का खयाल रखना बहुत जरूरी है। किस वस्तु से कितनी उपयोगिता मिलेगी, उस की कितनी मात्रा ली जाय और प्रत्येक वस्तु पर कितना खर्च किया जाय इस की तुलना और निर्णय एक खास समय में हो जाना चाहिए। समय के बदलते ही प्रत्येक वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की मात्रा भी बदल जायगी, घट-बढ जायगी और तुलना की जरूरत पडेगी।

भविष्य और वर्तमान की तुलना

जिस तरह मनुष्य इस बात की तुलना करता है कि किस वस्तु के कितनी मात्रा लेने से उसे अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो सकेगी उसी तरह उसे इस बात की भी तुलना करनी पडती है कि वर्तमान समय में किए जाने वाले उपभोग या खर्च से प्राप्त होनेवाली कुल उपयोगिता से, भविष्य

मे किए जानेवाले उपभोग या खर्च के द्वारा प्राप्त होनेवाली उपयोगिता मे कितना अंतर है, दोनों मे से किस का पलडा भारी पडता है। प्रत्येक मनुष्य को भविष्य के लिए कुछ न कुछ बचाना ही पडता है। अस्तु, उसे यह तय करना पडता है कि कितना द्रव्य वर्तमान समय मे खर्च किया जाय और कितना भविष्य के खर्च के लिए बचा कर रख दिया जाय ताकि वर्तमान और भविष्य दोनों समयों मे मिलनेवाला संतोष और उपयोगिता मिल कर अधिक से अधिक हो। यह तुलना भी सम-सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार ही होती है।

अध्याय २६

माँग और उस के नियम

प्रत्येक मनुष्य को विविध वस्तुओ की चाह या इच्छा होती है। किंतु केवल कोरी चाह या इच्छा ही से किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए, कब्जे मे लाने के लिए, तीन बातो की जरूरत होती है · (१) उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, (२) खरीदने के साधन और (३) उन साधनो को काम मे लाने की मानसिक प्रेरणा। जिस इच्छा में ये तीनो बाते मौजूद हो उसी को अर्थशास्त्र में आवश्यकता (अथवा माँग या कारगर, प्रभावोत्पादक माँग) कहते है। आवश्यकता मनुष्य की वह इच्छा है जिस के लिए वह उद्योग और प्रयत्न करने तथा उस की पूर्ति के लिए उस के एवज मे कुछ देने के लिए तैयार हो। आवश्यकता की तृप्ति-पूर्ति के गुण को उपयोगिता कहते है। और उपयोगिता अर्थात् आवश्यकता को तृप्त करनेवाली शक्ति मापी जाती है उस उद्योग के द्वारा जो उस की प्राप्ति के लिए किया जाय, अथवा उस कीमत से जो उस के पाने के लिए दी जाय। किसी आवश्यक वस्तु के प्राप्त करने के लिए जो अन्य वस्तु उस के बदले मे दी जाती है वह उस आवश्यक वस्तु का मूल्य होती है और जो द्रव्य बदले मे दिया जाता है उसे कीमत कहते है।

माँग से किसी आवश्यक, इच्छित वस्तु की उस मात्रा का बोध होता है जिसे कोई खास कीमत पर खरीदने को तैयार हो। यदि कोई आदमी दस सेर चीनी चार आना सेर की दर से लेने को तैयार हो तो दस सेर चीनी उस की माँग होगी। माँग के साथ एक निश्चित कीमत का रहना

के अनुसार कीमतो की पूरी सूची को उस मनुष्य की मॉग की सारिणी कहते है। मॉंग की सारिणी वह सूची है जिस मे भिन्न-भिन्न कीमतो पर मॉग की भिन्न-भिन्न मात्राएं दिखलाई गई हो।

ऊपर की सारिणी के देखने से पता चलता है कि जैसे-जैसे कीमत घटती है वैसे ही वैसे मॉग बढती है। और जैसे-जैसे कीमत बढती है वैसे ही वैसे मॉग घटती है। जब सेब की कीमत एक रुपए सेर है तो मॉग की मात्रा केवल २ सेर है। जब कीमत आठ आना सेर हो जाती है तो मॉग बढ कर ' सेर हो जाती है। कीमत के २ आना सेर होने पर मॉग ८ सेर पर पहुॅच जाती है।

बाजार बहुत से व्यक्तियो के समूह से बनता है। बाजार मे शामिल होनेवाले सभी व्यक्तियो की सम्मिलित मॉगो से बाजार की मॉग निर्धारित होती है।

बाजार की मॉंग

किंतु बाज़ार मे बहुत तरह के व्यक्ति सम्मिलित है। कोई अमीर है, कोई गरीब, किसी की रुचि बहुत तीव्र होती है, किसी की कम तीव्र। किसी का स्वभाव एक तरह का है, किसी का दूसरी तरह का। पेशों मे भी फर्क है। ऐसी दशा मे यह कहना कठिन है कि बाजार मे जिन व्यक्तियो का समावेश किया जाता है उन की कोई सम्मिलित मॉग निश्चित की जा सके। किंतु सब बातो का विचार करने पर यह मान लेने मे कोई हानि नही होती कि भिन्न स्थिति, रुचि, स्वभाव, पेशा के मनुष्य सब मिल कर एक-दूसरे की कमी-बढी और विभिन्नताएं परस्पर पूरी कर लेगे और औसत लेने पर उन सब की एक सम्मिलित मॉग निश्चित की जा सकेगी। बाजार मे जिन मनुष्यों का समावेश किया गया है उन मे से कुछ ऐसे निकलेगे जिन्हे चीनी की बहुत अधिक आवश्यकता होगी, तो कुछ ऐसे भी होगे जिन्हे बहुत कम। साथ ही कुछ ऐसे भी होगे जिन्हे चीनी की आवश्यकता औसत दर्जे की जान पडेगी। अस्तु, पहले दो प्रकार के मनुष्य आपस मे एक-दूसरे की कमी-बढी की इस प्रकार पूर्ति कर देगे कि

कुल का औसत लेने पर चीनी की साधारण आवश्यकता विदित हो जाय। इस प्रकार बाज़ार की माँग का निर्णय किया जा सकता है। बाज़ार के सभी व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न माँगों को जोड देने से बाज़ार की माँग निकल आती है।

माँग का नियम

अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, किसी वस्तु की कीमत मे कमी होने पर (चाहे वह कमी कितनी ही कम क्यो न हो) बाज़ार मे उस वस्तु की कुल माँग बढ जायगी, और इस तरह कीमत के बढ जाने पर बाजार मे उस वस्तु की कुल माँग घट जायगी।

बाज़ार की माँग के अनुसार कीमतों की तालिका को बाज़ार की माँग की सारिणी कहते है।

यदि किसी बाजार के व्यक्तियों की संख्या १०,००० मान ली जाय तो, स्थिति, रुचि, स्वभाव, पेशा आदि की विभिन्नता रहने पर भी सब की औसत माँग एक औसत दर्जे के साधारण मनुष्य की व्यक्तिगत माँग के लगभग बराबर ही होगी। अस्तु कुल बाज़ार की माँग निकालने के लिए, एक खास समय मे, एक खास कीमत पर, एक औसत दर्जे की माँग मे उतने व्यक्तियो की सख्या से गुणा कर देना चाहिए। इसी तरह संख्या के गुणन द्वारा बाज़ार के माँग की सारिणी भी तैयार की जा सकती है। २०३ पृष्ठ की व्यक्तिगत सारिणी मे १०००० का गुणा, कर देने से बाज़ार की सारिणी निकल आती हैं:—

१०००० × २ = २०००० सेर सेब माँग जब कि कीमत १ रुपया सेर है
१०००० × ४ = ४०००० ,, ,, ,, ,, ८ आना सेर है
१०००० × ६ = ६०००० ,, ,, ,, ,, ४ ,, ,, ,,
१०००० × ८ = ८०००० ,, ,, ,, ,, २ ,, ,, ,,

यदि बीचवाली सभी मात्राओं की उचित कीमतें भर दी जायें तो एक खास समय मे, एक खास स्थिति मे, बाजार की माँग के अनुसार

कीमतों की पूरी सूची तैयार हो जायगी और इस प्रकार बाजार की मॉग की पूरी जानकारी हो जायगी।

जब हम पहली कीमत पर किसी वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदते है अथवा पहले से अधिक कीमत पर पहले के बराबर मात्रा (या उस से अधिक मात्रा मे) खरीदते है तो इस बढी हुई मॉग को मॉग की प्रबलता कहते है। किंतु जब किसी वस्तु की कीमत के पहले से कम होने पर जो कुछ मॉग बढती है उसे मॉग का प्रसार कहते है।

मॉग की प्रबलता और प्रसार

रीति, रिवाज, फैशन आदि के बदलने से जब कोई वस्तु ज्यादा चल पडती है अथवा स्वभाव, रुचि, स्थिति, आमदनी के बदल जाने से किसी वस्तु की उपयोगिता बढ जाती है तो पहली ही कीमत के रहने (या कीमत के बढ जाने पर भी) उस वस्तु की मॉग बढ जाती है। इसी को मॉग की प्रबलता कहते है।

मॉग की शिथिलता और घटी

जब कोई वस्तु पहली ही कीमत पर कम परिमाण में बिकती है या कीमत के पहले से कम हो जाने पर भी पहले के बराबर मात्रा मे या कम मात्रा मे बिकती है तो तो इसे मॉग की शिथिलता कहते है। ऐसा तभी होता है जब कोई वस्तु रिवाज, चलन, फैशन आदि से निकल जाती है, अथवा रुचि, स्वभाव, आमदनी, स्थिति आदि मे फर्क पड जाने से उस वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है।

जब कीमत के बढने से किसी वस्तु की मॉग मे कमी आती है तो उसे मॉग की घटी कहते है।

मॉग का नियम

किसी वस्तु की कीमत के कम होने से उस वस्तु की खरीद की मात्रा बढ जाती है और किसी वस्तु की कीमत के बढ जाने से उस वस्तु की खरीद की मात्रा मे कमी आजाती है। किसी वस्तु की माँग, कीमत कम होने से बढ जाती है और

क़ीमत के बढ जाने से कम होजाती है। मॉग का घटना-बढना कीमत के बढने-घटने पर निर्भर रहता है।

जब आम आठ पैसे का एक मिलेगा तो बाज़ार मे १०० आमों की मॉग होगी। यदि चार पैसे का एक आम मिलने लगे तो बाज़ार मे २०० आमों की मॉग होगी। यदि आम पैसे-पैसे को बिकने लगे तो १०००, आमों की मॉग हो जायगी। किंतु यदि चार आने का एक आम हो तो शायद ४० आमों ही की मॉग हो।

मॉग का नियम सीमात-उपयोगिता नियम और समसीमांत उपयोगिता नियम से निकला है। जैसे-जैसे किसी एक वस्तु की मात्रा बढती जाती है, वैसे ही वैसे उस की सीमात उपयोगिता कम होती जाती है। अस्तु, प्रत्येक बादवाली इकाई के लिए मनुष्य कम ही कम दाम देने को तैयार होगा क्योंकि प्रत्येक बादवाली इकाई से उसे कम ही कम उपयोगिता प्राप्त होगी। अस्तु, यदि कीमत कम हो जाय तो प्रत्येक मनुष्य किसी वस्तु की कुछ ज्यादा इकाइयां लेने को राजी होगा क्योंकि उन के बदले मे उसे कम कीमत देनी पड़ेगी। यह ऊपर वाले आमो के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। अस्तु, मॉग का नियम सीमांत उपयोगिता के नियम पर निर्भर है।

समसीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार यह जरूरी है कि प्रत्येक मनुष्य तभी अपने द्रव्य या वस्तुओं के उपभोग से सब से अधिक उपयोगिता प्राप्त कर सकता है जब वह इस तरह द्रव्य या वस्तुओं को विभिन्न उपयोगों में बाँट दे कि प्रत्येक उपयोग मे लगाए गए रुपयों में से अंतिम रुपया या वस्तु की इकाइयों में से अंतिम इकाई की सीमांत उपयोगिता करीब-करीब बराबर हो यानी प्रायः सभी जगह समसीमांत उपयोगिता प्राप्त हो। इस नियम के अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तु से बदले में तब तक दी जायगी जब तक कि दोनों की इकाइयों की उपयोगिता बराबर-बराबर हो। इस बदले में दी जानेवाली एक वस्तु की सीमांत उपयो-

गिता दूसरी वस्तु की सीमांत उपयोगिता से कम होगी तो विनिमय बंद हो जायगा। एक आम के बदले में एक नारंगी तभी तक ली जायगी जब तक कि दोनों की उपयोगिता बराबर हो। यदि कोई एक आने का एक आम खरीदता है तो यह जरूरी है कि उसे उस आम से इतनी उपयोगिता प्राप्त हो जो एक आने से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता के बराबर हो। यदि एक आने से प्राप्त होने वाली उपयोगिता एक आम की उपयोगिता से अधिक होगी तो कोई भी समझदार आदमी एक आना देकर एक आम न खरीदेगा। यदि एक आम की उपयोगिता एक आना से अधिक होगी तो वह आदमी तब तक एकाएक आना देकर आम खरीदता जायगा जब तक कि आम की उपयोगिता एक आना की उपयोगिता के बराबर न आ जायगी।

कीमत में कमी और माँग की वृद्धि का संबंध

कीमत में कमी-बढ़ी होने और माँग के बढ़ने-घटने में कोई भी एक-सा आनुपातिक संबंध नहीं है। यदि कीमत आधी रह जाय तो यह जरूरी नहीं है कि माँग ठीक दूनी ही हो। माँग सवाई, ड्योढ़ी भी हो सकती है और चौगुनी, पँचगुनी या दसगुनी भी। इसी प्रकार कीमत के सवाई, दूनी होने पर माँग आधी तिहाई, पौनी हो सकती है। यह जरूरी नहीं है कि कीमत जिस हिसाब से घटे या बढ़े माँग उसी हिसाब से बढ़े या घटे, अर्थात् कीमत और माँग के घटने-बढ़ने में कोई आनुपातिक संबंध नहीं है।

सीमांत उपयोगिता और बाजार की दर

किसी वस्तु, की बाजार दर के उस वस्तु की प्रत्येक खरीदार के लिए व्यक्तिगत सीमांत उपयोगिता की माप हो जाती है। किंतु आमतौर पर बाजार के सभी खरीदारों के लिए कोई भी एक-सी सम्मिलित सीमांत उपयोगिता नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सीमांत खरीद एक ही या एक-सी नहीं होती। इस का कारण स्पष्ट

है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, स्वभाव, स्थिति, क्रयशक्ति भिन्न-भिन्न होती है।

ऊपर की तालिका मे मॉग के अनुसार वे कीमते दी गई हैं जिन पर

प्रतियोगी वस्तु और मॉग

एक बाज़ार मे किसी एक खास समय और खास परिस्थित मे किसी एक वस्तु की विभिन्न मात्राएं वेची जायॅगी। यदि किसी तरह से भी स्थिति मे परिवर्तन होगा तो शायद कीमते बदलनी पडेगी। यदि रुचि, फैशन, चलन मे रद्दोबदल हो जाय अथवा प्रतियोगी वस्तु या वस्तुएं सस्ती हो जायॅ अथवा नई प्रतियोगी वस्तु या वस्तुएं बाजार मे आ जायॅ तो पूर्व-कथित वस्तु की विभिन्न कीमतों मे ज़रूर ही रद्दोबदल करनी पड़ेगी। यदि चीनी के स्थान मे गुड या सेक्रीन के इस्तेमाल का रवाज चल पडे या बट जाय, अथवा कोई ऐसी नई वस्तु निकल आवे जो चीनी के स्थान मे काम में लाई जा सके तो जिन कीमतो पर चीनी की विभिन्न मात्राएं ख़रीदी जाती थीं उन कीमतो मे निश्चय ही रद्दोबदल करनी पड़ेगी।

अध्याय २७

वस्तुओं का विभाजन

प्रत्येक प्राणी अपना जीवन बनाए रखना चाहता है। शरीर को बनाए रखने के लिए भोजन, वस्त्र, सुरक्षित स्थान आदि बहुत जरूरी है। इन के बिना काम ही नहीं चल सकता। किंतु इन के उपभोग से मनुष्य का निर्वाह भर हो सकता है, इन के सेवन से शरीर और जीवन की रक्षा होती है। इसी से इन पदार्थों को जीवन-रक्षक पदार्थ कहते है। जीवन-रक्षक पदार्थ, चाहे मॅहगे मिले, चाहे सस्ते, एक खास मात्रा मे आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी को लेने पडते है। इन पदार्थों की कीमत बढने पर भी इन की एक खास मॉग मे कमी नहीं पडती क्योंकि इन की एक ख़ास मात्रा का लेना जरूरी है।

जीवन-रक्षक पदार्थ

जिन पदार्थो के सेवन से मनुष्य की कार्य करने की योग्यता, शक्ति, कुशलता, निपुणता, बल, उत्साह, आदि बढे उन्हे निपुणता-दायक पदार्थ कहते है, जैसे पुष्टिकारक, स्वास्थ्य-वर्धक पदार्थ उचित व्यायाम और मनोरंजन के साधन, शिक्षा आदि। निपुणता-दायक पदार्थो के सेवन मे जो व्यय पडता है, उस के अनुमान मे वह लाभ कही अधिक मूल्यवान होता है जो उतने पदार्थों के सेवन से प्राप्त होता है। इन की कीमत बढ जाने पर भी इन की मॉग मे वैसे बहुत कमी नहीं आती। किंतु कीमत बढ जाने पर निपुणता-दायक पदार्थों की मॉग वैसी अपरिवर्तित नहीं रहती जैसी कि जीवन-रक्षक पदार्थों की। कीमत बढने पर निपुणता-दायक पदार्थों की मॉग मे कुछ न कुछ कमी तो आती ही है।

निपुणता-दायक पदार्थ

आराम की वस्तुएं

जिन पदार्थों के उपभोग से शरीर को सुख और आराम तो मिलता है और निपुणता भी कुछ थोड़ी बढ़ती है किंतु जिस हिसाब से इन वस्तुओं के सेवन मे ख़र्च पड़ता है उसी अनुपात मे उन के उपभोग से निपुणता, योग्यता, शक्ति, उत्साह आदि नही बढ़ते। आराम की वस्तुओं की कीमत बढ़ जाने से उन की माँग मे काफी कमी आजाती है।

कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएं

जिन पदार्थों का सेवन सामाजिक चलन, रीति-रस्म, आचार-व्यवहार के दबाव, लोकनिंदा के भय या आदत पड़ जाने के कारण विवश होकर जरूर ही करना पड़ता है, पर जिन का सेवन जीवन-रक्षा, निपुणता प्राप्ति या आराम के लिए ज़रूरी नही हैं, उन्हे कृत्रिम आवश्कता की वस्तुएं कहते है। इन पदार्थो के सेवन से अकसर निपुणता, कार्य-कुशलता आदि कम हो जाती है। किंतु इन का उपभोग इतना जरूरी समझा जाता है कि पैसे की कमी होने पर मनुष्य जीवन-रक्षक पदार्थों को कम मात्रा में लेकर भी उस मद से बचत करके इन पदार्थो को ज़रूर लेगा। इस कारण इन वस्तुओं की कीमत के बढ़ जाने पर भी इन की माँग मे कमी नही आती। शराब, भंग, गाँजा, ताड़ी, तंबाकू, रीति-रस्म, उत्सवों आदि पर काम मे लाई जाने वाली निश्चित वस्तुएं, ख़ास तरह की पोशाक, जेवर आदि इसी तरह के पदार्थ है।

विलासिता की वस्तुएं

जिन वस्तुओं के उपभोग से शान-शौकत दिखावा आदि तो बढ़े पर जीवन-रक्षा, निपुणता, आराम से जिन का वैसा कोई संबंध न हो, उन्हें विलासिता की वस्तुएं कहते हैं। ऐसी वस्तुओं के उपभोग से निपुणता, कुशलता शक्ति, उत्साह आदि बढ़ने के बजाय प्रायः घटते हैं। आलीशान महल, बढ़िया शराब, तड़क-भड़क के वस्त्र जेवर आदि इसी तरह की वस्तुएं हैं। इन की कीमत में थोड़ी भी कमी-बढ़ी होने से माँग बहुत बढ़ या कम हो जाती है।

कोई भी वस्तु अपने आप किसी भी वर्ग में नहीं रक्खी जा सकती।

परिस्थिति और वस्तुओं का विभाजन

देश, काल, समय, जलवायु, मनुष्य की आर्थिक-सामाजिक स्थिति, स्वभाव, आदत, फ़ैशन, रीति-रस्म, चलन, वस्तुओं की कीमत आदि पर वस्तुओं का विभाजन, वर्गीकरण निर्भर रहता है। उपभोक्ता की परिस्थिति के अनुसार वही एक वस्तु एक के लिए जीवन-रक्षक, दूसरे के लिए निपुणता-दायक, तीसरे के लिए विलासिता की वस्तु होगी। एक ऐसे डाक्टर के लिए जिसे प्रति दिन सैकड़ो रोगियो को दूर-दूर के भिन्न-भिन्न स्थानों मे जाकर देखना पड़ता हो मोटर आवश्यक वस्तु होगी। वही मोटर एक वकील के लिए आराम की वस्तु और एक मामूली आदमी के लिए या मज़दूर के संबंध मे विलासिता की वस्तु ठहरेगी। आदत पड़ जाने के कारण बिजली का पंखा एक धनी आदमी को केवल आराम की वस्तु होगी, किंतु एक मामूली किसान के लिए वह विलासिता की वस्तु समझी जायगी।

किसी मनुष्य के रहन-सहन के दर्जे या आमदनी के बदल जाने, समय के बदलने, या चलन-फैशन के परिवर्तन से या कीमत के कमोबेश होने पर एक ही वस्तु एक समय विलासिता की वस्तु, दूसरे समय आराम की वस्तु, बाद मे निपुणता-दायक या जीवन-रक्षक पदार्थ मानी जा सकती है।

विलासिता की वस्तुएं आमतौर पर अनावश्यक, व्यर्थ और अनुचित तथा हानिकारक मानी जाती है। किंतु कुछ मनुष्य विलासिता की वस्तुओ को भी हितकर बतलाते है। साधारणतः उपभोक्ताओ मे तीन तरह के मनुष्य होते है। एक तो वे जो केवल अपने स्वार्थ और सुख की दृष्टि से विचार कर सकते है। उन का कहना है कि जब हमारे पास द्रव्य और साधन है तो हम क्यों न खुल कर मौज लूट ले? हमें दुनिया के किसी अन्य प्राणी के सुख-दु:ख से क्या वास्ता? अपना-अपना सब देखे। जब हमे किसी बात की ज़रूरत पड़ती है तो क्या हमारी ज़रूरत पूरी करने

कोई दूसरा आता है, जो हम दूसरों के पीछे अपना सुख हराम करते घूमें ? इन के ख्याल मे विलासिता कोई बुरी बात न होकर ज़रूरी है। दूसरे तरह के मनुष्य समझदारी से चलनेवाले होते हैं जो न तो बहुत विलासिता ही चाहते और न एकदम उस का अभाव ही। इन की राय मे इतनी विलासिता बुरी नही (बल्कि ज़रूरी है) जो आसानी से निभ सके। तीसरे दर्जे मे वे है जो यह देख कर चलना चाहते हैं कि उन के कामो और खर्चों का दूसरे मनुष्यो पर क्या प्रभाव पडता है। ऐसे मनुष्यों मे से कुछ विलासिता को ठीक नहीं समझते। किंतु इन मे कुछ ऐसे भी है जिन के विचार से विलासिता के कारण अनेक लाभ संसार को पहुँचते है। इन के विचार से लाभ ये है.—

(१) विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से उद्योग-धंधों और व्यापार-वाणिज्य को उत्तेजना प्राप्त होती है प्रोत्साहन मिलता है, और इस प्रकार अनेक ग़रीब बेकारो को काम मिलता है।

(२) विलासिता की वस्तुएं ऊँचे दर्जे की चीजे होती हैं, अस्तु उन के बनानेवालों को अधिक सुरुचिपूर्ण, संस्कृत, दक्ष और उच्च श्रेणी का होना ज़रूरी है। अस्तु, विलासिता के कारण उन्नति और सुसंस्कृति की वृद्धि होती है।

(३) जिन के पास अधिक धन होता है वे ही विलासिता की वस्तुओं का इस्तेमाल कर सकते हैं। यदि वे इन वस्तुओं को न लें तो उन के पास का धन व्यर्थ मे उन के पास पड़ा रहे। इस से समाज को हित के बजाय हानि हो। विलासिता की वस्तुएं ख़रीदने के कारण उन के हाथ से निकल कर द्रव्य समाज के उन व्यक्तियो के हाथो में आ जाता है जिन के द्वारा उस का अधिक उपयुक्त उपयोग होता है। अस्तु, विलासिता की वस्तुओं के कारण समाज को लाभ ही होता है।

(४) विलासिता के द्वारा उन्नति को प्रोत्साहन मिलता है। नई-नई वस्तुएं और उन के बनाने के लिए मशीनों का आविष्कार किया जाता है।

उत्पादन के साधनो मे सुधार होता है। इन सब बातो से देश और समाज का हित होता है।

(५) विलासिता की वस्तुओ से मनोरंजन और सुख मिलने के कारण थकावट, जीवन की नीरसता, एकरसता दूर होती और नई स्फूर्ति और कार्य-शक्ति प्राप्त होती है। अस्तु सभी के लिए किसी न किसी रूप में विलासिता की वस्तुएं लाभदायक है।

(६) दूसरो को विलासिता की वस्तुओं का उभोग करते देख गरीबो को उन्नति करने और अधिक कुशलता प्राप्त कर के अधिक द्रव्य कमा कर उन वस्तुओ का उपभोग करने का प्रोत्साहन मिलता है। इस कारण उन व्यक्तियो का तथा देश और समाज का बडा लाभ होता है।

(७) जो विलासिता की वस्तुओ का सेवन करते हैं। उन का रहन-सहन का दर्जा बहुत ऊंचा होता है। अस्तु वे अपने रहन-सहन के दर्जे को कायम रखने के खयाल से कम बच्चे पैदा करते है। इस से व्यर्थ की जन-संख्या नही बढने पाती।

(८) विलासिता की कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिन के रूप मे मनुष्य भविष्य के लिए धन संग्रह कर के आकस्मिक आवश्यकता तथा भविष्य की ज़रूरत के लिए अनायास ही प्रबंध कर सकता है, जैसे बहुमूल्य रत्न, ज़ेवर, फरनीचर, महल, कोठी आदि जिन्हे बेच कर वक्त ज़रूरत वह रुपया खडा कर सकता है।

(९) केवल विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से ही सामाजिक औद्योगिक, व्यापारिक तथा आर्थिक उन्नति हो सकती है और मजदूर आदि हर प्रकार के मनुष्यो को अधिकाधिक काम दिया जा सकता है, क्योकि केवल विलासिता की वस्तुएं ही ऐसी होती हैं जिन की आवश्यकता दिन दूनी रात चौगुनी बढ सकती है न कि जीवन-रक्षक, निपुणता-दायक पदार्थों की। कारण कि एक खास मात्रा के बाद इन पदार्थों से पूर्ण तृप्ति प्राप्त हो जाती है और उन का और अधिक उपभोग नही किया जा सकता। किंतु

विलासिता की वस्तुओं के उपभोग का कोई अंत नही। दूसरे, वे वस्तुएं नित नई और अपरिमित आकार-प्रकार, रंग-रूप मे बनाई जा सकती है और उन नई-नई वस्तुओं के द्वारा नई-नई विलासिता की आवश्यकताएं उत्पन्न की जा सकती है। इस प्रकार मानव समाज की उन्नति और सभ्यता का विकास विलासिता की वस्तुओं द्वारा ही हो सकता है और उद्योग, व्यापार, उत्पादन को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

उपर्युक्त तर्क ऊपर से बहुत ठोस जान पड़ते है और ऐसा मालूम होने लगता है कि विलासिता कोई बुरी बात न हो कर समाज और उन्नति के लिए बहुत ज़रूरी है। किंतु विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि तर्क थोथे है और उन मे तथ्य नही है। ऊपर के तर्कों के उत्तर इस प्रकार हैः—

(१) एक खास समय मे किसी समाज के श्रम, पूॅजी आदि उत्पादक साधन एक परिमित मात्रा ही मे रहते हैं। इन्हीं साधनों के उपयोग से समाज का उस समय का सारा उत्पादन कार्य चलता है। यदि विलासिता की वस्तुएं बनाई जाने लगेगी तो उस श्रम, पूॅजी आदि का एक खासा भाग ज़रूरी वस्तुओं के उत्पादन मे हट कर विलासिता की वस्तुओ के उत्पादन मे लगेगा। इस से समाज के लिए जो अधिक उपयोगी वस्तुएं हैं उन के उत्पादन मे कमी पड़ेगी। अस्तु समाज को हानि होगी। अस्तु यह कहना कि विलासिता की वस्तुओ के उत्पादन मे उद्योग व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है, ठीक नहीं है।

(२) विलासिता की वस्तुओं के सेवन मे जो धन लगाया जाता है उसे यदि अन्य उपयोगी कामो मे लगाया जाय तो देश, समाज और धन लगानेवाले व्यक्ति सभी का लाभ हो।

(३) यह ज़रूरी नहीं है कि जो भी आविष्कार, सुधार, होते है वे सभी विलासिता की वस्तुओं के कारण होते है।

(४) विलासिता के कारण शक्ति, योग्यता, उत्साह का ह्रास होता है और आलस्य और निकम्मापन आता है।

(५) जब देश मे लाखों, करोडो व्यक्तियो को जीवन-रक्षक पदार्थ पूरी मात्रा में नहीं मिलते हैं तब थोड़े से आलसियो के लिए विलासिता की वस्तुओ के बनाने मे व्यर्थ श्रम और पूँजी आदि फँसाना बडा अन्याय होगा। पहले देश के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-रक्षक, निपुणता-दायक वस्तुओं का पूरी मात्रा मे मिलने का प्रबंध होना जरूरी है।

(६) धन-संग्रह विलासिता की वस्तुओ के बिना भी अन्य साधनो द्वारा हो सकता है। अस्तु विलासिता मे व्यर्थ धन फूँकना उचित नहीं हैं।

(६) उन्नति के लिए विलासिता की वस्तुओ का होना जरूरी नहीं है। निपुणता-दायक पदार्थ और आराम की वस्तुओ से भी वही मकसद पूरा होता है।

अध्याय २८

माँग की लोच

साधारणत. किसी वस्तु की कीमत जब घट जाती है तो उस की माँग बढ़ जाती है और जब उस की कीमत बढ़ जाती है तो उस की माँग घट जाती है। कीमत मे परिवर्तन हो जाने से उस वस्तु की माँग मे भी परिवर्तन हो जाता है। यह माँग का एक खास गुण है। माँग के इस गुण को "माँग की लोच" कहते है। जब किसी वस्तु की कीमत मे थोडी घटी-बढी आ जाने से उस वस्तु की माँग मे काफी बढी-घटी आ जाती है तो कहा जाता है कि उस वस्तु की माँग लोचदार है।

माँग की लोच क्या है ?

जैसे-जैसे हमारे पास किसी एक वस्तु का परिमाण या संग्रह बढता जाता है, अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर, वैसे ही वैसे उस वस्तु के लिए हमारी चाह या आवश्यकता कम होती चली जाती है। कुछ वस्तुएँ तो ऐसी होती हैं कि उन के परिमाण या संग्रह के बढने से (उन से संबंध रखनेवाली) हमारी आवश्यकता, बहुत तेजी से कम होती जाती है, किन्तु कुछ ऐसी भी होती हैं जिन के परिमाण के बढते जाने पर उन से संबंध की चाह या आवश्यकता कम तो होती जाती है पर बहुत धीरे-धीरे। यदि हमारी चाह या आवश्यकता धीरे-धीरे कम होगी तो उस वस्तु की कीमत मे थोडी भी कमी होने से हमारी माँग अधिक बढ जायगी और कीमत यदि थोडी भी बढी तो माँग बहुत घट जायगी। ऐसी दशा मे कहा जायगा कि माँग अधिक लोचदार है। यदि उस वस्तु के परिमाण या संग्रह के बढने पर साथ ही साथ उस वस्तु के लिए हमारी चाह या आवश्यकता

तेज़ी से कम होती है तो उस वस्तु की कीमत के घटने पर उस की माँग बढ़ेगी, पर बहुत कम और उस की कीमत के बढ़ जाने पर उस की माँग घटेगी, पर ज्यादा नहीं। ऐसी दशा में कहा जायगा कि उस वस्तु की माँग में कम लोच है, माँग कम लोचदार है।

यदि एक वस्तु की कीमत में कुछ कमी होने से माँग अधिक लोचदार होगी तो उसी वस्तु की कीमत के बढ़ने पर भी माँग अधिक लोचदार होगी। (१) जब किसी एक कीमत पर माँग में अधिक लोच होगी (माँग अधिक घटे या बढ़ेगी) तो कहा जाता है कि माँग अधिक लोचदार है, (२) जब किसी एक कीमत पर माँग में कम लोच होगी (माँग कम घटे या बढ़ेगी) तो कहा जाता है कि माँग कम लोचदार है।

लोच कीमत के साथ बदलती रहती है। आमतौर पर किसी एक श्रेणी के मनुष्य के लिए किसी वस्तु की माँग की लोच ऊंची कीमत पर अधिक, मध्यम कीमत पर अधिक या काफी ज्यादा होगी, और जैसे-जैसे कीमत कम होती जायगी वैसे-वैसे लोच में कमी आती जायगी और अंत में कीमत में इतनी कमी आ जायगी कि उस श्रेणी के सभी व्यक्तियों की तृप्ति हो जायगी तो माँग की लोच धीरे-धीरे लुप्त हो जायगी।

लोच का नियम

माँग की लोच के संबंध में यह बात जान लेनी जरूरी है कि प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों के लिए ऊंची, मध्यम और कम कीमतों की सतह अलग-अलग होती है। जो कीमत ऊँचे दर्जे या श्रेणी के लिए कम होगी वही कीमत मज़दूर श्रेणी वालों के लिए बहुत ऊँची कीमत होगी और मध्यम श्रेणी वालो के लिए काफी ज्यादा कीमत होगी। दो रुपए सेर बादाम धनी लोगों के लिए साधारण कीमत का मध्यम श्रेणी वालों के लिए काफी ऊँची कीमत का, और ग़रीब मजदूर श्रेणी वालो के लिए बहुत अधिक कीमत का माना जायगा। ऊची, मध्यम, या कम कीमत स्वतंत्र रूप से कुछ मतलब नहीं रखती। किसी भी कीमत का ऊंची मध्यम या

या कम होना प्रत्येक श्रेणी के मनुष्य के संबंध पर निर्भर है। एक ही कीमत धनी के लिए कम लेकिन मज़दूर के लिए ऊँची होगी।

भिन्न-भिन्न वस्तुओं की माँग की लोच भिन्न-भिन्न होती है और एक ही वस्तु की माँग की लोच भिन्न-भिन्न श्रेणी के मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न होती है। आगे विभिन्न वस्तुओं तथा मनुष्यों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों को लेकर प्रत्येक के संबंध मे माँग की लोच का अलग-अलग विवेचन किया जाता है। इस प्रकार के विवेचन से माँग की लोच से संबंध रखने-वाले नियम स्पष्ट हो जायँगे।

माँग की लोच से संबंध रखने वाले नियम

बहुत कीमती विलासिता की वस्तुओं की कीमत मे कुछ कमी होने पर इन की माँग धनी लोगों में बढ जायगी अस्तु धनी वर्ग के लिए अधिक मूल्य वाली विलासिता की वस्तुओं की माँग काफ़ी लोचदार होती है। यदि मोटरों के दाम ४०००) के बजाय २०००) हो जायँ तो धनी लोगों मे मोटरों की माँग पहले से अधिक हो जाय। पर ग़रीबों के लिए ऐसी कीमती वस्तुओं की माँग, कीमत इस प्रकार घटने पर भी, बिल्कुल बे-लोच होगी, क्योंकि वे उतने दामों पर भी उन वस्तुओं को खरीदने की शक्ति नहीं रखते। कीमती वस्त्र, ज़ेवर रत्न, महल आदि इसी तरह की वस्तुएं है जिन के दाम यदि कुछ घट जायँ तो उन वस्तुओं के लिए ग़रीबों की माँग में कोई लोच न आ सकेगी, हालाँकि अमीरों की माँग बढ जायगी। अमीरों के लिए उस माँग मे लोच होगी।

बहुत क़ीमती विलासिता की वस्तुए

कुछ कम कीमती विलासिता की वस्तुओं की कीमत यदि कुछ घट जाय तो अमीरो और ग़रीबों की माँग मे कुछ फर्क न पड़ेगा, वह लोचदार न होगी, क्योंकि उस वस्तु की जितनी मात्रा अमीरो को लेनी थी उतनी पहले ही ले चुके थे। अस्तु उन की तृप्ति हो चुकी थी। इस

कुछ कम कीमती विलासिता की वस्तुए

कारण कीमत के घटने पर उन की मॉग न बढेगी। और गरीबो के लिए यह घटी हुई क़ीमत भी ऊँची कीमत ठहरेगी। अस्तु, वे इस घटी हुई कीमत पर भी उस वस्तु को खरीद न सकेंगे। हां मध्यम श्रेणी के लोगो की माँग जरूर बढेगी, क्योंकि वे इस से ऊँची कीमत पर उस वस्तु को ले न सकते थे, या कम मात्रा में ले सकते थे, अस्तु मध्यम श्रेणी के लोगो की माँग लोचदार होगी।

इसी प्रकार बहुत कम कीमत की विलासिता की वस्तुओं के लिए गरीब श्रेणी वालो की मॉग सब से ज्यादा बढेगी, मध्यम श्रेणी वालो की मॉग गरीबो की मॉग से कुछ कम और अमीरो की मॉग बिल्कुल न बढेगी।

आम तौर से जीवन-रक्षक पदार्थो की मॉग कम लोचदार या बे-लोच मानी जाती है। इस का कारण यह है कि जीवन-रक्षक पदार्थों का लेना सभी के लिए जरूरी होता है। अस्तु, कोई भी कीमत हो, अमीर-गरीब सभी को अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए जीवन-रक्षक पदार्थों की पर्याप्त मात्रा लेनी ही पड़ती है। अस्तु, जीवन-रक्षक पदार्थो की कीमत घट जाने पर भी मॉग मे वैसा कोई रद्दोबदल नही होता, क्योंकि कीमत की घटी के पहले ही आमतौर पर उन की इतनी मात्रा खरीदी जाती है जो तृप्ति की दशा तक पहुँच जाती है।

जीवन-रक्षक पदार्थ

यह बात उन संपन्न देशो के बारे मे अधिक लागू होती है, जहा ग़रीब श्रेणीवाले भी इतने संपन्न होते है कि वे जीवन-रक्षक पदार्थों को पर्याप्त मात्रा मे ले सके। किंतु भारत ऐसे ग़रीब देश मे यह बात नही है। यहां ग़रीब और नीची मध्यम श्रेणी वालो को जीवन-रक्षक पदार्थ भी पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त नही होते। अस्तु, गरीब देशो मे जीवन-रक्षक पदार्थों की कीमत मे कमी होने से गरीब और नीची मध्यम श्रेणियो के मनुष्यो की मॉगे बहुत बढ जायँगी। अस्तु जीवन-रक्षक पदार्थों की माँग भी ग़रीबो और नीची मध्यम श्रेणी के लोगो के लिए लोचदार होती है।

जो वस्तुएं जीवन-रक्षा के लिए ज़रूरी नही है उन की माँग आम तौर

पर अधिक लोचदार होती है। बढिया मकान, वस्त्र, फ़रनीचर, सवारी, व्यंजन आदि ऐसी ही वस्तुएं है जिन की मॉग अधिक लोचदार होती है।

जिन पदार्थों के सेवन का अभ्यास पड जाता है वे जीवन-रक्षक पदार्थ न होने पर भी ज़रूर ख़रीदे जाते है। अस्तु उन की मॉग मे लोच नही रह जाती।

अभ्यास और लोच

जिन वस्तुओं का उपयोग एक से अधिक कामों के लिए होता है उन की मॉग लोचदार होती है। क्योंकि कीमत के घटने-बढने से विभिन्न उपयोगों के लिए वह वस्तु अधिक या कम मात्रा से ली जायगी।

एक वस्तु के विभिन्न उपयोग और लोच

जिस वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तु या वस्तुएं उपयोग मे लाई जा सकती है उस की मॉग काफी लोचदार होती है। कारण कि उस वस्तु की कीमत मे कमी होने से अन्य प्रतियोगी वस्तुओं के मुकाबले मे वह अधिक ली जायगी। और कीमत के बढ जाने पर अन्य वस्तुओं के मुक़ाबले मे वह वस्तु कम ली जायगी, क्योंकि अन्य प्रतियोगी वस्तुएं सस्ती होने से अनुपात में अधिक ख़रीदी जायँगी। गेहूँ और चावल दोनों भोजन के काम में आते है। यदि गेहूँ सस्ता हो जाय तो पहले से ज़्यादा ख़रीदा जायगा।

प्रतियोगी वस्तुए और मांग

आम तौर पर समाज के विभिन्न व्यक्तियो मे संपत्ति का जितना ही अधिक समान वितरण होगा मॉग उतनी ही अधिक लोचदार होगी। इस के विपरीत संपत्ति का वितरण जितना ही असम होगा, यानी समाज के कुछ व्यक्ति बहुत धनी होंगे कुछ बहुत ग़रीब, तो मॉग की लोच उतनी ही कम होगी।

सपत्ति के वितरण का लोच पर प्रभाव

मॉग की लोच नीचे लिखी बातों पर निर्भर रहती है :—

(१) जिन वस्तुओं के प्रतियोगी पदार्थ न होंगे उन की लोच कम होगी। क्योंकि बिना उन के काम न चलेगा अस्तु उन का लेना ज़रूरी होगा। नमक के स्थान मे कोई दूसरी चीज़ से काम नहीं चल सकता।

अस्तु नमक की मॉग कम लोचदार है। चीनी का काम सेक्रीन, गुड़, राब आदि से चल जाता है, अस्तु चीनी की मॉग मे ज्यादा लोच होता है।

(२) जिन वस्तुओ की आवश्यकता जितनी ही ज़्यादा होगी उन की मॉग मे उतनी ही कम लोच होगी। जीवन-रक्षक पदार्थ की मॉग बेलोच या कम लोचदार होती है, कारण कि अत्यंत आवश्यक होने मे लोग उन्हें वैसे ही ज़्यादा से ज़्यादा परिमाण मे खरीदने के लिए बाध्य होते है।

(३) जिस वस्तु पर किसी व्यक्ति की कुल आमदनी का जितना ही कम हिस्सा ख़र्च होगा उस की मॉग मे उतनी ही कम लोच होगी। दियासलाइयो की क़ीमत बहुत ही कम हो जाय तो भी मॉग एक हद से ज्यादा न बढ़ सकेगी।

(४) जब कोई एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु के उत्पादन या तैयारी मे काम मे लाई जाती है तो उस पर कुल लागत का जितना ही कम भाग खर्च होगा उतनी ही कम लोच उस की मॉग मे होगी। कोट कमीज के बटनो की मॉग बहुत लोचदार न होगी, क्योकि कपड़े और सिलाई के मुक़ाबले मे कुल ख़र्च का एक बहुत ही छोटा हिस्सा बटनो पर सर्फ किया जाता है।

(५) जो वस्तु अन्य वस्तुओ के साथ मिल कर उपयोग मे लाई जाती हो उस वस्तु की मॉग की लोच साथवाली वस्तुओ की मॉग की लोच पर कुछ अंशो मे निर्भर रहती है, क्योकि उन वस्तुओ के अधिक काम मे आने पर यह वस्तु भी अधिक मॉगी जायगी, और अन्य वस्तुओ के कम मॉगे जाने पर यह वस्तु भी कम मात्रा मे मॉगी जायगी।

लोच की माप

कीमत मे रद्दोबदल होने पर भी यदि किसी वस्तु के ख़रीदने मे उतना ही द्रव्य ख़र्च किया जाता हो जितना कि क़ीमत के बदलने के पहले तो उस वस्तु की मॉग की लोच एक के बराबर मानी जाती है। कीमत मे रद्दोबदल होने पर जब किसी एक वस्तु पर ख़र्च किए गए कुल द्रव्य की तादाद (पहले होने वाले ख़र्च के

मुक़ाबले मे) बढ जाती है तो कहा जाता है कि मॉग की लोच इकाई से अधिक है; और यदि कुल ख़र्च घट जाता है तो कहा जाता है कि लोच इकाई से कम है। यह नीचे वाले कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है।

खरीद के मनों की संख्या	कीमत रुपयों मे	कुल ख़र्च	लोच
१	३०	३०	
२	१५	३०	१
३	१०	३०	
४	७½	३०	
५	७	३५	१ से अधिक
६	६	३६	
७	४	२८	१ से कम
८	३	२४	

ऊपर के कोष्ठक मे यह दिखलाया गया है कि जब कीमत ३० रुपए मन है तब एक मन वस्तु खरीदी जाती है। जब कीमत १५ रुपए मन हो जाती है, तब वह वस्तु दो मन ख़रीदी जाती है। कुल तीस रुपए ही ख़र्च किए जाते है। भाव १० रुपए मन और ७½ रुपए मन होने पर भी कुल खर्च पूर्ववत् रहता है केवल वस्तु की खरीद का परिमाण बढ जाता है। यहां तक मॉग की लोच १ बराबर रहती है। किंतु जब कीमत ७ रुपए मन हो जाती है तब वस्तु की खरीद का परिमाण तो बढता ही है साथ ही उस पर होनेवाला कुल खर्च भी बढ जाता है। अस्तु ७ रुपए और ६ रुपए मन का भाव रहने पर लोच इकाई से अधिक रहती है। किंतु जब भाव ४ रुपए और ३ रुपए मन हो जाता है तब वस्तु की खरीद का परिमाण तो बढता है किंतु कुल ख़र्च का परिमाण घट जाता है। अस्तु मॉग की लोच इकाई से कम ठहरती है।

मॉग की लोच मापने के लिए यह देखना पडता है कि वस्तु की कीमत मे प्रतिशत कितना बदलाव हुआ और इस अंतर के कारण वस्तु की मॉग की मात्रा मे कितना अंतर पडा। इन दोनो अंतरों का आपस मे जो संबंध

है वही उस वस्तु की मॉग की लोच होगी। यदि क़ीमत में ५ प्रतिशत कमी हुई और इस के कारण मॉग मे १० प्रतिशत कमी हुई तो मॉग की लोच $\frac{2}{1}$ = २ हुई।

किसी वस्तु की कीमत कम होने पर भी थोडे समय में उस की माँग पर उतना असर नही पडता जितना कि अधिक समय बीतने पर पडता है, क्योंकि लोगों को फौरन ही कीमत की कमी-चढी का पता नही चलता। अस्तु मॉग मे भी जल्दी बढी-कमी नही होती। अस्तु कम समय मे मॉग की लोच दूसरी होती है, और अधिक समय मे और ही मॉग की लोच के सबंध में ठीक अनुमान करने के लिए कीमत के बहुत थोडे परिवर्तन को लेकर यह देखना ज़रूरी है कि उस का मॉग पर क्या प्रभाव पडता है, मॉग मे कितनी घटी-बढी आती है।

समय और लोच

सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनो ही रूपो में मॉग की लोच से बडी सहायती मिलती है। लोच से इस बात का पता लग जाता है कि कीमत के परिवर्तन से भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ के संबंध मे विभिन्न दर्जे के मनुष्यो की मॉगो पर क्या-कैसा प्रभाव पडता है। मॉग की लोच जान लेने पर उत्पादकगण, और ख़ास कर एकाधिकारी उत्पादक यह निर्णय कर सकते है कि किस कीमत पर बेचने से माल सब से अधिक बिकेगा, और किस कीमत पर बेचने से उन्हें सब से अधिक लाभ हो सकेगा। जिस वस्तु की मॉग मे कम लोच हो उस वस्तु की कीमत मन-मानी रख कर एकाधिकारी उत्पादक बेहद लाभ उठा सकते हैं।

किसी देश की सरकार को कर लगाते समय मॉग की लोच का ख़याल रखना बहुत ज़रूरी होता है। जिन वस्तुओ की मॉग कम लोचदार हो उन पर लगाए गए कर से सरकार को अधिक आमदनी हो सकती है, क्योंकि कर लगने पर कीमत के बढ जाने से भी मॉग मे वैसी ज्यादा कमी न पडेगी, इस के विपरीत यदि मॉग ज़्यादा लोचदार हुई तो कर लगने पर कीमत बढते ही मॉग मे काफी कमी पड जायगी। अस्तु, सरकार को कम

माल पर कर मिलेगा और इस प्रकार उस कर से आमदनी कम होगी।

इस के साथ ही सरकार को किसी वस्तु पर कर लगाते समय यह भी खयाल रखना ज़रूरी है कि उस वस्तु से ग़रीबों का क्या-कैसा संबंध है। यदि माँग की लोच ग़रीबों के लिए भी अधिक हो तो उस वस्तु पर लगाए गए कर से ग़रीबों को हानि उठानी पड़ेगी, क्योंकि या तो उस कर का भार ग़रीबों पर पड़ेगा, या वे उस वस्तु का ख़रीदना कम कर देंगे। अस्तु, यदि वह वस्तु जीवन-रक्षक या निपुणता-दायक पदार्थ है तो ग़रीबों को कर से बहुत हानि उठानी पड़ेगी।

अध्याय २९

उपभोक्ता की बचत

एक आदमी इलाहाबाद मे रहता है। उस का भाई मदरास मे है। वह आदमी अपने भाई को कुछ समाचार देना चाहता है। वह एक आने के लिफाफे मे रख कर डाक द्वारा पत्र भेजता है। यदि उसे एक लिफाफा एक आने मे न मिलता तो वह एक रुपया तक उस पत्र को भेजने के लिए दे देता। किंतु वर्तमान परिस्थिति के कारण उस का काम एक आना मे ही चल जाता है। अस्तु लिफाफे को इतना सस्ता ख़रीदने के कारण उसे उस से कुछ अधिक उपयोगिता मिलती है जितना कि वह असल मे दामों के रूप मे देता है। यानी उस लिफाफे को एक आना मे ख़रीद कर वह नफे मे रहता है, उसे उपयोगिता मे कुछ बचत होती है। वह असल मे एक आना देता है। पर यदि उसे इतने सस्ते में लिफाफा न मिलता तो वह समाचार भेजने के लिए एक रुपया तक दे देता। यानी उसे उस लिफाफे की उपयोगिता १६ आना के बराबर मालूम पड़ी, किंतु देना पड़ा केवल एक आना। अस्तु, उसे १५ आना के बराबर की उपयोगिता की बचत हुई। यही बचत 'उपभोक्ता की बचत' कहलाती है। एक मनुष्य एक वस्तु की एक खास मात्रा के प्राप्त करने के लिए जितना द्रव्य देने को तैयार हो सकता है और जितना द्रव्य असल मे वह उस मात्रा के लिए देता है, उन के अंतर को उपभोक्ता की बचत कहते है। इलाहाबाद वाला आदमी एक लिफाफ़े के लिए १६ आना तक देने को तैयार हो जाता। पर उस ने असल मे दिया एक ही आना। इस प्रकार १५ आना उस के लिए उपभोक्ता की बचत हुई।

'उपभोक्ता की बचत' प्रत्येक मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक

वातावरण, उस की आस-पास की स्थिति पर निर्भर रहती है। सभ्यता की वृद्धि और उन्नति के कारण अनेक देशों मे अख़बार, पोस्टकार्ड, लिफ़ाफ़े, नमक, सवारियां, मनोरंजन के साधन आदि विविध प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं उन दामों से बहुत सस्ते मे, आसानी से प्राप्त हो जाती है जितना कि आम तौर पर लोग उन के लिए देने को तैयार हो सकते। अस्तु, इन देशों के निवासियों को परिस्थितियो के कारण अपने प्रति दिन के उपभोग की अनेक वस्तुओं से बहुत अधिक 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त हो जाती है। यानी सभ्य देशों के निवासियों को थोड़े ख़र्च ही मे वे सब वस्तुएं प्राप्त हो जाती है जो कम सभ्य या असभ्य देशों मे उस से कई गुने अधिक ख़र्च करने पर भी आसानी से प्राप्त नहीं हो सकतीं। अस्तु, जो देश कम सभ्य है उन मे 'उपभोक्ता की बचत' कम प्राप्त होती है।

कुल उपयोगिता और सीमांत उपयोगिता के सिद्धातो पर ही 'उपभोक्ता की बचत' का सिद्धांत अवलंबित है।

मंडी मे प्रत्येक वस्तु की जो कीमत देनी पडती है वह सीमांत उपयोगिता के बराबर होती है, क्योंकि कोई भी परिवर्तन या अदला-बदली तभी तक होगी जब तक कि बदले मे दी जानेवाली वस्तुओं की उपयोगिता बराबर हो। एक मनुष्य ५ सेब ख़रीदता है। उसे पाँचों सेबो से बराबर उपयोगिता नहीं प्राप्त होती। उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार प्रत्येक बाद वाले सेब से उसे क्रमश: कम उपयोगिता प्राप्त होती है, और अंतिम सेब से सब से कम। किंतु मंडी मे प्रत्येक सेब का दाम बराबर-बराबर ही रहता है, क्योंकि कीमत सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार लगाई जाती है। यदि उस मनुष्य के लिए अंतिम सेब की उपयोगिता २० है, जो उस के लिए एक आना के बराबर है, तो वह सेब के लिए एक ही आना देगा। अस्तु उसे कुल ५ आने देने पड़े। पर उपयोगिया ज़्यादा मिली।

कुल उपयोगिता इस प्रकार मिली :—

सेब	सीमांत उपयोगिता	कुल उपयोगिता	उपभोक्ता की बचत	(आनों में)
पहला	१००	१००	१ सेब मे	८०
दूसरा	८०	१८०	२ सेबों मे ८० + ६० =	१४०
तीसरा	६०	२४०	३ ,, ,, ८० + ६० + ४० =	१८०
चौथा	४०	२८०	४ ,, ,, ८० + ६० + २० =	२००
पॉचवां	२०	३००	५ ,, ,,	०

पहले सेब से उसे १०० उपयोगिता मिली पर उस ने दिया एक ही आना जो २० उपयोगिता के बराबर है। अस्तु उसे १०० - २० = ८० के बराबर अधिक उपयोगिता मिली जो पहले सेब से उस की 'उपभोक्ता की बचत' है। दूसरे सेब से उसे ६० उपयोगिता मिली किंतु उस ने इस सेब के लिए भी दिया एक आना ही जो २० उपयोगिता के बराबर है। अस्तु उसे दूसरे सेब से ४० उपयोगिता अधिक मिली। इस प्रकार पहले और दूसरे सेबो से उसे १०० के बराबर ज़्यादा उपयोगिता मिली जो 'उपभोक्ता की बचत' हुई। तीसरे सेब से उसे ४० उपयोगिता मिली। पर इस के लिए भी उस ने दिया एक ही आना जो २० उपयोगिता के बराबर है। अस्तु उसे ६० - २० = ४० उपयोगिता ज़्यादा मिली। अस्तु, तीन सेबों से मिला कर उसे ८० + ६० + ४० = १८० ज़्यादा मिली जो उस की तीन सेबों से प्राप्त होनेवाली 'उपभोक्ता की बचत' है। चौथे सेब से उसे ४० उपयोगिता मिली। पर उस ने उस के लिए भी दिया केवल एक ही आना जो २० उपयोगिता के बराबर है। अस्तु उसे चौथे सेब से ४० — २० = २० के बराबर 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त हुई। और कुल मिला कर चार सेबों से उसे ८० + ६० + ४० + २० = २०० उपयोगिता मिली जो उपभोक्ता की बचत है। पॉचवे सेब के लिए उस ने एक आना दिया और उपयोगिता मिली २० के बराबर जो कीमत के बराबर ही है। अस्तु, पॉचवें सेब से उसे कुछ भी बचत न हुई।

पाँच सेवों के लिए उस ने ५ आने दिए जो ५ × २० = १०० उपयोगिता के बराबर हैं। पर उसे पाँचो सेवों से कुल उपयोगिता मिली १०० + ८० + ६० + ४० + २० = ३००। इस ३०० उपयोगिता के लिए उस ने ५ आने दिए जो १०० उपयोगिता के बराबर हैं। अस्तु उसे ३०० − १०० = २०० उपयोगिता की बचत हुई। और पाँच सेवों से उसे यही २०० उपयोगिता कीमत से ज्यादा मिली जो उपभोक्ता की बचत है।

यदि उसे प्रत्येक सेव १ आना फी सेव के हिसाब से न मिलता और उसे सेवो से कुल उपयोगिता ३०० के बराबर प्राप्त करनी होती तो उसे ३०० ÷ २० = १५ आने देने पडते, क्योंकि पहले सेव से चूँकि उसे १०० उपयोगिता प्राप्त होती है अस्तु वह उस के लिए ५ आना देने को तैयार हो जाता। दूसरे सेव से उसे ८० उपयोगिता प्राप्त होती है, अस्तु वह उस के लिए ८० ÷ २० = ४ आना देने को तैयार हो जाता। तीसरे सेव से उस ६० उपयोगिता प्राप्त होती है अस्तु वह उस के लिए ६० ÷ २० = ३ आना देने को तैयार हो जाता है। चौथे सेव से उसे ४० उपयोगिता प्राप्त होती है अस्तु उस के लिए वह ४० ÷ २० = २ आना देने को तैयार हो जाता; और पाँचवें सेव के लिए २० ÷ २० = १ आना देता है। इस प्रकार उपयोगिता की प्राप्ति के हिसाब से उसे ३०० उपयोगिता के लिए कुल मिला कर ५ + ४ + ३ + २ + १ = १५ आने देने पड़ते, पर परिस्थिति के कारण उसे देने पड़े केवल ५ ही आने। अस्तु उसे १५−५ = १० आने की बचत हुई। यही उस की 'उपभोक्ता की बचत' है। यानी ५ आना खर्च करने में उसे १० आने के बराबर अधिक तृप्ति होती है।

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु की कुल इकाइयों की कुल उपयोगिता में से उन इकाइयों के लिए दी गई क़ीमत के रूप में दी गई कुल उपयोगिता बचती है; वही उपयोगिता को निकाल देने से 'उपभोक्ता की बचत' कहलाती है।

इस प्रकार उपयोगिता-ह्रास नियम, कुल उपयोगिता तथा सीमांत

उपयोगिता के सिद्धांतो से ही 'उपभोक्ता की बचत' का सिद्धांत निकलता है।

ऊपर यह बतला दिया गया है कि एक वस्तु की खरीद से प्राप्त होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' कैसे निकाली जाती है। पर प्रत्येक मनुष्य को अनेक वस्तुओ की आवश्यकता पडती है। अस्तु भिन्न-भिन्न वस्तुओ से एक व्यक्ति को जो भिन्न-भिन्न 'उपभोक्ता की बचते'' प्राप्त होती है उन सब को जोड देने से समस्त वस्तुओ के उपयोग से मिलने वाली उस व्यक्ति की 'कुल उपभोक्ता की बचत' प्राप्त हो सकती है।

एक व्यक्ति की कुल 'उपभोक्ता की बचत'

एक व्यक्ति की कुल 'उपभोक्ता की बचत' के द्वारा किसी एक मनुष्य की भिन्न-भिन्न समयो और स्थानो मे उस की भिन्न-भिन्न संपन्नताओं की और भिन्न-भिन्न मनुष्यो की एक ही समय या स्थान पर की भिन्न-भिन्न संपन्नताओ की तुलना की जा सकती है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से यह तुलना बडी महत्वपूर्ण होती है। अन्य वस्तुओ के समान रहने पर यह माना जाता है कि 'उपभोक्ता की बचत' जितनी ही ज्यादा होगी, संपन्नता उतनी ही अधिक होगी।

मडी की 'उपभोक्ता की बचत'

जैसे मॉग के संबंध मे मंडी मे सम्मिलित कुल व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न कुल मॉगो के योग से मंडी की कुल मॉग निकाली जाती है, उसी प्रकार मंडी मे शामिल होनेवाले समस्त व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न स्थिति स्वभाव, रुचि, संपन्नता, श्रेणी के होते हुए भी औसत लेकर कुल व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत उपभोक्ताओ की बचतो से योग से मंडी की 'कुल उपभोक्ता की बचत' प्राप्त की जा सकती है।

मंडी की 'कुल उपभोक्ता की बचत' द्वारा दो भिन्न-भिन्न देशो या समाजो की एक ही, या भिन्न-भिन्न समयो की एक ही समाज की भिन्न-भिन्न समयो की, संपन्नताओ की तुलना करके आर्थिक प्रगति का पता

लगाया जा सकता है। यदि यूरोप मे परिस्थितियों के कारण भारत की अपेक्षा नागरिकों को 'उपभोक्ता की वचत' अधिक प्राप्त होती है तो यह स्पष्ट हो जायगा की यूरोप मे संपन्नता भारत की अपेक्षा अधिक है। इसी तरह यदि १८ वी शताब्दी मे यूरोप मे नागरिकों को जो 'उपभोक्ता की वचत' प्राप्त होती थी उस से २० वी शताब्दी मे ज्यादा होती है तो मानना पडेगा कि २० वी शताब्दी मे यूरोप अधिक संपन्न है।

आक्षेप और उन के समाधान

पहले-पहल प्रोफेसर मार्शल ने 'उपभोक्ता की वचत' का शास्त्रीय विवेचन किया था। उस समय और बाद मे भी अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस पर आक्षेप किए थे। किंतु 'उपभोक्ता की वचत' के सिद्धांत को कोई काट न सका। नीचे हम आक्षेप और समाधान संक्षेप मे देते है।

आक्षेप.—'उपभोक्ता की वचत' का विवेचन केवल कपोल-कल्पित और भ्रमात्मक है। यह कहना कि एक मनुष्य १०० रुपए मासिक व्यय करके १००० रुपए की उपयोगिता प्राप्त करता है, महज़ हिमाकत है। इस मे कोई तथ्य नहीं है।

उत्तरः—सीमांत उपयोगिता और कुल उपयोगिता, के सिद्धांत और उपयोगिता-ह्रास नियम यदि सत्य हैं तो यह मानना ही पडेगा कि मनुष्य एक वस्तु की एक खास मात्रा के लिए जो कीमत देता है आम तौर पर वह उस वस्तु की उस मात्रा से कहीं अधिक उपयोगिता प्राप्त करता है। यदि एक पोस्टकार्ड तीन पैसे को न मिलता तो उस के लिए १२ आना तक देने को लोग तैयार हो जाते। इसी तरह अन्य वस्तुओ के लिए भी जो कीमत देनी पडती है लोग मजबूरी हालत में उस से कहीं ज्यादा देते (और अनेक ऐसी वस्तुएं हैं जिन के लिए लोग उन वस्तुओं के सस्ती होने के पहले ज्यादा देते ही थे।) यदि सब बातों पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि परिस्थिति के कारण लोगों को किसी वस्तु के लिए जो कीमत देनी पडती है, उसे देखते हुए उपयोगिता उस वस्तु से

कहीं ज्यादा प्राप्त होती है। और यही अंतर 'उपभोक्ता की बचत' है। एक मनुष्य जो बंबई शहर मे १०० रुपए मासिक ख़र्च करके किन्ही फलो, मेवो, मनोरंजन की वस्तुओं सवारियों आदि का उपभोग करता था, उन्हीं वस्तुओ के उपभोग के लिए उसे आसाम के जंगलो-पहाडो में १००० रुपए मासिक के करीब देना पडेगा अस्तु, आसाम के जंगलो के मुकाबले मे बंबई मे उसे १०० रु० मासिक में १००० रु० मासिक की उपयोगिता प्राप्त होती है, इस मे कोई असंभव या अत्युक्तिवाली बात नही देख पडती।

आक्षेप.—जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों तथा कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुओं और दिखावे की वस्तुओ के संबंध मे 'उपभोक्ता की बचत' का सिद्धात ठीक से लागू नही होता। जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए कोई व्यक्ति कितना देने को तैयार हो जायगा यह हिसाब नही लगाया जा सकता, क्योंकि इन वस्तुओ से अपरिमित संतोष प्राप्त होता है। अस्तु, उन वस्तुओ से प्राप्त होनेवाली उपभोक्ता की बचत का अंदाजा नही लगाया जा सकता। इसी प्रकार बहुमूल्य पदार्थ, जैसे, हीरा, मोती आदि के बारे में भी यह अदाज नही लगाया जा सकता कि अपनी शान-शौकत क़ायम रखने के लिए कोई कितना तक देने को तैयार हो जायगा। इस कारण यह सिद्धात अधूरा है।

उत्तर —यह ठीक है। पर इस से यह सिद्ध नही होता कि उपभोक्ता की बचत के सिद्धांत से अन्य वस्तुओ से प्राप्त होनेवाली बचत का भी अंदाज नही लगाया जा सकता है। अपवाद सभी मे होते है।

आक्षेप.—द्रव्य की सीमात उपयोगिता बदल जाती है और इस प्रकार 'उपभोक्ता की बचत' की माप ही नही की जा सकती। इस सिद्धांत मे मान लिया जाता है कि द्रव्य की सीमांत उपयोगिता कभी नही बदलती। जब कि प्रत्येक ख़रीद के बाद द्रव्य की सीमांत उपयोगिता बराबर बदलती रहती है।

उत्तरः—यह ठीक है। पर यह मान लेना अनुचित नही कि प्रत्येक

मनुष्य किसी एक वस्तु की एक ख़ास मात्रा पर अपनी आय का एक बहुत छोटा अंश ही व्यय करता है और इस प्रकार उस के द्रव्य की सीमांत उपयोगिता मे बहुत अंतर नही आता।

आक्षेपः – इस सिद्धांत के सबंध मे प्रतियोगी पदार्थो का कुछ भी ख़याल नही किया जाता। असल मे प्रतियोगी पदार्थ जो एक दूसरे के स्थान मे उपयुक्त हो सकते है एक नई समस्या पैदा कर देते है। यदि चीनी और गुड दोनों का ख़याल किया जाय तो दोनो के सम्मिलित उपयोग से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह उस कुल उपयोगिता से कहीं अधिक होती है जो किसी एक पदार्थ के उपयोग से प्राप्त होती है। ऐसी दशा मे उपभोक्ता की बचत वाला सिद्धात लागू नहीं होता।

उत्तरः—ऐसे प्रतियोगी पदार्थों को एक ही मे साथ लेकर एक वस्तु के रूप मे विचार करने से कठिनाई दूर हो जाती है।

आक्षेप. माँग की सारिणी प्रायः पूरी नहीं बन सकती। आम तौर पर जो कीमतें मंडी मे साधारणत. चालू रहती है उन के आस-पास की कीमतों की तो सारिणी बन सकती है, किंतु असाधारण कीमतों के बारे मे कुछ भी नही कहा जासकता। यह नहीं कहा जा सकता कि यदि चीनी ४ रुपए सेर बिके तो उस की कितनी मात्रा एक मनुष्य लेने को तैयार होगा, और न यही मालूम किया जा सकता कि यदि एक आना की ४ सेर चीनी मिले तो वह कितनी लेगा। क्योंकि इस प्रकार के असाधारण मौके कभी आए ही नहीं। अस्तु जो माँग की सारिणी बनाई जा सकती है वह पूरी न होगी। इस कारण 'उपभोक्ता की बचत' को सही आँकना कठिन है।

उत्तर —जो कठिनाई बतलाई जाती है, व्यावहारिक रूप से विचार करने पर वह दूर हो जाती है। कारण कि 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत द्वारा जिन परिवर्तनों का बोध होता है वे ऐसे परिवर्तन हैं जो वस्तुओं की साधारण कीमत से और उस मे होनेवाले साधारण रद्दोबदल से ही संबंध रखते हैं। असाधारण परिवर्तनों का इस सिद्धांत से वैसा ही संबंध

नहीं रहता जैसा साधारण स्थिति से जीवन के असाधारण उलट-फेरों का।

इस सिद्धांत के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु की प्रचलित कीमत से उस वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की माप ठीक-ठीक नहीं हो सकती। यानी आमतौर पर हमें बाजार में किसी वस्तु की जो कीमत देनी पड़ती है उस के मुकाबले में उस वस्तु से हमें उपयोगिता साधारणतः कहीं ज्यादा मिलती है। और इस प्रकार 'उपभोक्ता की बचत' के रूप में हमें बहुत सी अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है। हमें अपने सुसंगठित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक वातावरण के कारण प्रतिदिन के उपभोग में आनेवाली अनेकानेक छोटी-बड़ी वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए जो कीमतें देनी पड़ती है वे उन उपयोगिताओं से बहुत कम होती है जो हमें उन वस्तु से असल में प्राप्त होती है। यदि प्रचलित कीमत पर हमें ये आवश्यकीय वस्तुएं और सेवाएं न मिलतीं तो हम निश्चय ही उस से बहुत अधिक देने को तैयार हो जाते जो वर्तमान परिस्थिति के कारण हम उन के लिए देते हैं। 'उपभोक्ता की बचत' के द्वारा हम उन लाभों का अंदाज लगा सकते है जो केवल परिस्थिति के कारण किसी व्यक्ति को अनायास प्राप्त होते है।

'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत का महत्व

इस सिद्धांत के व्यावहारिक लाभ

(१) 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत के द्वारा विभिन्न देशों या स्थानों की तुलनात्मक आर्थिक परिस्थिति तथा संपन्नता का बोध किया जा सकता है। यदि एक स्थान या देश में दूसरे स्थान या देश के मुकाबले में किसी समाज, श्रेणी या व्यक्ति को 'उपभोक्ता की बचत' अधिक मात्रा मे उपलब्ध होनी है, तो अन्य बातों के समान रहने पर, यह माना जायगा कि उस स्थान या देश का आर्थिक जीवन अधिक उन्नत है, वह स्थान या देश अधिक संपन्न, सभ्य और सुसंस्कृत, सुसंगठित है। इसी प्रकार किसी एक ही स्थान या देश के किसी एक ही समाज, श्रेणी या व्यक्ति के संबंध में विभिन्न

समयों को दृष्टि मे रख कर संपन्नता और आर्थिक उन्नति का तुलनात्मक विवेचन किया जा सकता है। यदि सन् १६०० के मुकाबले मे १६४० मे भारत मे मिल मज़दूरों को 'उपभोक्ता की बचत' अधिक मात्रा मे प्राप्त होती हो तो, अन्य बातों के समान या पूर्ववत् रहने पर, यह माना जायगा कि १६४० मे मिल-मजदूरों की आर्थिक दशा अधिक उन्नत है, १६०० के मुक़ाबले में वे अधिक संपन्न है।

(२) कीमत मे परिवर्तन करते, कर लगाते, उद्योग-धंधों और व्यवसाय-वाणिज्य को सहायता-प्रोत्साहन देते समय इस सिद्धांत से बहुत बडी सहायता मिलती है। किसी वस्तु की कीमत तय करते समय विक्रेता अथवा एकाधिकारी को अपने सब से अधिक लाभ के विचार के साथ ही इस बात का भी खयाल कर लेना चाहिए कि कीमत उतनी ही हो जिस से, उपभोक्ताओं को उस वस्तु से कीमत के मुक़ाबले में अधिक से अधिक 'उपभोक्ताओं की बचत' प्राप्त हो सके। इसी मे जनता और देश का हित है। यदि एक लिफाफे का दाम आठ आना रख दिया जायगा तो जनता को कीमत के मुक़ाबले मे लिफाफे के उपयोग से शायद ही कुछ 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त हो सके। इसी तरह किसी वस्तु पर कर लगाते समय सरकार को यह सोच लेना चाहिए कि उस के कारण कीमत मे और खरीद-फरोख्त की मात्रा मे जो रद्दोबदल होंगे उन से, उस वस्तु से प्राप्त होनेवाली ' उपभोक्ता की बचत ' पर तो हानिकर प्रभाव नहीं पड़ेगा। जिन वस्तुओ से जनता को, और खास कर मज़दूरों तथा ग़रीबों को, 'उपभोक्ता की बचत' अधिक प्राप्त होती हो, उन वस्तुओं पर इतना अधिक कर न बैठा दिया जाय कि उन की कीमत के बढ जाने से, उन वस्तुओं से प्राप्त होनेवाली ' उपभोक्ता की बचत ' की मात्रा बहुत अधिक कम हो जाय। कारण कि ऐसा होने से देश की संपन्नता मे फ़र्क़ पड़ जायगा। इसी भाँति किसी उद्योग-धंधे या वाणिज्य-व्यवसाय को सहायता-प्रोत्साहन देते समय सरकार को इस बात की छान-बीन कर लेनी चाहिए कि उस

से जनता को 'उपभोक्ता की बचत' की कितनी मात्रा प्राप्त होती है। जिन उद्योग-धंधो, वाणिज्य-व्यवसायो की वस्तुओं के द्वारा जनता को 'उपभोक्ता की बचत' की अधिक मात्रा प्राप्त होती हो उन्हें अधिक सहायता-प्रोत्साहन देना जनता की दृष्टि से उचित और हितकर होगा।

कर लगाते समय सरकार को यह भी देख लेना चाहिए कि कर द्वारा सरकारी ख़जाने मे जितनी आय होती हैं उस के मुक़ाबले में जनता, और ख़ास कर ग़रीब लोगो तथा मजदूरो को 'उपभोक्ता की बचत' के रूपमें कमी होने के कारण अधिक हानि तो नहीं उठानी पडती। यदि कर द्वारा जो आय होती है उस के मुकाबले में 'उपभोक्ता की बचत' मे कमी ज्यादा आती है, तो वह कर देश के लिए हानिकर सिद्ध होगा। इसी प्रकार किसी उद्योग-धंधे, *वाणिज्य-व्यवसाय को सहायता-प्रोत्साहन देते समय यह तय* करने की ज़रूरत पडती है कि उस के लिए सरकार को जो व्यय सहन करना पडता है, उस के मुक़ावले मे जनता को 'उपभोक्ता की बचत' के रूप मे अधिक लाभ होता है, या नहीं, क्योकि ऐसा होने पर ही अन्य बातों के समान रहने पर, देश का आर्थिक हित हो सकेगा।

जैसे-जैसे विभिन्न श्रेणियो के उपभोग, व्यय, आय आदि से संबंध रखने वाले प्रामाणिक ऑकडे मिलने सुलभ होते जाते है, वैसे ही वैसे 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धात का व्यावहारिक रूप से अधिकाधिक लाभ उठाया जाना संभव होता जा रहा है। जनता की आर्थिक संपन्नता से संबंध रखनेवाले प्रश्नों से 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत का बहुत गहरा और बहुत ही व्यावहारिक संबंध है।

विनिमय

अध्याय ३०

विनिमय और उस से लाभ

पिछले अध्यायों मे अनेक बार कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं की ज़रूरत पडती है। कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएं ख़ुद ही तैयार नही कर सकता। वह अपनी वस्तुओं अथवा सेवाओं को देकर अन्य व्यक्तियों से अपनी आवश्यकताओ की विभिन्न वस्तुएं बदले मे प्राप्त करता है। प्रत्येक देश तथा समाज के विभिन्न व्यक्ति आपस मे एक-दूसरे को विभिन्न वस्तुएं दे-लेकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति-तृप्ति करते है। अर्थशास्त्र मे इसी को विनिमय कहते है।

विनिमय क्या है ?

मान लो कि राम के पास चावल है और श्याम के पास दाल। राम को दाल की आवश्यकता है और श्याम को चावल की। राम कुछ चावल देकर श्याम से कुछ दाल ले लेता है। यही विनिमय है।

विनिमय के मुख्यतः दो भेद होते है। एक तो अदला-बदला और दूसरा क्रय-विक्रय। जब एक वस्तु का परिवर्तन किसी दूसरी वस्तु से किया जाता है तो उसे अदला-बदला कहते है। ऊपर के उदाहरण मे चावल के बदले मे चावल-दाल का लिया-दिया जाना अदला-बदला माना जायगा। द्रव्य के बदले मे जब कोई, वस्तु ली या दी जाती है तब उस परिवर्तन को क्रय-विक्रय कहते है। जैसे रुपया देकर बदले मे चावल, या दाल, या कपडा, या किताब का ख़रीदा जाना।

विनिमय के भेद

द्रव्य एक ऐसी सर्वमान्य वस्तु है जिस के बदले मे किसी समाज या देश में विभिन्न वस्तुओं का परिवर्तन किया जा सकता है। जिस के पास रुपया है वह रुपए देकर अपनी आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएं ख़रीद सकता है। द्रव्य देकर उस के बदले में किसी वस्तु का लेना क्रय या ख़रीद कहा जाता है। और द्रव्य लेकर किसी वस्तु को देना विक्रय या फ़रोख्त कहलाता है।

विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ

विनिमय (या अदला-बदला) तभी होगा जब कम से कम दो व्यक्ति ऐसे हो जिन में से प्रत्येक के पास ऐसी एक-एक वस्तु हो जिसे दूसरा चाहता हो और उस वस्तु के बदले में अपनी वस्तु देने के लिए तैयार हो। यह तभी होगा जब दोनो व्यक्तियो को अपने पास की वस्तु से अधिक उपयोगिता दूसरे के पास वाली वस्तु से प्राप्त होती जान पड़े। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। ऊपर कहा जा चुका है कि राम के पास चावल है और श्याम के पास दाल और राम को दाल की आवश्यकता है और श्याम को चावल की। मान लो कि राम के पास ८ सेर चावल है और श्याम के पास ८ सेर दाल। राम अपने चावलो में से एक सेर चावल देकर श्याम से एक सेर दाल तभी लेगा जब उसे एक सेर दाल से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की मात्रा एक सेर चावल से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक जान पड़ेगी। इसी प्रकार श्याम अपनी दाल में से एक सेर दाल दे कर राम से एक सेर चावल तभी लेगा जब उसे एक सेर चावल से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस उपयोगिता से अधिक जान पड़ेगी जो उसे उस एक सेर दाल से प्राप्त होती है, जो उसे देना पडता है। यह इस कारण कि उसे एक सेर दाल के दे देने में कुछ त्याग करना पडेगा। अस्तु, उसे जो चावल के द्वारा उपयोगिता प्राप्त होती है वह एक सेर दाल के देने के त्याग से अधिक होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो वह अपनी एक सेर दाल दे-कर हानि उठाने के लिए तैयार न होगा। विनिमय तभी तक होता रहता

है जब तक दी जानेवाली वस्तु की उपयोगिता के मुकाबले में, देनेवाले को, प्राप्त होनेवाली वस्तु की उपयोगिता अधिक जान पडेगी। नीचे के कोष्टक से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस कोष्टक मे राम के चावलों के विभिन्न सेरों की और दाल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता दी गई है।

सेरों की क्रम-संख्या	राम के लिए चावल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता	राम के लिए दाल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता	श्याम के लिए दाल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता	श्याम के लिए चावल के विभिन्न सेरो की उपयोगिता
१	१००	११५	१००	१२०
२	९५	१०५	९५	१००
३	९०	९५	९०	७५
४	८५	८०	८५	५०
५	८०	७०	८०	२०
६	७५	६०	७०	०
७	६०	५०	६०	—१५
८	५०	४०	५०	—३०

राम एक सेर दाल प्राप्त करने के लिए श्याम को एक सेर चावल देता है। राम को पहले एक सेर दाल से ११५ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है, और बदले मे उसे एक सेर चावल देने पडते हैं। चावल के एक सेर की उपयोगिता उस के लिए ५० इकाई है, क्योंकि आठवे सेर की उपयोगिता उस के लिए केवल ५० इकाई के बराबर है। इस प्रकार राम एक सेर चावल के रूप मे ५० इकाई उपयोगिता देकर एक सेर दाल के रूप मे ११५ इकाई उपयोगिता प्राप्त करता है। इस अदला-बदला में उसे ११५ – ५० = ६५ इकाई उपयोगिता का लाभ होता है।

इधर श्याम एक सेर दाल देकर एक सेर चावल लेता है। उसे एक सेर दाल के रूप में केवल ५० इकाई उपयोगिता का त्याग करना पडा, क्योंकि आठवे सेर दाल की उपयोगिता उस के लिए केवल ५० इकाई के

बराबर है, और बदले में जो एक सेर चावल मिले उन से उसे १२० इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई। इस प्रकार श्याम को इस विनिमय द्वारा १२०—५०=७० इकाई उपयोगिता अधिक प्राप्त हुई। इस से स्पष्ट है कि विनिमय या अदला-बदला से दोनो को ही लाभ हुआ।

आगे बढने पर राम एक सेर चावल और देकर एक सेर और दाल लेता है। इस बार उसे दाल से १०५ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और चावल के रूप मे ६० इकाई उपयोगिता दे देनी पडती है। इस मे भी उसे १०५ – ६० = ४५ इकाई उपयोगिता का लाभ रहा। उधर श्याम इस बार एक सेर चावल के रूप में १०० इकाई उपयोगिता प्राप्त करता है और एक सेर दाल के रूप मे ६० इकाई उपयोगिता देता है। उसे १०० – ६० = ४० इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। इस प्रकार इस बार भी दोनो को लाभ रहता है। इस कारण दोनो ही ख़ुशी से अदला-बदला करेंगे।

आगे चल कर श्याम को तीसरे सेर चावल के लेने से ७५ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और एक सेर दाल के देने पर ७० इकाई उपयोगिता का त्याग करना पडता है। अस्तु इस से उसे ७५ – ७० = ५ इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। इधर राम को इस बार एक सेर दाल से ९५ उपयोगिता प्राप्त होती है और एक सेर चावल के रूप मे उसे ७५ उपयोगिता दे देनी पडती है, अस्तु उसे इस परिवर्तन द्वारा ९५—७५=२० इकाई उपयोगिता का लाभ रहता है। इस प्रकार इस बार भी परिवर्तन से दोनो को लाभ होता है। अस्तु वे राज़ी-खुशी से परिवर्तन करेंगे।

और आगे चलने पर श्याम को एक सेर चावल से केवल ५० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है, और एक सेर दाल के रूप मे उसे ८० उपयोगिता दे देनी पडती है। इस प्रकार उसे इस बार के विनिमय से ३० इकाई उपयोगिता की हानि उठानी पडती है। इस कारण वह इस बार परिवर्तन करने के लिए तैयार न होगा। दूसरी ओर राम को इस बार एक सेर दाल से ८० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और उस के बदले मे दिए जाने-

वाले एक सेर चावल के रूप मे उसे ८० इकाई उपयोगिता का त्याग करना पडता है। इस प्रकार उसे न हानि होती है और न लाभ ही। इस कारण वह इस दुविधा मे रहेगा कि विनिमय करे या न करे। किंतु इस के आगे अदला-बदला जारी रखने से उसे खुल कर हानि होगी, इस कारण वह इस के आगे और अधिक विनियम के लिए तैयार न होगा।

इस तरह जब तक दोनों पक्षो को लाभ होता रहा तब तक तो विनिमय चलता रहा। किंतु जहां से एक पक्ष को हानि होनी शुरू हो गई, वहीं से विनिमय रुक गया।

इस कुल अदला-बदला से भी कुल मिला कर दोनो पक्षो को काफी लाभ रहा। यदि वे आपस मे परिवर्तन न करते तो राम को अपनी ८ सेर दाल से कुल मिला कर १०० + ९५ + ९० + ८५ + ८० + ७५ + ६० + ५० = ६३५ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती। परिवर्तन करने के कारण उसे कुल मिला कर ११५ + १०५ + ९५ = ३१५ इकाई उपयोगिता तीन सेर दाल से (जो उस को चावल के बदले मे मिली) प्राप्त की और १०० + ९५ + ९० + ८५ + ८० = ४५० इकाई उपयोगिता चावल से प्राप्त की। दाल और चावल दोनों से उस ने ३१५ + ४५० = ७६५ इकाई उपयोगिता प्राप्त की। इस प्रकार उसे विनिमय द्वारा ७६५ - ६३५ = १३० इकाई उपयोगिता अधिक प्राप्त हुई। दूसरी ओर श्याम यदि विनिमय न करता तो उसे अपने आठ सेर चावल से कुल मिला कर १०० + ९५ + ९० + ८० + ८५ + ७० + ६० + ५० = ६३० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती। किंतु परिवर्तन के कारण श्याम को चावल से कुल मिला कर १२० + १०० + ७५ = २९५ इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई और दाल से १०० + ९५ + ९० + ८५ + ८० = ४५० इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई। इस प्रकार चावल और दाल दोनो से कुल मिला कर २९५ + ४५० = ७४५ इकाई उपयोगिता प्राप्त की। अर्थात विनिमय के कारण उसे ७४५ − ६३० = ११५ इकाई उपयोगिता अधिक प्राप्त हुई। इस प्रकार अदला-बदला के

ारण राम और श्याम दोनो को ही अधिक लाभ हुआ।

अदला-बदला कब होगा ? (१) जब ऐसे दो व्यक्ति या दल हो जिन्हें एक-दूसरे की वस्तु को लेने की चाह हो, (२) और जो दूसरे की वस्तु को प्राप्त करने के लिए अपनी वस्तु देने के लिए तैयार हो, और (३) जिन को बदले मे मिलने ाली वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की मात्रा, उस उपयोगिता की ात्रा से अधिक जान पडे जो उन्हें अपनी वस्तु से प्राप्त हो सकती है। ्न तीन बातों के बिना अदला-बदला या विनमय नहीं हो सकता। जब ्रदला-बदला या विनिमय ख़ुशी से हो तो उस से यह सिद्ध होगा कि ्स से दोनो पक्षों को लाभ हो रहा है।

अदला-बदला कब ?

वर्तमान आर्थिक स्थिति विनिमय पर अवलंबित है। जैसे-जैसे संसार उन्नति के शिखर पर पहुँचता जाता है, वैसे ही वैसे विनिमय का महत्व बढता जाता है। किसी भी व्यक्ति का कार्य बिना विनिमय के चल नही सकता। प्रत्येक ्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएं (तथा सेवाएं) दूसरो ो लेनी पडती है, और उन के बदले मे अपनी वस्तुए (तथा सेवाएं) देनी ्डती है। कोई भी व्यक्ति केवल अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओं से ही ्रपनी इस युग की सभी आवश्यकताएं पूरी नही कर सकता।

विनिमय का महत्व

यदि विनिमय न किया जाय तो उत्पादन व्यर्थ हो जाय, और वितरण ्तथा उपभोग असंभव हो उठे। विनिमय के कारण ही व्यक्तियो तथा राष्ट्रो ्ी वर्तमान संपत्ति तथा उत्पादक शक्तिया पूरी तरह से उपयोग मे लाई ्जा सकती है। साथ ही विनिमय की उत्तरोत्तर उन्नति के द्वारा ही उत्पादक ्शक्ति की उत्तरोत्तर उन्नति तथा वृद्धि-विकास किया जा सकता है। उत्पादक ्शक्ति तथा साधनों की प्रगतिशील उत्तरोत्तर वृद्धि का एकमात्र कारण विनि- ्मय है। इन कारणों से अर्थशास्त्र मे विनिमय का बडा महत्व है। विनि- ्मय से अनेक लाभ होते है, जो इस प्रकार है —

(१) विनिमय के कारण ही उस संपत्ति का अधिक से अधिक उत्तम रूप मे उपभोग किया जा सकता है, जो बिना विनिमय के ठीक से उपयोग मे आए बगैर ही पडी रह जाती। यदि विनिमय इतनी उन्नत दशा को न पहुँच गया होता तो भारतवर्ष की रूई, जूट, आस्ट्रेलिया का अन्न और गेहूं; इंगलैड का कोयला इतनी अच्छी तरह से उपभोग मे न लाए जा सकते।

(२) विनमय के कारण व्यक्तियों तथा राष्ट्रों की वह उत्पादक शक्ति अच्छी तरह से काम मे लाई जाती है, जो बिना विनिमय के व्यर्थ मे बेकार पडी रह जाती, और उतनी अच्छी तरह काम मे न लाई जा सकती, जितनी कि इस समय काम मे लाई जा रही है। यदि विनिमय न हो तो प्रत्येक व्यक्ति (तथा राष्ट्र) को अपनी आवश्यकताओं की प्रत्येक वस्तु स्वयं ही उत्पन्न करनी पडे, चाहे वह उस वस्तु के बनाने मे कुशल हो अथवा अकुशल। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्र की विशेष शक्तियो तथा कुशलताओं का उतना अच्छा उपयोग न हो सकेगा जैसा उस समय होगा, जब कि उसे अपनी शक्ति, सामर्थ्य तथा कुशलता-योग्यता के अनुसार केवल खास वस्तु या वस्तुएं ही उत्पन्न करने दी जायँगी। यदि विनिमय द्वारा प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्र अपनी शक्तियों के तथा कुशलताओ के अनुसार ही वस्तुएं उत्पन्न करे और अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओं के विनिमय द्वारा अन्य वस्तुएं प्राप्त कर सके तो उस की उत्पादक शक्ति तथा कुशलता अधिक बढ जायगी, और तब उत्पादन अधिक अच्छा तथा अधिक परिमाण मे हो सकेगा इस प्रकार विनिमय द्वारा उस व्यक्ति तथा राष्ट्र को तो लाभ होगा ही, साथ ही अन्य व्यक्तियों तथा राष्ट्रों को भी लाभ होगा।

(३) विनिमय द्वारा उत्पादन मे तथा सभ्यता में उन्नति होती है। विनिमय के कारण उत्पादन मे उन्नति और वृद्धि होती है, उत्पादन मे उन्नति तथा वृद्धि होने से वस्तुएं सस्ती तथा अधिक मात्रा एवं प्रकार मे उत्पन्न

होने लगती हैं। इस से मंडी का विस्तार बढ़ जाता है। इस से उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के कारण श्रम-विभाग मे उन्नति होती है, मशीन आदि मे सुधार, उन्नति होती है तथा अनेक प्रकार के आविष्कार होते है, और व्यवस्था आदि मे भी सुधार तथा उन्नति होती है। सारा आर्थिक जीवन ही उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगता है।

विनिमय के साधन

व्यापारी, मंडी, द्रव्य तथा संवाद-वहन और आवागमन के साधन ही विनिमय के प्रमुख साधन है। इन्हीं के द्वारा विनिमय का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है, विनिमय में उन्नति हो सकती है। इन के बिना विनिमय का कार्य हो ही नहीं सकता। इन मे से मंडी का अपना ख़ास महत्व है। इस कारण आगे के अध्याय मे मंडी का वर्णन विस्तार पूर्वक किया जाता है।

अध्याय ३१

मंडी

विनिमय के लिए मंडी बहुत ज़रूरी है। जब से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की प्रत्येक वस्तु स्वयं उत्पन्न न करके केवल एक या कुछ खास-खास वस्तुएं अपनी शक्ति, कुशलता तथा सुविधाओं के अनुसार उत्पन्न करके अपनी आवश्यकताओं की अन्य वस्तुएं समाज के अन्य व्यक्तियों से लेने लगता है, और बदले मे अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुएं देने लगता है, तभी से मंडी का अस्तित्व प्रारंभ हो जाता है। आर्थिक स्थिति मे उन्नति होने के साथ ही साथ मंडी की स्थिति मे उन्नति हो जाती है। प्रारंभ मे मंडी से उस स्थान का बोध होता था जहां वस्तुएं बिक्री के लिए रक्खी जाती थीं। किंतु अब आर्थिक उन्नति के कारण मंडी से अर्थशास्त्र मे उस समस्त प्रदेश का बोध होता है जिस मे एक वस्तु के बेचनेवालों और खरीदनेवालों का इस प्रकार का स्वतंत्र एवं प्रतियोगितापूर्ण संबंध हो कि उस वस्तु की कीमत का रुख आसानी से और जल्दी एक होने का हो। आर्थिक मंडी विनिमय करनेवालों का वह दल है जो एक-दूसरे के साथ क्रय-विक्रय मे प्रतियोगिता कर रहा हो।

मंडी किसे कहते हैं

इस व्याख्या से तीन बातें स्पष्ट हो जाती है :—(१) खरीदनेवालों और बेचनेवालो के दल ; (२) उन मे आपस मे क्रय-विक्रय को लेकर प्रतियोगिता का होना, और (३) किसी एक समय मे, किसी एक वस्तु की कीमत का एक होना। मंडी जितनी ही अधिक और जितनी ही पूरी तरह से सुसंगठित होगी, क्रय-विक्रय करनेवालों मे क्रय-विक्रय के लिए आपस मे प्रतियोगिता जितनी ही अधिक और जितनी ही ज़्यादा स्वतंत्रतापूर्वक

होगी उतनी ही अधिक संभावना मंडी के सभी भागो में, उस ख़ास समय मे, उस ख़ास वस्तु की कीमत के एक होने की होगी। मंडी के विभिन्न भागो में कीमत के संबंध मे जो भी विभिन्नता होगी, वह उसी अंश तक होगी जिस अंश मे उस वस्तु की ढुलाई का ख़र्च अन्य स्थानो से उस स्थान पर लाने मे अधिक पडेगा। अन्यथा उस काल मे कीमत मंडी के सभी भागो मे समान ही होगी।

यहां यह मान लिया जाता है कि ख़रीदनेवाले और बेचनेवाले ख़रीद-फ़रोख्त करने और कम-ज्यादा कीमत लगाने के लिए पूर्ण स्वतंत्र हैं। उन के आने-जाने आदि मे किसी प्रकार की रुकावट नहीं पडती। उन्हे मंडी के विभिन्न भागो का, वस्तु के भंडार (स्टाक) और माँग-पूर्ति का, उस के प्रकार आदि का, जनता की रुचि, फैशन आदि का पूरा ज्ञान है। वे अन्य बेचने और खरीदनेवालो को, उन की ख़रीदने-बेचने की शक्ति जरूरत आदि को और वर्तमान तथा भविष्य की अनुमानित माँग तथा पूर्ति को अच्छी तरह से जानते है।

ऊपर मंडी के बहुत ही विकसित, एक प्रकार से पूर्ण रूप का वर्णन किया गया है। किंतु प्रारंभ मे यह बात नहीं रहती। ऊपर की स्थिति तक पहुँचने के लिए मंडी को अनेक प्रारंभिक स्थितियो से होकर गुजरना पडता है क्रम-क्रम से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होना पडता है।

मडी का क्रम-विकास

जिस समय प्रत्येक मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओ की सभी वस्तुएं ख़ुद ही उत्पन्न कर लेता था, उस समय मंडी या बाज़ार का कोई भी अस्तित्व नहीं हो सकता था। किंतु जब से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की केवल कुछ ही वस्तुएं उत्पन्न करने लगता है और बाकी और वस्तुओ तथा सेवाओ को अपनी वस्तुएं अथवा सेवाएं देकर दूसरो से प्राप्त करने लगता है तभी से मंडी या बाज़ार का प्रारंभ हो जाता है। पहले अदला-बदला होता है। वस्तुओ के बदले मे वस्तुएं ली-दी जाती है। इस स्थिति मे प्रारंभ मे तो

अदला-बदला के लिए कोई एक स्थान नियत नही रहता। विभिन्न व्यक्तियों के दलों को, जब, जहां, जिस के पास अपनी आवश्यकता की वस्तु प्राप्त हो सकती है और बदले मे वह दूसरा व्यक्ति उस पहले व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की वस्तु को लेना पसंद करता है वही जाकर अदला-बदला कर लिया जाता है। पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार की वस्तुएं अदला-बदला या क्रय-विक्रय के लिए एक ही स्थान पर आने लगती है, क्योंकि अनेक व्यक्तियों को, अनेक स्थानों मे घूम-घूम कर अपनी-अपनी वस्तुओं के बदले मे अन्य वस्तुओं की तलाश करने और बदलने मे बडा कष्ट होता है, और बडा समय नष्ट करना पडता है। इस कारण एक ऐसा स्थान ठीक कर लिया जाता है जहां अनेक वस्तुओं को लेकर अनेक व्यक्ति अदला-बदला के लिए एकत्र होने लगते है। अनेक प्रकार की वस्तुओ और बदलनेवालो का एक ही स्थान पर जमा होना सब के लिए सुविधाजनक होता है। यही से बाक़ायदा बाज़ार या संगठित मंडी का प्रारंभ हो जाता है। जैसे-जैसे आर्थिक उन्नति होती जाती है, वैसे ही वैसे मंडी भी अधिकाधिक सुसंगठित और विशिष्ट रूप धारण करती जाती है और प्रत्येक वस्तु के लिए अलग-अलग बाज़ार या मंडी क़ायम होती जाती है। पहले अन्न, तरकारिया, किराना, कपडा आदि हर प्रकार की वस्तुएं एक ही मंडी या बाज़ार मे बिकती है, और गॉवो, खेडो, क़स्बो, शहरों के साधारण स्थानों मे इस समय भी इस प्रकार के बाज़ार बहुतायत से पाए जाते है। धीरे-धीरे अन्न की मंडी, तरकारियों की मंडी से अलग हो जाती है। अन्न की मंडी मे केवल अन्न ही बेचा जाने लगता है। बाद मे और अधिक विशिष्टता होने पर विभिन्न प्रकार के अन्नो के लिए भी विभिन्न मंडिया क़ायम हो जाती है। जैसे चावल की मंडी मे केवल अनेक प्रकार के चावल ही बेचे जाने लगते है। पर यह तभी होता है जब आर्थिक उन्नति बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच जाती है। इस से खरीद व फरोख्त मे बहुत आसानी होती है—पर थोक या अधिक ख़रीद-फरोख्त मे ही।

ख़रीद-फरोख्त की दृष्टि मे मंडी का क्रम-विकास विशेष ध्यान देने योग्य है। (१) प्रारंभ मे बाजार या मंडी एक निश्चित स्थान पर होती है और खरीद करनेवाले माल को खुद देख-परख कर ख़रीदते हैं। (२) कुछ और उन्नति होने पर कुल माल के देखने की जरूरत नहीं पड़ती। खरीद करनेवाले केवल नमूना देख कर ही सौदा तय कर लेते है। इस स्थिति मे केवल किसी एक स्थान विशेष से मंडी का बोध नही रह जाता। माल कही रक्खा रहता है और बेचनेवाले कहीं और ही स्थानो पर माल के नमूने ख़रीदारो को दिखला कर सौदा तय कर लेते है। (३) इस के आगे एक स्थिति और आती है, जब नमूने दिखलाने की भी ज़रूरत नहीं पड़ती। इस स्थिति में वस्तुओ की विभिन्न श्रेणिया क़ायम कर दी जाती हैं और प्रत्येक वस्तु की एक ख़ास श्रेणी का हवाला देकर सौदा तय कर लिया जाता है। इस स्थिति मे मडी बहुत विस्तृत हो जाती है। संसार के एक छोर पर बैठे हुए व्यापारी दूसरे छोर के व्यापारियो से वस्तु की श्रेणी का हवाला देकर खरीद-फरोख्त कर लेते है। किंतु ऐसा तभी होता है जब आर्थिक स्थिति बहुत ही ऊँचे स्तर पर पहुँच जाती है।

मडी के विभेद

स्थान और समय के अनुसार भी मंडी के विभिन्न विभेद किए जाते है, जो इस प्रकार है —(अ) स्थान की दृष्टि से मडी के तीन भेद होते है, यथा, स्थानीय मडी, राष्ट्रीय मंडी, अंतर्राष्ट्रीय मंडी। स्थानीय मंडी की हद एक खास स्थान तक ही रहती है। राष्ट्रीय मंडी की हद एक देश तक ही सीमित रहती है, और एक देश एक मंडी माना जाता है। अंतर्राष्ट्रीय अथवा विश्व मंडी अधिक व्यापक होती है, और वह एक देश तक सीमित न होकर अनेक अथवा सारे संसार मे व्याप्त मानी जाती है, यानी सारा संसार एक मंडी माना जाने लगता है।

(आ) समय के अनुसार दो भेद होते है। एक अल्पकालीन मंडी और दूसरी दीर्घकालीन मंडी। एक दिन या एक हफ्ते तक चलनेवाले बाज़ार से अल्पकालीन मंडी का बोध होता है। अनेक महीनों या वर्षों तक चलने

वाली मंडी को दीर्घ-कालीन मंडी कहते है।

वर्तमान समय मे रुख़ मंडी के विस्तृत होने की ओर है। कुछ ख़ास बातों पर मंडी का विस्तृत होना अवलंबित है। सभी वस्तुओं की मंडी विस्तृत नही हो सकती। जिन वस्तुओं मे निम्न-लिखित गुण होते है उन्ही की मंडी विस्तृत होती है :—(१) विस्तृत माँग। जितने ही अधिक स्थानों से और मनुष्यों की जितनी ही अधिक उस वस्तु के लिए माँग होगी उस वस्तु की मंडी भी उतनी ही विस्तृत होगी। (२) शीघ्र-बोधित्व। जिस वस्तु का जितनी ही अधिक आसानी से वर्णन किया जा सकेगा तथा खरीदार जितनी ही अधिक आसानी से उसे समझ सकेगे उतनी ही अधिक विस्तृत उस की मंडी होगी; क्योंकि ख़रीदार स्टाक से दूर रह कर भी सौदा कर सकेगा। (३) वहनीयता। जो वस्तु जितनी ही आसानी से दूर तक ले जाई जा सकेगी, उस का आकार और वजन उस के मूल्य के अनुपात मे जितना ही कम होगा और उस के ढोने मे जितना ही कम किराया लगेगा और अड़चन जितनी ही कम होगी उतनी ही अधिक उस की माँग होगी, और उतनी ही विस्तृत उस की मंडी होगी। (४) टिकाऊपन। जो वस्तु जितनी ही टिकाऊ होगी, जितने ही अधिक दिन ठहर सकेगी, जल्दी न बिगड़ेगी उतनी ही विस्तृत उस की मंडी होगी। (५) बड़ी मात्रा मे पूर्ति। जो वस्तु जितनी ही बड़ी मात्रा मे उत्पन्न की जा सकेगी उस की मंडी उतनी ही विस्तृत होगी।

किस वस्तु की मंडी विस्तृत होगी?

जो वस्तुएं भारी भरकम होने के साथ ही कम-कीमती होती है, शीघ्र नष्ट हो जानेवाली होती है, ख़ास-ख़ास मनुष्यो के काम की होती है, उन की मंडी परिमित और छोटी होती है। साधारण ईंटे सब जगहों पर खप सकती है, पर वे मूल्य के हिसाब से इतनी भारी और अधिक आकार की होती है कि उन की ढुलाई का ख़र्च उन की कीमत से अधिक बैठ जाता है, अस्तु वे बहुत दूर तक नहीं भेजी जा सकती। इसी प्रकार ताजा

किस वस्तु की मंडी विस्तृत न होगी?

दूध, ताजी तरकारिया आदि भी जल्दी नष्ट हो जानेवाली होने के कारण बहुत दूर नहीं भेजी जा सकती। ख़ास नाप और तर्ज के कपड़े ख़ास-ख़ास मनुष्यो के लिए ही तैयार हो सकते है, इन की माँग अधिक नहीं बढ सकती। इस कारण इस तरह की वस्तुओ की मंडी विस्तृत नहीं हो सकती।

मडी माप है

मंडी अपने समाज, अपने देश की व्यापारिक तथा आर्थिक उन्नति की माप है। जो देश, जो समाज जितना ही अधिक उन्नत होगा उस की मंडी उतनी ही अधिक सुसंगठित होगी।

आवागमन के साधनो से सुभोता

मंडी के साथ ही विनिमय के लिए व्यापारी, द्रव्य और आवागमन तथा सदेश-वहन के साधनो की भी नितात आवश्यकता पडती है। इन मे से व्यापारियो के संबंध मे विशेष कहने की यहा आवश्यकता नहीं है। गाडी, रेल, जहाज़ आदि आवागमन के तथा तार, केविलग्राम आदि सदेश-वहन के साधनो के संबंध मे यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि माल के एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले आने-ले जाने मे जितनी ही जल्दी और सहूलियत होगी, भाडा जितना ही कम पडेगा, टूट-फूट, नुकसान, छीज और झंझट जितना ही कम होगे, विनिमय उतना ही अधिक सुचार रूप से किया जा सकेगा और आर्थिक उन्नति उतनी ही अधिक हो सकेगी।

अदला-बदला की कठिनाइया

द्रव्य भी विनिमय के लिए बहुत अधिक आवश्यक है। जब वस्तुओ का एक-दूसरे से सीधा विनिमय या अदला-बदला होता है, उस समय अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। मान लो कि राम के पास एक गाय है। वह गाय के बदले मे अन्न चाहता है। तो उसे ऐसे व्यक्ति को खोजना पड़ेगा जिस के पास अन्न भी हो और साथ ही वह अन्न को देकर बदले मे गाय लेना चाहता हो। अब यदि अन्नवाले व्यक्ति को बदले मे गाय की ज़रूरत न हो तो राम के सामने बडी कठिन समस्या उपस्थित हो जायगी। दोनो

को किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश मे भटकना पड़ेगा जो गाय तो चाहता हो पर बदले मे कोई ऐसी वस्तु देने को तैयार हो जिसे अन्नवाला व्यक्ति लेना चाहता हो ।

इस के अलावा अदला-बदला मे एक और बडी भारी अडचन पडती है । यह सवाल उठ खडा होता है कि किस वस्तु की कितनी मात्रा के बदले मे अन्य दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा दी जाय ? फिर यदि वस्तुएं ऐसी हुई जिन को बाँटा नही जा सकता तब तो कठिनाइयां और भी अधिक बढ जाती है । यदि नाव, गाडी, गाय, घोडा, हल, घडा, मकान आदि का अदला-बदला करना हो तो बडी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा । ये वस्तुएं बॉटी, काटी या तोडी नही जा सकती । बॉटने या तोडने से उन की उपयोगिता नष्ट हो जायगी । तो फिर किस के बदले मे क्या दिया जाय ? और कैसे अदला-बदला किया जाय ?

द्रव्य

इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक ऐसे पदार्थ की प्रतिष्ठा की गई जिसे सब अपनी-अपनी वस्तुओं के बदले मे लेने-देने के लिए तैयार हों, और जिस से विभिन्न वस्तुओ की माप आदि का निर्णय से हो जाय । इसी को द्रव्य कहते है । रुपया-पैसा या द्रव्य के बदले मे सभी तरह की वस्तुएं ली-दी जाती है । द्रव्य के उपयोग से विनिमय के कार्यो मे बहुत सुभीता हो गया है । अब वस्तुओं को सीधे एक-दूसरे से बदलने की ज़रूरत नहीं रह गई है । यदि राम को अन्न लेना है तो वह अपनी गाय को बेच कर पहले रुपया प्राप्त करेगा । फिर उन रुपयों को देकर अन्न खरीद लेगा । इस तरह द्रव्य के उपयोग से उसे दो बार विनिमय करने के लिए बाध्य होना पडता है । एक बार तो वह अपनी गाय को बेच कर रुपए प्राप्त करता है । फिर दूसरी बार रुपए देकर अन्न लेता है । पर वह ऊपर बतलाई गई सभी झंझटों से बच जाता है । साथ ही उसे गाय के बेचने से जो रुपए मिलते है उन मे से यदि वह चाहे तो कुछ का ही अन्न ले सकता है, बाकी से या तो अन्य वस्तुओं

को ले सकता है या उन रुपयों को अपने पास आगे की ख़रीद के लिए रख सकता है। इस प्रकार द्रव्य के उपयोग से विनिमय मे भी सहूलियत होती है और आवश्यकताओ की विभिन्न वस्तुओ की मात्रा तथा प्रकार आदि के प्राप्त करने मे भी।

एक वस्तु के दूसरी वस्तु से या किसी वस्तु के द्रव्य से परिवर्तन को ही विनिमय कहते है। मंडी में इसी का निर्णय होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन वस्तु किस मात्रा या परिमाण मे अन्य वस्तुओ के बदले मे दी जाय? यह प्रश्न मूल्य का है। विनिमय और अर्थशास्त्र का सारा आधार मूल्य पर ही स्थिर है। इस कारण आगेवाले अध्याय मे मूल्य के संबंध मे विचार किया गया है।

अध्याय ३२

मूल्य

विनिमय मे वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य का निर्णय किया जाता है। वर्तमान आर्थिक जीवन का और अर्थशास्त्र का केंद्र मूल्य ही है। और साथ ही मानव-समाज का सारा आर्थिक कार्य मूल्य के प्रश्न से सम्बद्ध है। समाज के आर्थिक जीवन का सारा दारोमदार मूल्य पर निर्भर है। मूल्य और कीमतो के प्रश्न समाज के छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों के प्रति-दिन के जीवन मे भारी परिवर्तन उपस्थित किया करते है। वस्तुओं के दामो मे कमी-वेशी होने से बडी विकट समस्याएं खडी हो जाती है। आर्थिक मंदी के कारण संसार के सभी देशो मे हलचल मच गई है। श्रम, पूँजी, भूमि आदि के मूल्य मे परिवर्तन होने के कारण संसार के सभी देशों मे भारी उलट-फेर हो गए है और आए दिन होते रहते है। मूल्य पर ही अर्थशास्त्र की नीव स्थित है।

मूल्य का महत्व

सूल्य क्या है? विनिमय की जो शक्ति है वही मूल्य है। एक वस्तु के बदले मे जिस गुण या शक्ति के कारण अन्य वस्तु या वस्तुएं मिल सकती है उसी को मूल्य कहते है। किसी वस्तु मे अपने बदले मे अन्य वस्तुओं के खरीदने प्राप्त कर सकने की जो शक्ति होती है वही उस वस्तु का मूल्य है। एक तोला सोने के बदले मे करीब ७० तोला चाँदी आती है। अस्तु एक तोला सोने का मूल्य ७० तोला चाँदी है। एक सेर गेहूं के बदले मे दो सेर चना, या ४ आम, या १½ सेर चावल, या १ छटाँक घी आ सकता है तो यही उस का मूल्य है।

मूल्य क्या है?

कोई वस्तु तभी संग्रह की जायगी जब उस में मुख्य दो गुण अवश्य

मूल्य के कारण

हो। यानी वह उपयोगी हो और साथ ही उस की मात्रा परिमित हो। यदि वस्तु उपयोगी न होगी तो परिमित सख्या मे होने पर भी उसे कोई न लेना चाहेगा, क्योंकि उस से किसी की किसी आवश्यकता की पूर्ति न हो सकेगी। और यदि वह वस्तु उपयोगी तो होगी किंतु परिमित संख्या या परिमाण में न होगी, वह इतनी अधिक होगी कि प्रत्येक व्यक्ति को मनचाही संख्या या परिमाण में मिल सकेगी, तो उस का महत्व न रहेगा, उस के बदले मे कोई दूसरा व्यक्ति अपनी किसी भी वस्तु को देने के लिए तैयार न होगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को बिना कुछ बदले में दिए ही उस पहली वस्तु की मन-चाही मात्रा प्राप्त हो सकेगी। अस्तु, किसी एक वस्तु के चाहे जाने के लिए दो बाते जरूरी है, उस का उपयोगी होना और साथ ही परिमित सख्या या परिमाण मे होना।

एक व्यक्ति किसी एक वस्तु को उत्पन्न, संग्रह अथवा प्राप्त करता है। वह उस के लिए उपयोगी होगी। किंतु उसे किसी दूसरे व्यक्ति को देकर वह तभी उस के बदले मे अन्य वस्तु या वस्तुएं प्राप्त कर सकता है जब दूसरा व्यक्ति उस वस्तु को अपने लिए उपयोगी समझे। यानी उस वस्तु का तभी मूल्य होगा जब वह वस्तु दूसरे के लिए भी उपयोगी हो। यानी मूल्य और विनिमय दोनो ही समाजिक धारणाएं हैं। विनिमय और मूल्य का तभी विचार हो सकेगा जब कि प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपनी व्यक्तिगत विभिन्न आवश्यकताओं की तुलनात्मक कमी-बेशी और महत्व की माप करेगा, वरन् जब वह अपने आस-पास वाले अन्य व्यक्तियों के साथ उन की तुलना करेगा। उसे आम का फल चाहे अधिक आवश्यक जान पड़े या कम, किंतु मूल्य और विनिमय के लिए यह ज़रूरी होगा कि वह इस बात का तुलनात्मक विचार करले कि आम के फल के बदले मे अन्य व्यक्ति उसे कितने केले, संतरे या अमरूद देने को तैयार है।

कोई वस्तु कब चाही जायगी? जब वह किसी न किसी आवश्य-

विनिमय मूल्य

कता की पूर्ति करे, यानी वह व्यवहार में उपयोगी हो, तभी वह चाही जायगी। यह उस का पदार्थगत गुण है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोगी होना उस का अपना खास गुण है। किंतु मूल्य के लिए यह पदार्थगत उपयोगिता वाला गुण ही काफी नहीं है। किसी वस्तु का मूल्य तभी माना जायगा जब उस के बदले मे अन्य वस्तुएं प्राप्त की जा सकें। यदि किसी वस्तु के बदले में अन्य वस्तुएं प्राप्त नहीं की जा सकतीं तो व्यवहार मे उपयोगी होने पर भी उस वस्तु का कोई मूल्य न होगा। पानी जीवन के लिए बहुत उपयोगी है। किंतु आमतौर पर पानी के एक घडे के बदले मे यदि अन्य कोई वस्तु प्राप्त नहीं की जा सकती तो पानी आवश्यक और उपयोगी होते हुए भी विनिमय मे कुछ भी मूल्य नहीं रखता। अस्तु, विनिमय-साध्य होने के लिए, विनिमय मे मूल्य रखने के लिए, यह ज़रूरी है कि किसी एक वस्तु के बदले मे अन्य वस्तुएं प्राप्त की जा सकें। तभी उस का विनिमय मूल्य माना जायगा, और यह तभी हो सकेगा जब वह वस्तु परिमित संख्या मे हो, यानी उस की इकाइयां (संख्या) इतनी ज्यादा न हों कि उन से सभी व्यक्तियों की सभी आवश्यकताएं पूरी तरह से पूरी हो जाएं। जब उस वस्तु की संख्या केवल इतनी होगी कि उतने से सब व्यक्तियों की सभी आवश्यकताएं पूरी तरह से पूरी न हो सकेंगी, तभी उसे प्राप्त करने के लिए उस के बदले मे लोग अन्य वस्तुएं देने के लिए तैयार होंगे।

किसी वस्तु मे मूल्य लाने के लिए उपयोगिता और परिमितता—ये

का परिमाण घट जाय, उस की संख्या कम हो जाय (पर साथ ही उस के उपयोगी होने में कमी न पड़े) तो उस का मूल्य बढ़ जायगा।

मॉग-पूर्ति का सिद्धांत और मूल्य

यदि अन्य वस्तुओं के मुकाबले में कोई एक वस्तु परिमाण (संख्या) में बढ़ जाय तो उस का मूल्य घट जायगा, उस की प्रत्येक इकाई के बदले में अन्य वस्तुओं की इकाई कम मिलेगी, बशर्ते कि उस वस्तु के परिमाण के बढ़ने के साथ ही समाज में किसी कारण से उस की मॉग न बढ़े। इसी प्रकार यदि किसी एक वस्तु की मॉग बढ़ जाय (उस के अन्य उपयोग निकल आवें, अथवा किसी कारण से और अधिक व्यक्ति उसे काम में लाने लगें) और यदि उस की संख्या (परिमाण) में वृद्धि न हो तो उस का मूल्य बढ़ जायगा, अन्य वस्तुएं उस के बदले में पहले से अधिक मिलने लगेंगी। यही मॉग और पूर्ति का सिद्धांत है।

किसी वस्तु का तभी मूल्य होगा जब वह चाही जायगी, और जब वह अन्य वस्तुओं के मुकाबले में अधिक चाही जायगी तो उस का मूल्य अधिक होगा, और कम चाही जायगी तो कम होगा। किसी वस्तु के कम चाहे जाने अथवा उस के बदले में अन्य वस्तुओं के कम परिमाण में दिए जाने का यही कारण होगा कि उस से जिस आवश्यकता की पूर्ति होती है वह (आवश्यकता) नगण्य या कम है, बनिस्बत उन आवश्यकताओं के जो कि बदले में दी जानेवाली वस्तुओं के द्वारा पूरी होती है।

परिमाण और मूल्य

क्रमागत-ह्रास नियम के अनुसार जैसे-जैसे किसी एक वस्तु की संख्या (परिमाण) बढ़ती जायगी, वैसे ही वैसे उस की और अधिक आगे ली जानेवाली इकाई की उपयोगिता कम होती जायगी। अस्तु प्रत्येक और अधिक आगे ली जानेवाली इकाई की चाह क्रमशः कम होती जायगी और इसी कारण उस के बदले में दी जानेवाली वस्तुओं की संख्या कम होती जायगी। जो वस्तु किसी कम तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करती है, अथवा किसी आवश्यकता

की पूर्ति कम मात्रा मे करती है, उस मे बनिस्बत उस वस्तु के कम उपयोगिता होती है जो किसी अधिक तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करती है, अथवा किसी आवश्यकता की पूर्ति अधिक मात्रा मे करती है। अस्तु, जो वस्तु कम उपयोगी ठहरेगी उस के बदले मे अन्य अधिक उपयोगी वस्तुएं कम मात्रा मे दी जायँगी और यह एक सर्वमान्य सिद्धांत है कि अन्य सभी बातो के पूर्ववत् रहने पर, किसी वस्तु की संख्या बढने से उस की उपयोगिता कम हो जाती है और संख्या कम होने से उपयोगिता बढ़ जाती है। अस्तु उस वस्तु की संख्या बढने से उस का मूल्य कम हो जाता है और संख्या घटने से उस का मूल्य बढ जाता है।

मूल्य का निर्णय

क्रमागत-ह्रास नियम के अनुसार प्रत्येक मनुष्य जैसे-जैसे किसी एक वस्तु की अधिकाधिक इकाइयां उपयोग मे लाता जायगा, वैसे ही वैसे उस की उस वस्तु से संबंध रखने वाली आवश्यकता कम होती जायगी और अंत मे वह पूरी हो जायगी। किंतु इस के साथ ही एक बात बडे महत्व की यह है कि विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं की तीव्रता मे और व्यापकता में बहुत विभिन्नता रहती है। किसी की किसी एक वस्तु की आवश्यकता अधिक तीव्र और व्यापक होती है किसी की कम। साथ ही उन्हीं व्यक्तियों की उन अन्य वस्तुओं की आवश्यकताओं की मात्रा मे कम या अधिक तीव्रता होती है जो कि उस खास वस्तु के बदले मे वे देने के लिए तैयार होते हैं। परन्तु यदि किसी एक वस्तु की पूर्ति मंडी मे थोड़ी मात्रा मे हो तो वह उन व्यक्तियों के हाथों मे जायगी जो उस वस्तु के बदले मे अन्य वस्तुएं सब से अधिक परिमाण मे देने के लिए तैयार होंगे। यदि दस सेर अंगूर बाज़ार मे हों तो सब से पहले वे उन व्यक्तियों के हाथों में जायेंगे जो उन (दस सेर) अंगूरों के बदले दस मन गेहूं, या दो मन चीनी देने को तैयार होंगे, न कि उन व्यक्तियों के जो केवल ४ मन गेहूं अथवा आधा मन चीनी देने को राज़ी होंगे। किन्तु यदि अंगूरों का परिमाण बढ़

जाय यानी बजाय दस सेर के २० सेर अंगूर बाज़ार मे आ जायँ तो उन की कीमत घट जायगी, जिस से पहले जिन व्यक्तियों ने अंगूर ख़रीदे थे वे सस्ते होने के कारण पहले से और अधिक अंगूर लेलें या वे नए ग्राहक लेने को राजी हो जायँ जो पहले ऊँचे दामों पर लेने के लिए तैयार न थे। अस्तु किसी वस्तु की पूर्ति के बढ जाने से उस का मूल्य घट जाता है, क्योंकि बढे हुए अंश को यदि पहलेवाले ख़रीदार लेंगे तो उन की उस आवश्यकता की पूर्ति होगी जो पहले के मुकाबले में कम तीव्र होगी और इस कारण वे उस के बदले मे अन्य वस्तुएं कम देंगे। अथवा नए ग्राहक लेंगे जिन्हों ने पहले उस वस्तु को इस कारण नहीं ख़रीदा था कि उन की जिस आवश्यकता की पूर्ति अंगूरो से होती थी वह इतनी तीव्र न थी कि वे उस के बदले मे अन्य वस्तुएं निश्चित परिमाण मे देने के लिए तैयार होते। इस दशा मे भी बढी हुई पूर्ति के बदले में अन्य वस्तुएं आपेक्षाकृत कम ही परिमाण मे मिलेंगी, क्योंकि जिस आवश्यकता की उस से पूर्ति होती है वह तीव्रता मे कम ही ठहरती है।

आवश्यकता की तीव्रता और मूल्य

जैसे-जैसे किसी इच्छित वस्तु का परिमाण बढता जाता है, उस की अधिकाधिक इकाइया प्राप्त होती जाती है, वैसे ही वैसे उस से संबंध रखनेवाली आवश्यकता की तीव्रता कम होती जाती है। किंतु सभी आवश्यकताएं एक ही गति से, एक-सी तेजी से कम नहीं होती। कोई आवश्यकता बडी तेजी से कम होती जाती है, कोई बहुत ही धीरे-धीरे। नमक की आवश्यकता बडी तेजी से कम होती है, किंतु मिठाई की आवश्यकता बहुत धीरे-धीरे कम होती है। अस्तु नमक के थोडे परिमाण से संतोष हो जाता है, और अधिक नमक का उपभोग नहीं किया जा सकता। किंतु नमक के मुकाबले मे मिठाई बहुत अधिक परिमाण मे उपभोग मे लाई जा सकती है, क्योंकि उस की आवश्यकता की तीव्रता बहुत धीरे-धीरे कम होती है।

विनिमय मे इस बात का भी बहुत अधिक असर पडता है कि जिन

वस्तुओं की आवश्यकता की तीव्रता धीरे-धीरे कम होती है उन के मूल्य में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है, क्योंकि उन को अधिक संख्या या परिमाण में उपभोग में लाया जा सकता है।

मूल्य का सिद्धान्त

यह कहा गया है कि क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार मूल्य के संबंध में यह स्पष्ट देख पड़ता है कि, अन्य बातों के पूर्ववत रहने पर, वस्तु के परिमाण के बढ़ने पर उस का मूल्य घट जाता है और परिमाण घटने पर मूल्य बढ़ जाता है। किन्तु इस प्रगतिशील संसार में अन्य सभी बातें सदा पूर्ववत नहीं रहतीं। अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं, जिन में से कुछ तो परिमाण के घटने-बढ़ने पर मूल्य के घटाने में सहायक होते हैं और कुछ उस के विपरीत पड़ते हैं और उस के प्रभाव को कम कर देते या बदल ही डालते हैं। उदाहरण के लिए, जन-संख्या घटती-बढ़ती रहती है, उस वस्तु के विषय में लोगों की रुचि बदल जाती है, उन अन्य वस्तुओं का परिमाण घटता-बढ़ता रहता है, जो इस वस्तु के बदले में दी जाती है तथा उन वस्तुओं के संबंध में लोगों

उस के पास वे अन्य वस्तुएं किस-किस परिमाण में हैं जिन्हें वह इस के बदले में देगा और इन अन्य वस्तुओं को वह किस हद तक चाहता है।

यदि अधिक व्यक्ति इस वस्तु को चाहेंगे तो मॉग अधिक होगी। और कम व्यक्ति चाहेंगे तो कम। यदि प्रत्येक व्यक्ति अधिक परिमाण मे चाहेगा तो मॉग अधिक होगी और कम परिमाण में तो मॉग कम होगी। यदि उस के पास जो अन्य वस्तुएं है उन्हे वह इस वस्तु की वनिस्वत कम चाहेगा तो इस के बदले मे वह उन वस्तुओं का अधिक परिमाण देगा और यदि इस वस्तु की बनिस्वत उन वस्तुओ को अधिक चाहेगा तो इस के बदले में उन वस्तुओं का कम परिमाण देगा। इस प्रकार अन्य सभी बातों का प्रभाव, मूल्य और विनिमय पर पडता है।

अभी तक जो विचार किया गया है उस से स्पष्ट हो जाता है कि (१) उसी वस्तु का मूल्य होगा जो चाही जायगी, (२) कोई वस्तु तभी चाही जायगी जब वह उपयोगी होने के साथ ही इतने परिमित परिमाण मे होगी कि उस से सभी व्यक्तियो की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति न हो सके, (३) इस वस्तु के मूल्य का परिमाण इस बात पर निर्भर होगा कि वह अन्य वस्तुओ के मुकाबले मे कितनी चाही जाती है, (४) इस वस्तु का कितना परिमाण चाहा जायगा वह इस बात पर निर्भर होगा कि इस वस्तु की आवश्यकता का कितना अंश बिना पूरा हुए रह जाता है; (५) यह वस्तु अन्य वस्तुओ के मुकाबले मे कितनी चाही जाती है यह इस बात पर निर्भर है कि वे अन्य वस्तुएं कितने परिमित परिमाण मे है, और कितनी चाही जाती है।

अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु का मूल्य मॉग और पूर्ति पर निर्भर रहता है। यदि मॉग अधिक होगी और पूर्ति कम तो मूल्य अधिक होगा, यदि मॉग कम होगी और पूर्ति अधिक तो मूल्य कम होगा। इसी नियम के अनुसार मंडी मे वस्तुओं के मूल्य का निर्णय होता है।

मूल्य की मॉग-पूर्ति पर निर्भरता

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु का तभी मूल्य होता है जब उस की माँग होती है, और साथ ही वह इतने परिमित परिमाण मे होती है कि कुल माँग पूरी तरह से पूरी नही की जा सकती। अब सवाल यह उठता है कि कोई वस्तु परिमित परिमाण मे क्यों होती है? इस का वर्णन अगले अध्याय मे किया गया है।

अध्याय ३३

उत्पादन-व्यय और मूल्य

वस्तुएं परिमित परिमाण मे क्यो होती है ? कारण कि बिना मनुष्य की सहायता के अकेली प्रकृति सभी आवश्यक वस्तुओ को इतने अधिक परिमाण या संख्या मे नहीं उत्पन्न करती कि सभी मनुष्यों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति पूरी तरह से हो सके। इस कारण मनुष्य को अपने श्रम और उद्योग द्वारा अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओ को उत्पन्न करना पडता है। किसी वस्तु को उत्पन्न करने मे अनेक साधनो को जुटा कर काम मे लाना पडता है। इस मे व्यय होता है, जो उत्पादन-व्यय (लागत-खर्च) कहलाता है। जिस वस्तु के उत्पादन मे जितना ही अधिक आयोजन और प्रयत्न करना पडेगा, उस मे उतना ही अधिक उत्पादन-व्यय होगा। कोई एक वस्तु तभी उत्पन्न की जायगी जब उस की इतनी जरूरत समझी जाय कि उस के उत्पादन मे जो व्यय पडे वह उस के मूल्य से निकल आए, यानी जब उस वस्तु के बदले मे अन्य वस्तुएं इतने परिमाण मे दी जा सके कि उन का मूल्य कम से कम इतना तो हो जितना कि उस वस्तु के उत्पादन मे व्यय करना पडा है। यदि उस वस्तु का मूल्य उस के उत्पादन-व्यय से कम होगा तो वह वस्तु उत्पन्न ही न की जायगी। अस्तु, किसी वस्तु के परिमित परिमाण मे होने का कारण उस वस्तु का उत्पादन-व्यय ही है।

परिमित परिमाण क्यो ?

परिमितता मूल्य का एक कारण है, किंतु परिमितता ही मूल्य का एकमात्र कारण नही है। क्योंकि जैसा ऊपर सिद्ध हो चुका है, किसी वस्तु के परिमित होने पर भी उस का मूल्य कुछ भी न होगा यदि वह उपयोगी

न हो। इसी प्रकार किसी वस्तु के उपयोगी होने पर भी उस का कुछ भी मूल्य न होगा जब तक कि वह परिमित परिमाण मे न हो। अस्तु मूल्य के लिए उपयोगिता और परमितता दोनों ही ज़रूरी है।

केवल उत्पादन-व्यय ही मूल्य का कारण नहीं

केवल उत्पादन-व्यय ही मूल्य का कारण नही हो सकता। यदि कोई मनुष्य हिमालय पर्वत पर एक वर्फ वनाने वाली मशीन बना कर खडी करे और उस से वर्फ वनाने का उद्योग करे, अथवा गरमी के दिनों मे प्रयाग मे मकान गर्म रखने की वस्तुएं अथवा उन वस्तुओ को बनानेवाली मशीन कितना ही ख़र्च करके क्यो न वनावे, तो उन का कुछ भी मूल्य न होगा। एक ऐसी मशीन का कुछ भी मूल्य न होगा जिस से केवल ज़ोर की, वेसुरी आवाज़ हो, उस के वनाने मे चाहे जितना व्यय क्यो न पडा हो।

कार्य-कारण संबध

मूल्य, मॉग उपयोगिता तथा पूर्ति उत्पादन-व्यय और (उस के कारण परिमितता) का आपस मे कार्य-कारण का संवध है। उपयोगिता के कारण मॉग होती है। उत्पादन-व्यय अथवा परिमितता पर पूर्ति निर्भर रहती है। उत्पादन-व्यय जितना ही अधिक होगा, वस्तु उतनी ही कम मात्रा मे उत्पन्न की जायगी। अस्तु वह उतने ही परिमित परिमाण मे प्राप्त हो सकेगी। उस की पूर्ति अधिक न होगी। इस प्रकार मॉग मे उपयोगिता समावेशित रहती है और पूर्ति मे उत्पादन-व्यय तथा परिमितता, और मॉग और पूर्ति-द्वारा ही मूल्य का निर्णय होता है। यदि मॉग अधिक हुई और पूर्ति कम, तो मूल्य अधिक होगा, वनिस्वत उस के जब कि मॉग कम होगी और पूर्ति अधिक। यदि मॉग १००० मन चीनी की है और पूर्ति केवल ७०० मन की तो चीनी का मूल्य १२॥) मन होगा। किंतु यदि मांग ८०० मन हो और पूर्ति १००० मन तो चीनी का मूल्य १०) रुपए मन या इस से भी कम होगा। मॉग से किसी वस्तु के मूल्य पर बड़ा असर पड़ता है। किंतु मूल्य का भी मॉग पर कम असर नहीं पड़ता। जिस वस्तु का दाम जितना ही कम

होगा उस की माँग उतनी ही अधिक होगी। पूर्ति (परिमितता) का भी मूल्य पर बड़ा असर पड़ता है। जो वस्तु जितने ही परिमित परिमाण मे होगी, उस का उतना ही अधिक मूल्य होगा। किंतु किसी वस्तु का मूल्य जितना ही ज्यादा होगा उस की पूर्ति की चेष्टा उतनी ही अधिक होगी, उतने ही उत्पादक उतने ही अधिक परिमाण मे उसे उत्पन्न करने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार माँग और पूर्ति का प्रभाव मूल्य पर पड़ता है और साथ ही मूल्य का प्रभाव माँग और पूर्ति पर भी पड़ता है। माँग के अनुसार कीमत मे, पूर्ति के अनुसार कीमत मे, और जो तादाद उत्पन्न की जाती है उस मे यानी इन तीनो मे बहुत घनिष्ट संबंध है। ये तीनों परस्पर एक-दूसरे का निर्णय करती है। माँग के अनुसार कीमत जितनी ही ज्यादा होगी वस्तु उतनी ही अधिक तादाद में उत्पन्न की जायगी। किसी वस्तु की जितनी अधिक तादाद उत्पन्न की जायगी, माँग के अनुसार कीमत उतनी ही कम होती जायगी। अस्तु, माँग और पूर्ति तथा मूल्य का आपस मे कार्य-कारण का संबंध है, तीनो एक दूसरे का निर्णय करते है, और साथ ही एक दूसरे पर निर्भर रहते है।

माँग और पूर्ति मे सामंजस्य

मंडी मे एक खास समय मे, खास तादाद के लिए एक खास (१) माँग के अनुसार कीमत और (२) पूर्ति के अनुसार कीमत रहती है। किसी वस्तु की एक खास तादाद के लिए एक खास माँग के अनुसार कीमत होती है, जिस पर उतनी तादाद माँगी जाती है, और उतनी तादाद मे वह वस्तु बिक सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक खास तादाद के लिए खास पूर्ति के अनुसार कीमत होती है जिस कीमत पर उतनी खास तादाद की पूर्ति की जाती है, बेचनेवाले उस कीमत पर उस खास तादाद को बेचने के लिए तैयार होते है, बिक्री के लिए उतनी तादाद मे उस वस्तु को बाजार में रखते है। यही माँग और पूर्ति का सामंजस्य है।

माँग के नियम के अनुसार, जैसे-जैसे कीमत घटती जाती है वैसे-वैसे

मंडी का नियम

माँग की तादाद बढती जाती है, और जैसे-जैसे क़ीमत बढती जाती है वैसे-वैसे माँग की तादाद घटती जाती है। पूर्ति के नियम के अनुसार जैसे-जैसे कीमत बढती जाती है, वैसे-वैसे पूर्ति की तादाद बढती जाती है, और जैसे-जैसे कोमत घटती जाती है, वैसे-वैसे पूर्ति की तादाद घटती जाती है। यानी जैसे-जैसे कीमत अधिकाधिक होगी, वैसे-वैसे बेचनेवाले अधिकाधिक तादाद मे उस वस्तु को बेचना चाहेगे, पर खरीदार वैसे-वैसे उसे कम ख़रीदना चाहेगे। किंतु जैसे-जैसे कीमत घटती जाती है, वैसे-वैसे खरीदार अधिकाधिक तादाद मे खरीद करना चाहते है; पर बेचनेवाले उसी प्रकार क्रमशः कम से कम तादाद मे बेचना चाहते है।

नीचे दिए हुए कोष्टक से यह सिद्धांत भलीभाँति स्पष्ट हो जाना चाहिए।

दर प्रति सेर चीनी	तादाद जो ख़रीदार खरीदने को तैयार है	तादाद जो बेचनेवाले बेचने को तैयार है
आठ आना	१००० सेर चीनी	४०००० सेर चीनी
छः आना	२००० ,,	२०००० ,,
चार आना	१०००० ,,	१०००० ,,
दो आना	५०००० ,,	३००० ,,

इस कोष्ठक से स्पष्ट है कि जब चीनी की कीमत आठ आना प्रति सेर रहती है तब बेचनेवाले सब से अधिक परिमाण मे बेचने के लिए तैयार होते हैं, यानी वे ४०००० सेर बेचने को तैयार रहते है। पर खरीदार केवल १००० सेर तक खरीदने के लिए तैयार होते है। जब भाव गिर कर ६ आना सेर आ जाता है तब बेचनेवाले पहले से कम तादाद में बेचने को राजी होते है, यानी २०००० सेर बेचने को तैयार होते है। पर इन दामो पर खरीदार पहले से कुछ अधिक तादाद मे ख़रीदने को तैयार होते हैं, यानी वे २००० सेर तक खरीदने को तैयार होते है। जब कीमत और

अधिक गिर जाती है और ४ आना सेर हो जाती है तब बेचनेवाले और भी कम तादाद में बेचना चाहते हैं, यानी केवल १००० सेर बेचने को तैयार होते हैं। पर ख़रीदार दूसरी बार से भी अधिक यानी १०००० सेर तक ख़रीदने को तैयार हो जाते हैं। अंत में जब भाव गिर कर २ आना सेर तक आ जाता है तब ख़रीदार तो और भी अधिक, यानी ५०००० सेर तक खरीदने को तैयार हो जाते हैं, पर बेचनेवाले केवल २००० सेर ही बेचने को राज़ी होते हैं। जैसे-जैसे कीमत घटती जाती है, वैसे ही वैसे खरीदी जानेवाली तादाद बढ़ती जाती है और बेची जानेवाली तादाद घटती जाती है। यही मंडी का नियम है।

सामंजस्य और सब से अधिक बिक्री

ऊपर वाले कोष्टक में एक बात ध्यान देने की है। जब भाव चार आना फी सेर होता है तब जितनी तादाद में ख़रीदार खरीदना चाहते हैं ठीक उतनी ही तादाद बेचनेवाले बेचना चाहते हैं। यही माँग और पूर्ति का सामंजस्य है। यही सामंजस्य-कीमत है। सामंजस्य-कीमत पर ही माँग और पूर्ति के परिमाण एक बराबर रहते हैं। जितने की माँग होती है उतने ही की पूर्ति होती है, और सामंजस्य-कीमत पर ही सब से अधिक बिक्री होती है। ऊपर के कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है कि सामंजस्य-कीमत पर १०००० सेर की बिक्री होती है। सामंजस्य-कीमत के पहले अधिक से अधिक केवल २००० सेर की बिक्री होती है, क्योंकि बेचनेवाले भले ही अधिक तादाद में बेचना चाहें पर लेनेवाले २००० सेर से अधिक लेने को राज़ी नहीं होते, अस्तु असल में बिक्री केवल २००० सेर ही तक होकर रह जाती है। इस सामंजस्य-कीमत से नीचे उतरने पर यद्यपि खरीदार ५०००० सेर की माँग करते हैं किंतु पाते केवल २००० सेर ही है, क्योंकि बेचनेवाले इस से अधिक बेचने के लिए तैयार नहीं है। अस्तु, सामंजस्य-कीमत पर ही सब से अधिक बिक्री होती है।

बेचनेवाले उन्हीं दामों पर बेचने को तैयार होंगे जितने में कम से कम

बिक्री और लागत-व्यय

उन का लागत-खर्च निकल आए। यदि वस्तु के उत्पन्न करने मे जो व्यय पडा है उस से कीमत कम मिलेगी तो उन्हें घाटा लगेगा। अस्तु, बेचनेवाले उस वस्तु को बेचना पसंद न करेगे। बिक्री से लागत-खर्च कम से कम निकल आना ज़रूरी है।

दो तरह का उत्पादन-व्यय

इस संबंध मे यह जान लेना बहुत ज़रूरी है कि उत्पादन-व्यय मे दो तरह के व्यय सम्मिलित रहते है, एक तो पूरक लागत और दूसरी प्रमुख लागत। प्रमुख तथा पूरक लागतों का योग ही पूरी लागत होती है। साधारण स्थिति मे बिक्री से पूरी लागत वसूल हो जानी चाहिए।

प्रमुख उत्पादन-व्यय

किसी एक कारखाने को ४००० गज़ कपडा तैयार करना है। अब इस ४००० गज़ कपड़े के लिए जो (१) रुई आदि कच्चा माल लगाना पड़ेगा उस के दाम, (२) जो मज़दूरी इस खास कपड़े के तैयार करनेवाले मज़दूरो को देनी पडेगी वह, (३) इस खास कपड़े के बनाने के लिए ईंधन आदि जो मशीन चलाने के काम मे आवे; (४) इस की तैयारी के लिए मशीन आदि मे घिसाई के कारण जो ह्रास तथा टूट-फूट होगी उस का खर्च आदि सब जोड कर जो लागत लगेगी वह सब प्रमुख लागत मे आएगी। यह लागत ऐसी होगी जो केवल इसी ४००० गज़ कपड़े की तैयारी मे बैठेगी। यदि यह ४००० गज़ कपडा तैयार न किया जाय तो जो इस की तैयारी के लिए कच्चे माल, मज़दूरी, ईंधन ह्रास तथा टूट-फूट आदि मे लागत लगती वह सब बच जाती। इसी व्यय को प्रमुख लागत कहते है।

पूरक उत्पादन-व्यय

किंतु जो कारखाने पर बँधी हुई स्थायी लागत बैठती है वह ऊपर की लागत मे नहीं जोड़ी गई है। (१) टिकाऊ मकान तथा मशीन आदि का खर्च (जैसे पूँजी पर का व्याज, इंश्यों-रेंश, घिसावट, मूल्य-ह्रास आदि); (२) मैनेजर आदि

वडे अफसरो के वेतन आदि ऐसे ख़र्च है जो स्थायी रूप से होते रहते है और उत्पादित वस्तु की किसी एक ख़ास तादाद पर कुल के कुल नही वैठाए जा सकते। ये सब खर्च मिल कर पूरक लागत मे शामिल होते हैं। पूरक लागत मे वे सब साधारणत स्थिर रूप से होनेवाले खर्च शामिल रहते है जो कारख़ाने पर आमतौर पर स्थायी रूप से होते रहते है और जिन का किसी एक ख़ास माल से ही विशेप सवंध नही ठहराया जा सकता।

यदि उत्पादन कार्य थोडे समय के लिए भी वद कर दिया जाता है तो प्रमुख लागत वद हो जाती है, क्योकि उत्पादन बंद होते ही कच्चे-माल पर, ईधन तथा मजदूरो पर होनेवाले ख़र्च एक दम वंद हो जाते है, तथा मशीनो आदि के चलने से होनेवाला ह्रास, टूट-फूट भी वंद रहते है। यदि ४००० गज कपडा न वनाया जाय तो इस ४००० गज कपडे मे लगनेवाली रुई के दाम, इस कपडे को वनानेवाले मजदूरो की मज़दूरी, इस कपडे के वनाने मे लगनेवाले ईधन का व्यय आदि सभी फौरन वच जायँगे। इस प्रकार इस ४००० गज कपडे को न तैयार करने से जो ख़र्च की वचत होगी वही प्रमुख लागत मे शामिल की जायगी।

किंतु यदि काम थोडे समय के लिए बंद रहे तो भी कारखाने का स्थायी ख़र्च तो वंद न होगा, क्योंकि मशीनो और कारख़ाने मे लगी हुई पूंजी पर तो व्याज देते ही रहना पड़ेगा, मशीनो के इस्तेमाल न करने पर भी समय के कारण क्षति होगी, उस ह्रास को तो भुगतना ही पड़ेगा, चाहे कारख़ाना चले या बंद रहे। साथ ही, चूँकि ऊँचे दर्जे के वेतनभोगी अफसर आदि हमेशा जल्दी-जल्दी निकाले नहीं जा सकते, क्योकि वैसे कुशल, अनुभवी, मँजे हुए कर्तव्य-परायण व्यक्ति जल्दी मिलते नहीं, अस्तु उन के वेतन का ख़र्च चालू रहेगा। इस प्रकार पूरक लागत वरावर चालू रहती है।

कारखाने को सदा चलाते रहने के लिए जरूरी है कि उत्पन्न की हुई वस्तु की कीमत कम से कम इतनी तो जरूर हो कि उस से पूरी लागत, यानी प्रमुख लागत और पूरक लागत दोनो ही वसूल हो सके। यदि ऐसा

न होगा, कीमत पूरी लागत से कम होगी तो अंत मे कारख़ाना बंद हो जायगा, उस वस्तु का उत्पादन रुक जायगा। किंतु कुछ समय के लिए तो केवल इतनी कीमत पर भी वस्तु बेची जा सकती है जिस से केवल प्रमुख-लागत निकल आए, क्योंकि यदि प्रमुख लागत निकल आयगी, तो आगे के लाभ की आशा से कारख़ाना चलाया जा सकता है और पूरक लागत आगे की बिक्री से पूरी की जा सकती है। कब और कैसे पूरी लागत वसूल होती है, और कब और कैसे केवल प्रमुख-लागत, इस का वर्णन अगले अध्याय मे किया गया है।

अध्याय ३४

मंडी में मूल्य का निर्णय

समय और मूल्य

कोई एक वस्तु तभी तक उत्पन्न की जायगी जब तक कि मंडी मे उस की बिक्री से जो मूल्य मिले उस से लागत खर्च तो कम से कम पूरा हो जाय। किंतु एक ही वस्तु का मंडी मे हमेशा एक-सा मूल्य नही मिलता। कभी ज्यादा मिलता है, कभी कम। मंडी मे मूल्य का निर्णय, अन्य बातो के समान रहने पर, समय के अनुसार होता है। समय या काल का मूल्य के निर्णय पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। मंडी का विचार समय के अनुसार ही किया जाता है, और मूल्य का निर्णय मंडी के अनुसार होता है।

मडी के भेद

समय के अनुसार मडी के मुख्य दो भेद होते है.— (१) अल्पकालीन मंडी, और (२) दीर्घकालीन मंडी। सूक्ष्म विचार करने पर प्रत्येक के दो-दो भेद और भी माने जाते हैं, यथा (अ) अति-अल्पकालीन मंडी, (आ) अल्पकालीन मंडी (इ) दीर्घकालीन मंडी (ई) अति-दीर्घकालीन मंडी। प्रत्येक प्रकार की मंडी मे मूल्य के संबंध मे जो परिवर्तन होते है, उस पर जोप्रभाव पडते है, उन का वर्णन आगे किया जाता है।

अति-अल्पकाल

अति-अल्पकाल (जैसे एक दिन) मे मंडी का भाव अधिकतर माँग पर निर्भर रहता है। इस का कारण है। अति-अल्पकाल मे नए उत्पादन द्वारा, अथवा अन्य स्थान से स्टाक लाकर उस वस्तु का परिमाण (या संख्या) नही बढाया जा सकता। क्योकि माल लाने या बनाने के लिए समय ही नही रहता। इस कारण जो भी

परिमाण उस काल में उस वस्तु का रहता है केवल उतनी ही पूर्ति की मात्रा रहती है, और उसी की खपत या बिक्री की जा सकती है। फल यह होता है कि अधिकांश मे माँग के द्वारा ही मूल्य का निर्णय किया जाता है। यदि माँग बढ गई तो ख़रीदारों मे आपस में काफी प्रतिस्पर्धा बढ जाती है, क्योकि पूर्ति की मात्रा तो निश्चित रहती है, और उसी मे से प्रत्येक ख़रीदार अधिक से अधिक परिमाण मे लेना चाहता है। ऐसी स्थिति मे उन की आपसी चढा-ऊपरी से भाव चढ जाता है। दाम बढ जाते है।

किंतु यदि माँग कम हो जाय तो दाम गिर जायँगे। क्योंकि बेचनेवाले आपस मे प्रतिस्पर्धा करके ग्राहकों के हाथों अपना-अपना माल बेचने की धुन मे भाव गिरा देगे। ख़रीदार या तो उतने ही होगे या कम हो जायँगे। यदि उतने ही रहेगे तो प्रत्येक की ख़रीद की मात्रा अपेक्षाकृत कम हो जायगी। उन मे आपस मे प्रतियोगिता कम होगी। अस्तु भाव चढेगा नही, दाम कम हो जायँगे। इस के साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि यदि वह वस्तु दूध, हरी तरकारी आदि की तरह शीघ्र नष्ट होने वाली होगी तो बेचनेवाले उसे जल्दी से जल्दी निकालना चाहेगे। अस्तु, बेचनेवालो मे भी आपस मे प्रतियोगिता होगी। इस प्रकार अति अल्प काल मे पूरी लागत का वैसा अधिक असर न पडेगा और भाव का निर्णय माँग के अनुसार होगा। यदि बिक्री की वस्तु गेहू, चावल, कपडा आदि की तरह अधिक टिकाऊ होगी तो बेचनेवाले माँग कम होने पर पूरे परिमाण को बेचने के लिए तैयार होंगे, उस मे से कुछ ही अंश बेचेगे। पर भाव का निर्णय अधिकतर माँग के उपर ही निर्भर रहेगा, क्योंकि और नया स्टाक मंडी मे न लाया जा सकेगा। अस्तु अति अल्प काल में पूर्ति का (और उस के द्वारा उत्पादन-व्यय या पूरी लागत का) वैसा विशेष प्रभाव भाव पर न पडेगा।

अल्पकाल मे, जब कि कुछ महीनों का समय विचाराधीन रहता है,

अल्प काल

किसी वस्तु के स्टाक को अन्य स्थानो मे पूरा किया जा सकता है, तथा नई फसल या उत्पत्ति के कारण उस मे परिवर्तन किया जा सकता है। किंतु उस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए साधनों मे एकाएक ज्यादा रद्दोबदल नही हो सकता। जितना श्रम, पूँजी, प्रबंध आदि उस व्यवसाय मे पहले से लगे रहते है, उन्ही से आवश्यकतानुसार कम-ज्यादा उत्पत्ति की जाती है।

ऐसी दशा मे यदि माँग बढ जायगी, तो अन्य सभी बातो के पूर्ववत् रहने पर, भाव बढ जायगा, क्योकि यदि (१) पूर्ति पूर्ववत् ही रहने दी गई तो उतने ही परिमाण के लिए ख़रीदारों में अधिक प्रतियोगिता होगी, अस्तु दाम बढ जायँगे। (२) यदि पूर्ति बढाने की चेष्टा की जायगी तो अधिकतर पहले से उपयोग मे लगे हुए साधनों से ही काम लिया जायगा। अस्तु उन्हे अधिक उजरत देनी पडेगी। ऐसी दशा मे और अधिक उत्पन्न की जानेवाली तादाद पर लागत-ख़र्च अपेक्षाकृत प्रति इकाई अधिक पडेगा। अस्तु पूर्ति की मात्रा बढ जाने पर भी लागत-खर्च के बढ जाने से दाम ज्यादा हो जायँगे।

यदि अल्प काल मे माँग घट जाय तो अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर, दाम घट जायँगे, क्योकि यदि पूर्ति मे कमी न की गई तो खरीदारो के बीच तो उतनी ही या उस से कम प्रतियोगिता रहेगी, किंतु बेचनेवालो मे आपस मे प्रतियोगिता बढ जायगी, कारण कि उन्हे अपने कुल माल को कम ख़रीदारो मे (या ऐसे खरीदारो मे जिन मे से प्रत्येक पहले से कम तादाद मे ख़रीदना चाहता है) खपाने की लालसा रहेगी, इस कारण दाम गिर जायँगे।

दीर्घ काल

दीर्घ काल मे किसी वस्तु का मूल्य अधिकतर उस के उत्पादन-व्यय पर निर्भर रहता है। इस का कारण यह है कि यदि दीर्घकाल मे माँग घट जाय तो उस वस्तु की पूर्ति कम करदी जायगी, उस वस्तु के उत्पादन मे लगे हुए साधन धीरे-धीरे

अन्य व्यवसायों, उद्योग-धंधो मे लग जायँगे, और जितनी उस वस्तु की माँग होगी उसी के अनुसार उस की पूर्ति की जायगी। यदि माँग बढ जायगी तो उसी के अनुसार पूर्ति बढा दी जायगी, अन्य उद्योग-धंधों से निकाल कर साधन उस वस्तु के उत्पादन मे और अधिक तादाद मे लगा दिए जायँगे। अस्तु पूर्ति बढ जायगी। दोनों ही दशाओं मे वस्तु का मूल्य उत्पादन व्यय पर अधिक निर्भर होगा, क्योंकि यदि पूरा उत्पादन-व्यय (प्रमुख तथा पूरक लागत दोनों ही) उस के दामों से न निकल आए तो उस के उत्पादन में कमी पड जायगी। उत्पन्न करनेवालों को घाटा होगा, पूर्ति कम पड जायगी। खरीदारों की माँग पूर्ववत् बनी रहने के कारण उन में आपस मे प्रतियोगिता बढ़ेगी। अस्तु दाम बढ जायँगे। इस प्रकार दीर्घ काल मे माँग के अनुसार ही पूर्ति होगी, और मूल्य कम से कम इतना अवश्य होगा जिस से पूरी लागत यानी प्रमुख लागत तथा पूरक लागत दोनों ही पूरी तरह से निकल आएं।

अति दीर्घ काल

अति दीर्घ काल मे मूल्य अधिकतर केवल उस वस्तु के उत्पादन-व्यय पर ही निर्भर न रह कर उस वस्तु के उत्पादन मे काम आनेवाले साधनों के उत्पादन-व्यय पर भी निर्भर रहता है। अति दीर्घकाल में नवीन आविष्कारों, नवीन परिवर्तनों, आदि का भी उत्पादन पर प्रभाव पडता है। अस्तु साधनों के उत्पादन मे जो व्यय पडता है उसी के अनुसार साधनो को उजरत दी जाती है, और साधनों को जो उजरत दी जाती है वही किसी वस्तु के उत्पादन-व्यय मे समावेशित होती है। इस प्रकार उस वस्तु के उत्पादन मे काम आनेवाले साधनो के उत्पादन-व्यय का भी प्रभाव उस वस्तु के मूल्य पर पडता है।

पहले घडियां बहुत मँहगी बिकती थी। समय बीतने पर घडियो के उत्पादन मे जो साधन काम मे लाए जाते है उन के उत्पादन मे कम खर्च पडने लगा, अस्तु घडियों के बनाने मे जो साधन काम मे लाए जाते हैं उन्हे कम उजरत दी जाने लगी। इस प्रकार घडियों का लागत-व्यय घट

गया। अस्तु, उन का मूल्य कम हो गया, घडिया सस्ती विकने लगीं।

ऊपर के वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि मंडी में जितने ही अल्प काल के अनुसार विचार किया जायगा, मूल्य पर उतना ही अधिक प्रभाव मॉग का रहेगा, और जितने ही दीर्घ काल के अनुसार विचार होगा मूल्य पर उतना ही अधिक प्रभाव उत्पादन-व्यय का होगा। मूल्य पर उत्पत्ति के क्रमागत-ह्रास नियम, समता-नियम, और वृद्धि-नियम का वहुत अधिक प्रभाव पडता है, क्योंकि इन नियमो के अनुसार ही लागत-खर्च घटता-वढता है।

काल, मॉग, उत्पादन-व्यय

यदि वस्तु के उत्पादन मे क्रमागत-ह्रास नियम लागू होता है तो, अन्य वातो के पूर्ववत् रहने पर, जैसे-जैसे मॉग वढ़ती जायगी, वैसे ही वैसे दाम वढ़ते जायेंगे क्योंकि उत्पादन का परिमाण जैसे-जैसे अधिकाधिक वढाया जायगा वैसे ही वैसे प्रत्येक इकाई का उत्पादन-व्यय वढ जायगा। अस्तु मूल्य वढ जायगा, और यदि मॉग घट जायगी तो प्रति इकाई मूल्य कम होता जायगा, क्योंकि पहले से कम तादाद मे उत्पादन करने से लागत-खर्च कम पडेगा।

ह्रास-नियम और मूल्य

यदि उत्पादन मे क्रमागत वृद्धि नियम लागू होगा तो मॉग वढने पर मूल्य कम होता जायगा, क्योकि जैसे-जैसे अधिकाधिक परिमाण मे उत्पादन किया जायगा वैसे ही वैसे लागत-खर्च प्रति इकाई कम वैठेगा। और यदि मॉग घट जायगी तो मूल्य वढ जायगा, क्योकि उत्पादन के परिमाण मे कमी करने से प्रति इकाई लागत-खर्च अधिकाधिक वैठेगा।

वृद्धि-नियम और मूल्य

क्रमागत समता उपज नियम के लागू होने पर मॉग के घटने-वढने से मूल्य मे वैसे कोई फर्क न पडेगा, क्योंकि उत्पादन-व्यय मे वैसे कोई फर्क न आएगा, प्रति इकाई लागत-खर्च समान रहेगा।

समता-नियम और मूल्य

मंडी में आनेवाली वस्तु का पूरा परिमाण साधारण स्थिति में केवल एक ही व्यक्ति द्वारा नही उत्पन्न किया जाता। प्रत्येक वस्तु के अनेक उत्पादक होते है। किसी उत्पादक का उत्पादन-व्यय कम पडता है और किसी का अधिक। किंतु मंडी मे तो उस वस्तु की विभिन्न इकाइयों का दाम एक ही होता है। अल्प काल मे वस्तु के मूल्य का निर्णय अधिकतम उत्पादन-व्यय द्वारा किया जाता है और दीर्घ काल मे न्यूनतम उत्पादन-व्यय द्वारा। अल्प काल मे मंडी मे जो परिमाण वस्तु का मौजूद रहता है उसी के अनुसार मॉग द्वारा मूल्य का निर्णय किया जाता है। और मॉग तथा पूर्ति के मामले मे जिस उत्पादक का उत्पादन-व्यय सब से अधिक होगा, अधिकतम होगा, वही उत्पादक सीमात उत्पादक माना जायगा। अब चूँकि उसे सब से अधिक उत्पादन-व्यय देना पडता है, इस लिए यदि मंडी मे उस के माल की जरूरत है तो उसे इतना दाम तो देना ही पड़ेगा जिस से उस का उत्पादन-व्यय निकल आए और तभी ख़रीदार उस के माल को पा सकेंगे। यदि उतना दाम न लगेगा तो सीमांत उत्पादक (जिस का उत्पादन-व्यय सब से अधिक आया है) अपना माल मंडी से अलग कर लेगा, मंडी की पूर्ति मे उस के माल की गिनती न होगी। अस्तु पूर्ति कम हो जायगी। और चूॅकि मॉग मे कमी नही पडी है, इस लिए खरीदारो मे आपस मे प्रतियोगिता होगी और दाम यहां तक चढ जायॅगे कि सीमांत उत्पादक को उन दामों पर बेचने मे घाटा न होगा। और चूॅकि मंडी मे भाव एक ही रहेगा, इस लिए सीमात उत्पादक के उत्पादन-व्यय द्वारा ही भाव निश्चित किया जायगा।

अधिकतम और न्यूनतम उत्पादन-व्यय

मान लीजिए कि मंडी मे १००० मन चीनी की मॉग है। इस १००० मन में १०० मन राम नामक उत्पादक उत्पन्न कर के मंडी मे भेजता है और बाकी ९०० मन अन्य अनेक उत्पादक। राम का उत्पादन-व्यय प्रति मन ८) मन के हिसाब से पडता है, और अन्य उत्पादकों में से किसी का

५) मन, किसी का ७) मन । राम का उत्पादन-व्यय सब से अधिक पड़ता है । अस्तु यही अधिकतम उत्पादन-व्यय है । वह सीमांत उत्पादक है । यदि मंडी में ७) मन का भाव हो तो राम अपना माल न बेच सकेगा, क्योंकि उसे घाटा होगा । अस्तु माँग के हिसाब से मंडी में १०० की कमी पड़ जायगी । ख़रीदारों को चूँकि पूरा परिमाण नहीं मिला, इस कारण उन मे आपस मे प्रतियोगिता होगी और भाव बढ़ कर ८) मन तक हो जायगा । इस भाव पर राम का भी माल खप सकेगा । इस प्रकार अधिकतम उत्पादन-व्यय द्वारा मूल्य तय होगा ।

किंतु दीर्घ काल में न्यूनतम उत्पादन-व्यय द्वारा मूल्य निर्धारित होता है । दीर्घ काल मे प्रत्येक उत्पादक नवीन आविष्कारो, नवीन उपायो, सस्ते किंतु अधिक मात्रा मे उत्पन्न करनेवाले साधनो को काम मे लाने की चेष्टा करके उत्पादन-व्यय को कम से कम करने का प्रयत्न करता है । प्रत्येक उत्पादक ऐसी मशीने काम मे लाएगा जो अधिक से अधिक माल कम से कम लागत-ख़र्च पर तैयार कर सके । आपस मे प्रतियोगिता होगी । जो अपना उत्पादन-व्यय घटा न सकेंगे वे उत्पादक मंडी से, उत्पादन-क्षेत्र से मजबूरन निकल जायँगे, क्योंकि वे अपने माल को मंडी में उचित मूल्य पर बेच न सकेंगे, और जो न्यूनतम व्यय मे उत्पादन कर सकेंगे वे माँग के अनुसार पूरी पूर्ति कर देंगे । जो सस्ते दामो पर बेचेंगे मंडी उन्हीं के हाथो मे रहेगी । इस प्रकार दीर्घ काल मे न्यूनतम उत्पादन-व्यय द्वारा मूल्य का निर्णय किया जायगा ।

मान लीजिए मंडी मे एक ही तरह की १००० मोटरों की माँग है । उत्पादक उत्पत्ति के साधनो को बदल सकता है, नए कारख़ानो को स्थापित कर सकता है पुराने कारख़ानो मे जरूरी रद्दोबदल, उचित सुधार कर सकता है । ऐसी दशा मे जो उत्पादक कम से कम लागत-खर्च पर मोटर तैयार कर सकेगा, उसी के हाथों मे मंडी चली जायगी । जिन का लागत-ख़र्च ज्यादा पड़ेगा वे काम को छोड़ देंगे । क्योंकि मंडी के भाव पर बेचने मे उन्हें घाटा

लगेगा। राम की लागत ५००) फ़ी मोटर पड़ती है, श्याम की ६००), मोहन की ८००)। अब चूँकि राम सब से कम मे बेच सकता है, इस कारण श्याम और मोहन मंडी मे ठहर न सकेंगे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि राम जितनी इकाइयां मोटर की अधिक बनायगा, लागत खर्च प्रति इकाई उतना ही कम बैठेगा, क्योंकि फ़ी मोटर पूरक लागत उतनी ही कम पडेगी। अस्तु वह मंडी की कुल मॉग पूरी कर देगा। अस्तु दूसरो को प्रतियोगिता मे हार कर मंडी से भाग जाना पड़ेगा।

स्वाभाविक मूल्य, क़ीमत

प्रत्येक वस्तु के स्वाभाविक मूल्य का विचार एक विशेष काल के अनुसार किया जाता है। एक विशेष काल मे अन्य सभी वस्तुओं के पूर्ववत् रहने पर, प्रत्येक वस्तु का एक विशेष स्वाभाविक मूल्य रहता है। समय और अन्य बातों के बदलने पर स्वाभाविक मूल्य बदल जाता है। इस प्रकार स्वाभाविक मूल्य सदा परिवर्तनशील है, स्थिर नही है।

किसी वस्तु का स्वाभाविक मूल्य जब द्रव्य के द्वारा (रुपयों-पैसों में) व्यक्त किया जाता है तो उसी को उस वस्तु की स्वाभाविक कीमत कहते है।

व्यवसाय के भेद

कारख़ानों की दृष्टि से व्यवसायों के दो विभेद होते है। एक तो एक कारखानेवाला व्यवसाय और दूसरा अनेक कारख़ानों वाला व्यवसाय। एक कारख़ानेवाले व्यवसाय मे कुल माल केवल एक ही कारख़ाने द्वारा उत्पन्न किया जाता है। अनेक कारखानों वाले व्यवसाय का कुल माल केवल एक ही कारखाने द्वारा तैयार नही होता, वरन् अनेक कारखाने अलग-अलग उत्पादन करके उस व्यवसाय का कुल माल तैयार करते है। मंडी मे एक लाख मोटर तैयार होकर आते हैं। यदि व्यवसाय एक कारखानेवाला व्यवसाय होगा तो एक ही कारख़ाने से एक लाख मोटर तैयार होंगे। यदि व्यवसाय अनेक कारखानों वाला व्यवसाय होगा तो दस हजार मोटर एक कारखाने मे तैयार होगे, २०००० दूसरे मे, ५०००० तीसरे मे, और बाकी २०००० चौथे कारख़ाने मे तैयार

होंगे। इस प्रकार कुल माल अनेक कारख़ानों द्वारा तैयार किया जाता है, न कि एक ही कारख़ाने से।

एक कारखानेवाले व्यवसाय में मूल्य

जब व्यवसाय एक कारख़ानेवाला व्यवसाय होगा तो मूल्य औसत लागत-व्यय द्वारा निश्चित किया जायगा। इस का कारण है। एक कारख़ाने में जो भी विभिन्न इकाइयां तैयार की जाती है एक हद के बाद उन के उत्पादन व्यय में क्रमागत उत्पत्ति नियमों के कारण विभिन्नता उपस्थित हो जाती है।

यदि उत्पादन में क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है तो जैसे-जैसे उत्पादन-व्यय की अधिकाधिक इकाइयां लगाई जायेंगी वैसे ही वैसे उत्तरोत्तर कम व्यय पड़ेगा। इस कारण वस्तु की पहले तैयार होनेवाली कुछ इकाइयों पर अधिक ख़र्च पड़ेगा और बादवाली इकाइयों पर क्रमशः कम। यदि उस कारख़ाने में १२००० छड़ियां उत्पन्न की जाती है तो पहली १००० छड़ियों पर अधिक व्यय पड़ेगा, दूसरी ४००० छड़ियों पर पहले से कुछ कम, और तीसरी ४००० छड़ियों पर दूसरी बार से भी कम। मान लो कि पहली बार प्रति इकाई १२ आना ख़र्च पड़ा, दूसरी बार १० आना प्रति इकाई के हिसाब से और तीसरी बार ८ आना प्रति इकाई की दर से। किंतु चूँकि सभी इकाइयां आकार-प्रकार, गुण-रूप आदि में समान ही है, इस कारण मंडी में तो प्रत्येक इकाई का मूल्य समान ही रहेगा, और उत्पादक को अपने पूरे उत्पादन व्यय को खड़ा करना है। यदि वह ८ आना प्रति छड़ी बेचता है तो उस की पहलेवाली छड़ियों का लागत-खर्च नहीं निकलता, और यदि १२ आना फी इकाई की दर से बेचता है तो दाम अधिक पड़ते है। बाज़ार में असंतोष फैलने की आशंका रहती है। इस कारण वह तीनों प्रकार के उत्पादन-व्ययों की औसत लेकर मूल्य निर्धारित करेगा। १२ + १० + ८ = ३० – ३ औसत निकाल कर मूल्य निर्धारित करेगा। इस से उस की प्रत्येक इकाई का लागत-ख़र्च निकल आएगा और उसे बाज़ार के असंतोष की भी आशंका न रहेगी।

यदि उस उत्पादन-कार्य में क्रमागत-ह्रास नियम लागू होता है तो जैसे-जैसे उत्पत्ति की मात्रा बढ़ेगी वैसे ही वैसे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय भी बढेगा। मान लो कि पहले ४००० इकाइयों पर उसे ८ आना प्रति इकाई के हिसाब से व्यय पडता है। दूसरी बार की ५००० इकाइयों पर १० आना फी इकाई की दर से और अंत मे १२ आना फी इकाई के हिसाब से। ऐसी हालत मे भी उसे अपने कुल उत्पादन-व्यय को निकालने के लिए औसत निकाल कर प्रति इकाई का मूल्य निर्धारित करना पड़ेगा। इस बार भी प्रति छुरी दस आना औसत मूल्य बैठेगा।

यदि उत्पादन मे क्रमागत-समता नियम लागू होगा तब चाहे कुल व्यय की औसत के द्वारा मूल्य तय कर दिया जायगा अथवा सीमांत उत्पादन-व्यय द्वारा, बात एक ही होगी, कारण कि प्रति इकाई बराबर उत्पादन-व्यय पडते जाने से सीमांत उत्पादन-व्यय और कुल व्यय की औसत एक ही निकलेगी। और चूंकि कारखानों मे प्राय: या तो क्रमागत-वृद्धि नियम लागू होता है अथवा क्रमागत-ह्रास नियम, इस कारण एक कारखानेवाले व्यवसाय मे मूल्य का निर्णय औसत उत्पादन व्यय द्वारा किया जायगा।

अनेक कारखानों-वाले व्यवसाय मे मूल्य

किंतु अनेक कारखानेवाले व्यवसाय में मूल्य सीमांत उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित किया जाता है। अनेक कारखानोंवाले व्यवसाय में सीमांत उत्पादक द्वारा मूल्य का निर्धारण किया जायगा। क्योंकि यदि मूल्य सीमांत उत्पादक के मूल्य से कम होगा तो उसे (सीमांत उत्पादक को) मंडी से निकल जाना पड़ेगा, कारण कि उस का कुल लागत खर्च न निकलेगा, उसे हानि उठानी पडेगी। उस ने जितनी तादाद उत्पन्न की थी, उस के मंडी से निकल जाने से पूर्ति में उतने की कमी पड़ जायगी। इस कारण, और सब बातों के पूर्ववत रहने पर, मांग में कोई फर्क न पड़ने से, पूर्ति की मात्रा में कमी पड़ते ही खरीदारों मे होड़ होगी। भाव चढ़ जायगा। इतना चढ़ जायगा कि जो सीमांत उत्पादक मंडी से हट गया था,

उस मूल्य पर बेचने मे उस का लागत-खर्च निकल आएगा। इस कारण वह फिर मंडी मे आ जायगा।

मान लो कि मंडी मे १२००० इकाइयों की मॉग है, और क, ख, ग, घ नामक अनेक कारख़ानों द्वारा उन का उत्पादन किया गया है। क ५००० इकाइयां बनाता है और उस का उत्पादन-व्यय ८ आना फी इकाई पडता है। ख ४००० इकाइया बनाता है और उस का उत्पादन-व्यय १० आना पडता है। ग २००० इकाइया बनाता है और उस का उत्पादन-व्यय १२ आना फी इकाई पडता है। घ १००० इकाइयां बनाता है और उस का उत्पादन-व्यय प्रति इकाई १४ आना होता है। घ सीमांत उत्पादक है और मंडी मे १४ आना सीमात उत्पादन-व्यय होता है। यदि मॉग १२००० इकाइयो की है तो मूल्य १४ आना होगा। यानी सीमात उत्पादन-व्यय द्वारा मूल्य तय किया जायगा। यदि मूल्य १२ आना हो जाय तो घ अपना माल न बेच सकेगा, क्योंकि उसे पडता न पडेगा। इस कारण वह मडी से अपनी १००० इकाइयो को लेकर हट जायगा। मंडी मे, मॉग के हिसाब से १००० इकाइयों की कमी पड जायगी। ख़रीदारों को तो १२००० इकाइया चाहिए, और उन्हें मिल रही हैं केवल ११००० ही। इस कारण ख़रीदारो मे प्रतियोगिता होगी, भाव चढेगा और चढ कर जब तक १४ आना तक न आएगा तब तक पूर्ति की मात्रा न बढ़ेगी। जब भाव १४ आना तक आ जायगा तब घ अपनी १००० इकाइयों को लेकर मंडी मे आ जायगा। क्योंकि इस भाव पर उस का उत्पादन-व्यय निकल आता है मॉग और पूर्ति के परिमाण बराबर हो जायँगे। (उस समय के लिए) मूल्य स्थिर हो जायगा इस प्रकार अनेक कारखानोवाले व्यवसाय मे मूल्य सीमात उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होगा।

यहा यह बात ध्यान देने की है कि अनेक कारखानोंवाले व्यवसाय मे भी प्रत्येक कारखाने का उत्पादन-व्यय कुल इकाइयो के उत्पादन-व्यय की औसत के द्वारा ही निश्चित किया जायगा, जैसा कि ऊपर एक कारखाने

वाले व्यवसाय के संबंध में दिखलाया जा चुका है। घ कारख़ाने का उत्पादन-व्यय जो १४ आना माना गया है वह भी १००० इकाइयों के विभिन्न उत्पादन-व्ययों की औसत निकाल कर ही माना जायगा, क्योंकि घ कारख़ाने में उत्पन्न होनेवाली इकाइयों पर क्रम से जो भी कमोवेश व्यय पड़ा है, बिक्री द्वारा एक भाव पर बिकने पर सभी इकाइयों से कुल उत्पादन-व्यय तो निकल ही आना चाहिए। सब से अधिक होने के कारण घ कारख़ाने का उत्पादन-व्यय सब कारख़ानों को दृष्टि में रखते हुए सीमांत उत्पादन-व्यय माना जायगा और घ कारख़ाना सीमांत कारख़ाना या सीमांत-उत्पादक ठहरेगा। और घ के उत्पादन-व्यय द्वारा ही मूल्य निर्धारित होगा।

फुटकर और थोक भाव

मंडी या बाज़ार में दो तरह से ख़रीद-फरोख़्त होती है, फुटकर और थोक। और इसी कारण भाव भी दो तरह के होते हैं, फुटकर भाव और थोक भाव। जब कोई वस्तु एक बार में एक साथ अधिक परिमाण में ख़रीदी-बेची जाती है तब उस ख़रीद-बिक्री को थोक ख़रीद-बिक्री कहते हैं। जब कोई वस्तु थोड़े-थोड़े परिमाण में ख़रीदी-बेची जाती है, तब उसे फुटकर बिक्री कहते है। थोक और फुटकर दर में फर्क रहता है। थोक में, फुटकर की बनिस्बत प्रायः कुछ कम दाम देने पड़ते हैं। फुटकर बिक्री में, थोक की अपेक्षा, अधिक व्यक्तियों से संबंध रहता है। थोक भाव के सस्ते होने पर भी फौरन ही फुटकर भाव में कमी नहीं पड़ती। दूकानदार प्रायः वही पुराने दाम लगाते हैं। बाद में धीरे-धीरे फुटकर दामों में फर्क पड़ता है। इस के विपरीत थोक दामों में जल्दी ही फर्क पड़ जाता है। एक बात और है। फुटकर भाव पर थोक भाव का प्रभाव तो पड़ता है, पर केवल थोक भाव फुटकर भाव का मूल कारण नहीं माना जा सकता। माँग और पूर्ति के ऊपर ही थोक और फुटकर दोनों तरह के भाव निर्भर रहते हैं।

अभी तक किसी एक वस्तु के मूल्य के संबंध में जो विचार किया गया है वह केवल उसी एक वस्तु को ध्यान में रख कर। किंतु मनुष्य के प्रति-

दिन के जीवन मे भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य का विचार अन्य अनेक वस्तुओं को ध्यान मे रख कर किया जाता है, क्योंकि अनेक वस्तुएं एक-दूसरी के साथ उपयोग मे लाई जाती है। अस्तु भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्यों का आपस मे बहुत गहरा संबंध रहता है।

संयुक्त माँग

मनुष्य के प्रति-दिन के जीवन में अनेक वस्तुएं साथ-साथ एक-दूसरे के कारण, उपयोग मे आती हैं, उन की संयुक्त माँग होती है, जैसे दाल चावल, घी, मसाले, लकड़ी, तरकारी, नमक आदि या पान, चूना, कत्था, सुपारी आदि की संयुक्त-माँग। केवल दाल मे काम नहीं चलता। उस के साथ नमक, मसाले, लकड़ी आदि जरूरी है। यदि दाल की माँग बढ जाय तो उस के साथ ही साथ, लकड़ी, नमक, मसाले आदि की माँग भी बढ जायगी, और दाल की माँग के घटने से इन अन्य साथ मे उपयोग मे आनेवाली वस्तुओं की माँग भी घट जायगी। भूमि, श्रम, पूँजी आदि उत्पत्ति के साधन भी साथ ही साथ उपयोग में आते हैं। इन की माँग साथ-साथ होती और घटती-बढ़ती है।

संयुक्त पूर्ति

इसी प्रकार कुछ वस्तुएं ऐसी है जिन की पूर्ति साथ-साथ होती है। रुई और बिनौले, गेहू और भूसा, तेल और खली, ऊन और गोश्त, सींग और चमड़ा आदि ऐसी ही वस्तुएं हैं। जब दो या अधिक वस्तुएं उत्पादन की एक ही क्रिया द्वारा इस प्रकार एक साथ प्राप्त होती है कि एक वस्तु के उत्पादन के साथ ही दूसरी वस्तु ज़रूर ही उत्पन्न होगी, उस का उत्पन्न होना रोका नहीं जा सकता, तब ये वस्तुएं संयुक्त उपज कहलाती है और ऐसी वस्तुओं की पूर्ति संयुक्त पूर्ति मानी जाती हैं। इन मे से जो वस्तु अधिक महत्व की होती है उसे मुख्य उपज और जो कम महत्व की होती है उसे गौण उपज कहते है।

संयुक्त उपज का मूल्य

संयुक्त उपज का मूल्य (१) संयुक्त उत्पादन-व्यय तथा (२) उन उपजो की विभिन्न माँगो के द्वारा निश्चित किया जाता है। क्रम इस प्रकार है। संयुक्त उपज मे यदि

दो वस्तुएं है तो दोनों के विभिन्न मूल्य मिल कर इतने ज़रूर हों कि दोनों के जोड से उत्पादन-व्यय पूरा-पूरा निकल आए। मान लो कि एक खेत की उपज से ५ मन रुई और ४ मन बिनौले प्राप्त हुए, और दोनों के उत्पादन मे ५०) व्यय हुए। तो ५ मन रुई और ४ मन बिनौले अलग-अलग इस भाव से बिकने चाहिए जिस से दोनों के मूल्य को जोडने पर कम से कम ५०) आ जायँ। यदि ८) मन के हिसाब से रुई बिकती है तो कुल रुई की बिक्री से ४०) प्राप्त होते है। अस्तु ४ मन बिनौले कम से कम १०) में बिकने चाहिए, यानी बिनौले का भाव कम से कम २॥ रुपए मन होना चाहिए।

मॉग के नियम के अनुसार संयुक्त उपज की विभिन्न वस्तुओं की माँग विभिन्न वस्तुओं की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न होगी। रुई की आवश्यकता के अनुसार रुई की मॉग एक विशेष प्रकार की होगी और बिनौले की मॉग अन्य प्रकार की। किंतु दोनों की माँगों का प्रभाव एक-दूसरे पर पड़ेगा, और दोनों के मूल्य का निर्णय एक दूसरे की मॉग और पूर्ति तथा एक दूसरे के मूल्य के द्वारा होगा। यदि रुई की मॉग घट जाय और इस कारण उस के दाम घट जायँ तो यह जरूरी हो जायगा कि या तो बिनौले के दाम बढे या दोनों की उपज कम कर दी जाय ताकि भाव ऐसे ढर्रे पर आ जायँ कि अंत मे दोनो की बिक्री से कुल उत्पादन-व्यय निकल आए।

संयुक्त मॉग और संयुक्त पूर्ति का महत्व दिन पर दिन बढता चला जा रहा है, क्योंकि वर्तमान समाज मे जो उत्पादन-कार्य प्रचलित है, उस से संयुक्त उपज अधिकाधिक संख्या मे प्राप्त होती रहती है।

सम्मिलित मॉग

एक ही वस्तु के बहुत से भिन्न-भिन्न उपयोग होते है। प्रत्येक उपयोग के निमित्त वह वस्तु भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधों में खपती है। साथ ही अनेक व्यक्ति एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न परिमाणों मे चाहते है। अस्तु किसी एक वस्तु को विभिन्न व्यवसाय वाले, अथवा एक मंडी के विभिन्न व्यक्ति जितने विभिन्न परिमाणों में चाहते

हैं, उन सब की विभिन्न मॉगो के योग से ही उस वस्तु की जो कुल मॉग होती है उसी को सम्मिलित मॉग कहते है। जैसे, जौ को कुछ व्यवसाय वाले आटा बनाने के लिए चाहते है, कुछ शराब के लिए, कुछ दवा के लिए, कुछ मवेशियो को खिलाने के लिए। इन सब की मॉग के योग को सम्मिलित-मॉग कहते हैं।

सम्मिलित पूर्ति

इसी प्रकार किसी एक वस्तु को अलग-अलग अनेक उत्पादक उत्पन्न करते है। अस्तु उन सब की उपजो के योग के द्वारा सम्मिलित पूर्ति प्राप्त होती है। दूसरे, एक ही वस्तु अनेक उद्गमो अथवा मूल कारणों से उत्पन्न होती है, जैसे विजली, गैस, मिट्टी के तेल, तिलहन के तेल, सरकंडे आदि अनेक भिन्न-भिन्न वस्तुओं से रोशनी प्राप्त की जा सकती है। अस्तु भिन्न-भिन्न मूल-कारणो से उत्पन्न होनेवाली एक ही वस्तु की सम्मिलित पूर्ति उन सब विभिन्न कारणो से प्राप्त होनेवाली वस्तु के योग से निश्चित की जायगी।

विभिन्न कारणों से प्राप्त होनेवाली वस्तु की पूर्तियां आपस मे प्रतियोगिता करती है, और प्रतिस्थापन सिद्धांत के अनुसार जिस मूल कारण की वस्तु अधिक सस्ती और उपयोगी सिद्ध होगी वही अधिक उपयोग मे आने लगेगी। जैसे बिजली की रोशनी अन्य उपायो से प्राप्त होने वाली रोशनियो से अधिक सस्ती, और अधिक अच्छी तथा सुविधाजनक होने के कारण अन्य सभी प्रकार की रोशनियो से अधिक परिमाण मे काम मे आने लगी है। पर जब कुल रोशनी का विचार किया जायगा तब सभी प्रकार की रोशनियो के योग से कुल रोशनी का परिमाण प्राप्त होगा। और इस प्रकार रोशनी की कुल पूर्ति सम्मिलित पूर्ति होगी। प्रत्येक प्रकार की रोशनी के मूल्य का निर्णय उस खास रोशनी के उत्पादन-व्यय तथा सब तरह की रोशनियो की सम्मिलित मॉग के साम्य द्वारा निश्चित किया जायगा।

अध्याय ३५

एकाधिकार और मूल्य

अभी तक प्रतियोगिता-पूर्ण, स्वतंत्र क्रय-विक्रय की स्थिति को दृष्टि मे रख कर ही मूल्य के संबंध मे विचार किया गया है। एकाधिकार में मूल्य का निर्णय कुछ भिन्न रीति से किया जाता है। एकाधिकार मे प्रतियोगिता तथा स्वतंत्र बिक्री को कोई स्थान नहीं रह जाता। इस कारण मूल्य का निर्णय एकाधिकारी द्वारा वास्तविक लाभ या वास्तविक आय को सामने रख कर किया जाता है।

व्यापार का उद्देश्य आय

प्रत्येक व्यापार-व्यवसाय मे व्यापारी-व्यवसायी का प्रमुख उद्देश्य होता है अधिक से अधिक लाभ उठाना। व्यापारी-व्यवसायी वही काम करेगा और उसी रीति-नीति से चलेगा जिस से उसे सब से अधिक वास्तविक आय होगी। अधिक से अधिक वास्तविक लाभ ही सर्वोपरि लक्ष्य रहता है। प्रतियोगितापूर्ण स्थिति तथा एकाधिकार प्रणाली दोनों मे ही यह सिद्धांत समान रूप से लागू होता है। एकाधिकारी का भी प्रधान उद्देश्य अधिक से अधिक वास्तविक लाभ होता है। किंतु एकाधिकार प्रणाली में अधिक से अधिक वास्तविक लाभ को प्राप्त करने के लिए कुछ भिन्न रीतियो से काम लिया जाता है, और प्रतियोगितापूर्ण स्वतंत्र क्रय-विक्रय प्रणाली मे उस से भिन्न रीतियो से।

प्रतियोगितापूर्ण प्रणाली मे मूल्य

प्रतियोगितापूर्ण स्वतंत्र क्रय-विक्रय प्रणाली मे पुनरुत्पादनीय वस्तुओं का मूल्य अधिकांश मे उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। इस का कारण है। यदि कोई उत्पादक किसी वस्तु का मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक लेने

लगेगा तो अन्य प्रतियोगियो के कारण वह मंडी में ठहर न सकेगा, क्योंकि अन्य उत्पादक उस से कम मूल्य पर उसी वस्तु को बेचेंगे, इस से ग्राहक उस उत्पादक से उस वस्तु को न खरीदेंगे जो अधिक मूल्य लेगा। इस प्रकार अंत में उस वस्तु का मूल्य उत्पादन-व्यय के द्वारा निर्धारित होगा।

एकाधिकार प्रणाली में मूल्य

किंतु एकाधिकार में स्थिति कुछ भिन्न रहती है। एकाधिकारी के हाथों में पूर्ति का नियंत्रण रहता है। वह यह निश्चित करता है कि मंडी मे विक्री के लिए कितने परिमाण में वस्तु रक्खी जाय। विक्री की वस्तु के परिमाण का नियंत्रण करके वह मूल्य का नियंत्रण करता है। उसे प्रतियोगिता का तो भय रहता नहीं। इस कारण वह अपनी इच्छा के अनुसार मूल्य निर्धारित करता है। उस का मुख्य उद्देश्य होता है अधिक से अधिक वास्तविक आय प्राप्त करना। विक्री की वस्तु के परिमाण का नियन्त्रण करके वह ऐसा मूल्य निर्धारित करता है जिस से उसे अधिक से अधिक वास्तविक आय हो।

परिस्थिति के अनुसार निर्णय

एकाधिकारी परिस्थिति के अनुसार कभी कम मूल्य निर्धारित करने के साथ ही अधिक परिमाण में उत्पादन और विक्री करके अधिक से अधिक वास्तविक आय प्राप्त करता है और कभी ऊँचे दाम रख कर उसी के साथ कम परिमाण मे उत्पादन और विक्री करके सब से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करता है। यह रेडियो के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा एकाधिकारी रेडियो के सेट के संबंध मे यह तय कर सकता है कि उसे एक लाख रुपए का वास्तविक लाभ हो। अब वह परिस्थिति को देख पर यह तय करेगा कि उसे कम कीमत रखने मे अधिक सुभीता होता है या ज्यादा कीमत रखने मे। यदि उसे जनता मे अधिक सेट बेचने से सुभीता देख पड़ेगा तो वह प्रति सेट १० रुपया मुनाफा लेकर १०००० सेट बना कर बेचने का आयोजन करेगा। यह भी हो सकता है कि उसे इस बात में सुभीता देख पड़े कि सेटो की संख्या केवल १००० रक्खे और प्रति सेट सौ रुपया मुनाफा लेकर

एक लाख रुपया पूरा करले। वह कब किस नीति का अवलंबन करेगा यह अन्य अनेक सिद्धांतों तथा परिस्थिति के द्वारा निश्चित् किया जाता है।

मूल्य की कमी-वेशी

माँग की लोच के सिद्धात के अनुसार अन्य सभी बातो के पूर्ववत् रहने पर कीमत जितनी ही अधिक होगी, माँग उतनी ही कम होगी, और विक्री उतनी ही कम होगी तथा कीमत जितनी ही कम होगी, माँग उतनी ही अधिक होगी और विक्री उतनी ही अधिक होगी। एकाधिकारी के सामने अधिक से अधिक वास्तविक आय का प्रश्न रहता है। जब वह देखेगा कि उस की वस्तु के ख़रीदार अमीर लोग है, तब आम तौर पर, वह दाम ऊँचे कर देगा, और प्रति इकाई अधिक नफा लेकर कम परिमाण मे वस्तु की विक्री करके भी अधिक से अधिक आय प्राप्त कर लेगा। ऊपर के उदाहरण मे वह प्रति रेडियो सेट पर सौ रुपए का मुनाफा बैठा कर केवल एक हज़ार सेट बेच कर भी एक लाख की वास्तविक आय कर लेगा। कारण कि प्रति इकाई मुनाफा बहुत अधिक रक्खा गया है, इस से कम संख्या मे विक्री होने पर भी मुनाफा अधिक से अधिक हो जायगा। किंतु यदि ख़रीदार अधिक धनी न हुए और इस कारण ऊँचे दामों पर उस वस्तु की इतनी इकाइयो के विकने की संभावना न देख पड़ी कि कुल मिला कर अधिक से अधिक लाभ हो तो वह प्रति इकाई पर कम मुनाफा बैठाएगा और इस प्रकार अधिक संख्या या परिमाण मे वस्तु को बेच कर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करेगा। यदि रेडियो सेट ऊँची दर पर इतनी संख्या में न बिक सके कि उसे कुल विक्री से एक लाख की वास्तविक आय हो सके, तो वह उन के दाम इस प्रकार कर देगा कि प्रति इकाई से कम मुनाफा मिलने पर भी कुल विक्री इतनी अधिक हो जाय कि उसे कुल मिला कर अधिक से अधिक लाभ रहे। इस कारण वह प्रति रेडियो सेट पर केवल १० रुपया मुनाफा बैठाएगा, और इस प्रकार कम कीमत करके १०००० रेडियो सेट बेच कर कुल विक्री अधिक परिमाण में करके एक लाख (१०००० × १० = १०००००) की

वास्तविक आय कर लेगा। यहां प्रति इकाई मुनाफा कम मिलता है, किंतु विक्री इतनी अधिक होती है कि कुल मिला कर लाभ अधिक से अधिक हो जाता है। अस्तु, जब कम धनी या गरीब ग्राहको का प्रश्न होगा तब एकाधिकारी कम दाम कर अधिक से अधिक विक्री की चेष्टा करेगा। हर हालत में उस की दृष्टि अधिक से अधिक वास्तविक लाभ पर रहेगी। चाहे वह अधिक दर और कम परिमाण मे विक्री से हो, या कम कीमत किंतु अधिक परिमाण मे विक्री के कारण हो।

मॉग की लोच और एकाधिकार मूल्य

एकाधिकारी पूर्ति को नियंत्रित करता है। मॉग पर उस का सीधा नियन्त्रण नहीं रहता। जब एक बार पूर्ति की मात्रा का निश्चय एकाधिकारी कर लेता है और उसी के अनुसार उत्पादन करके वस्तु का निश्चित परिमाण मंडी मे विक्री के लिए रख देता है, तब मूल्य का निर्णय मॉग के द्वारा ही होता है। क्योंकि उस वस्तु का एक खास परिमाण विक्री के लिए रहता है। उस के लिए यदि मॉग अधिक होगी तो दाम चढ जायंगे और माँग कम होगी तो दाम घट जायेंगे। इस प्रकार माँग की लोच के ऊपर मूल्य निर्भर रहेगा।

लागत-खर्च और एकाधिकार मूल्य

प्रतियोगितापूर्ण, स्वतंत्र क्रय-विक्रय की स्थिति और एकाधिकार की स्थिति दोनो मे ही मूल्य पर उत्पादन-व्यय का प्रभाव पडता है, किंतु भिन्न-भिन्न रूप से। प्रतियोगितापूर्ण स्थिति मे दीर्घ काल मे मूल्य उत्पादन-व्यय के बराबर ही आ जाता है, क्योंकि यदि कोई उत्पादक उत्पादन-व्यय से अधिक मूल्य रक्खेगा तो अन्य प्रतियोगी उस से कम मूल्य मे उसी वस्तु को देकर या तो उसे मंडी से निकाल देंगे या उसे मूल्य मे कमी करके उत्पादन-व्यय के बराबर लाने के लिए बाध्य करेंगे। एकाधिकार प्रणाली मे प्रति-योगिता का ऐसा भय नहीं रहता। इस कारण किसी प्रतियोगी के भय से मूल्य मे कमी करने का सवाल ही नहीं उठता। तो भी लागत-खर्च

का प्रभाव पड़ता ही है।

व्यापार-व्यवसाय लाभ के लिए ही किया जाता है। एकाधिकारी लागत-खर्च से कम मूल्य तो रक्खेगा ही नही, क्योंकि लागत-खर्च से कम मूल्य रखने से उसे हानि होगी। वह लागत-खर्च से मूल्य हमेशा कुछ ज्यादा ही रक्खेगा। कितना ज़्यादा रक्खेगा यह परिस्थिति पर निर्भर है। इस प्रकार लागत-खर्च का प्रभाव एकाधिकार-मूल्य पर भी पड़ेगा। किंतु कम से कम मूल्य की सीमा निर्धारित करने में ही लागत-खर्च का प्रभाव एकाधिकार-मूल्य पर विशेष रूप से पड़ता है। अर्थात् एकाधिकार-मूल्य कम से कम उतना तो ज़रूर ही होगा जितने से लागत-खर्च निकल आए। साधारणतः मूल्य लागत-खर्च से कम न होगा।

क्रमागत-नियम और एकाधिकार मूल्य

लागत-खर्च के विचार के साथ ही इस बात का भी विचार करना होगा कि उत्पादन पर क्रमागत-वृद्धि नियम लागू होता है या क्रमागत-ह्रास नियम। यदि उत्पादन में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होगा, तो उत्पादक जितनी ही अधिक इकाइयां उस वस्तु की उत्पन्न करेगा, उतना लागत-खर्च प्रति इकाई के हिसाब मे बढ़ता चला जायगा। अस्तु, उत्पादक कम परिमाण मे उत्पन्न करेगा और उत्पादन-व्यय से कहीं अधिक मूल्य रक्खेगा। यदि उत्पादन मे क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होगा, तो उस वस्तु की जितनी ही अधिकाधिक इकाइयां उत्पन्न की जायेंगी, उत्पादन-व्यय प्रति इकाई के हिसाब से उतना ही कम होता जायगा। ऐसी स्थिति मे उत्पादक अधिक मात्रा मे उत्पत्ति करेगा, और मूल्य कम रक्खेगा, यानी ऐसा मूल्य निर्धारित करेगा जो उत्पादन-व्यय से कुछ ही अधिक हो।

यदि किसी वस्तु की माँग कम लोचदार या लोच-रहित हो और साथ ही उस वस्तु के उत्पादन में क्रमागत-ह्रास नियम लागू हो तो एकाधिकारी उस वस्तु का उत्पादन कम परिमाण में करेगा और मूल्य अधिक रक्खेगा; क्योंकि खरीदार मजबूरन उस वस्तु को खरीदेगा ही, और इन्ही

कारण एकाधिकारी को थोडे परिमाण मे विक्री करने पर भी अधिक से अधिक लाभ होगा, कारण कि प्रति इकाई लाभ अधिक रक्खा गया है। इस लिए कम इकाइयों के विकने पर भी कुल मिला कर लाभ अधिक होगा।

यदि मॉग अधिक लोचदार हुई और साथ ही उस वस्तु के उत्पादन मे क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू हुआ, तो एकाधिकारी उत्पादक अधिक परिमाण मे उत्पादन करेगा, क्योकि ऐसा करने में प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम पडेगा, और कम मूल्य पर (उत्पादन-व्यय से कुछ ही अधिक मूल्य पर) वेचेगा। इस का कारण है। उसे प्रति इकाई कम मुनाफा मिलने पर भी कुल मिला कर अधिक से अधिक लाभ होगा, क्योकि सस्ती होने से उस वस्तु की अधिक इकाइयां विकेगी।

एकाधिकार मूल्य और विरोधी कारण

यदि एकाधिकारी के ऊपर ही सब बाते निर्भर रह सके, उस का अधिकार पूर्ण हो, तो अधिकतर वह कम परिमाण मे वस्तु की बिक्री करके और मूल्य ऊंचे से ऊंचा रख कर प्रति इकाई अधिक मुनाफ़ा बैठा कर, अधिक से अधिक वास्तविक आय प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। इसी मे उसे सुभीता देख पडेगा। किंतु पूर्ण-एकाधिकार प्राय. संभव नही होता। प्रति इकाई अधिक से अधिक मुनाफ़ा बैठाए जाने की एक हद होती है। उस के बाद उसे विरोधी कारणों का सामना करना पडता है। यदि वह अपनी वस्तु के दाम बहुत अधिक बढा दे तो (१) या तो उस वस्तु के स्थान पर उपयोग मे आनेवाले अन्य पदार्थों को उपभोक्ता काम मे लाने लगेगे, और इस प्रकार उस वस्तु की मॉग कम हो जायगी, या (२) अन्य प्रतिद्वंद्वी किसी न किसी तरह प्रतियोगिता करने लगेगे, क्योंकि उस वस्तु से अत्यधिक लाभ के कारण अन्य लोग उस वस्तु के उत्पादन की ओर झुकेगे। या (३) जनता के हित की दृष्टि से सरकार को उस वस्तु के क्रय-विक्रय और मूल्य-निर्धारण मे हस्तक्षेप करना पड़ेगा। इस प्रकार इन

प्रतिरोधी कारणों के भय से एकाधिकारी को समझ-बूझ कर मूल्य निर्धारित करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा जिस से उपभोक्ताओं में असंतोष न फैले।

धनी देश में ऊँची दर

एकाधिकार के संबंध में एक विशेष बात होती है। जो देश या समाज जितना ही अधिक धनी होगा उस में एकाधिकार-मूल्य उतना ही ऊँचा होगा। कारण कि धनी व्यक्ति को किसी एक वस्तु का कुछ अधिक मूल्य देने में विशेष अड़चन न जान पड़ेगी। क्योंकि जिस के पास जितना ही अधिक रुपया होगा उसे रुपए की सीमांत उपयोगिता उतनी ही कम जान पड़ेगी। इस के विपरीत जो देश जितना ही ग़रीब होगा उस में एकाधिकार-मूल्य अपेक्षाकृत उतना ही कम होगा, क्योंकि ग़रीब जनता अधिक मूल्य की वस्तु अधिक परिमाण में न ख़रीद सकेगी।

एकाधिकार-मूल्य के भेद

एकाधिकार-मूल्य को निश्चित करने के दो तरीके होते हैं। एक तो वह जिस में सभी तरह के व्यक्तियों के लिए समान रूप से एक मूल्य निश्चित कर दिया जाता है। वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए एक ही मूल्य निश्चित रहेगा, चाहे जो भी उसे ख़रीदे। दूसरा तरीका है भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए भिन्न-भिन्न मूल्यों का निश्चित करना।

एकाधिकार मूल्य कैसे निश्चित किया जाता है?

जब सभी के लिए एक ही मूल्य निश्चित किया जायगा, तब एकाधिकारी यह परीक्षण करेगा कि कितने मूल्य पर उसे सब से अधिक आय होती है, और जिस मूल्य पर उसे सब से अधिक वास्तविक आय होगी वही मूल्य वह अंत में सब के लिए निश्चित करेगा। मान लो कि एक नदी के घाट का एकाधिकार एक मल्लाह को मिल जाता है। वह नाव की उतराई के मूल्य का परीक्षण करता है।

परीक्षण का ढंग कुछ इस प्रकार का होगा:—

किराया पैसा	यात्रियों की संख्या	प्रति व्यक्ति उतराई का व्यय	प्रति व्यक्ति लाभ	कुल वास्तविक आय
१	१००००	½ पैसा	½ पैसा	५००० पैसे
२	८०००	१ ,,	१ ,,	८००० ,,
३	४०००	१½ ,,	,, १½	६००० ,,

ऊपर के कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है कि जब एकाधिकारी उतराई का मूल्य एक पैसा रखता है तब दस हज़ार यात्री उतरते हैं, किंतु कुल वास्तविक आय उसे केवल ५००० पैसे की होती है। जब २ पैसे फी-यात्री उतराई रक्खी जाती है, तब कुल वास्तविक आय ८००० पैसे की होती है, और तीन पैसे फी यात्री उतराई रखने पर कुल वास्तविक आय ६००० पैसे की होती है। सब से अधिक वास्तविक आय उसे २ पैसे फी यात्री उतराई रखने से होती है। इस कारण अंत मे वह दो पैसा फी यात्री उतराई निश्चित करेगा।

श्रेणी के अनुसार मूल्य

विभिन्न श्रेणियो के लिए विभिन्न मूल्य निश्चित करते समय भी कुल मिला कर अधिक से अधिक वास्तविक आय का विचार ही एकाधिकारी के सामने रहता है। सभी विभिन्न श्रेणियों के जिन मूल्यों से कुल वास्तविक आय सब से अधिक होती है, वे ही मूल्य विभिन्न श्रेणियो के लिए निश्चित किए जाते है। विभिन्न श्रेणियो का वर्गीकरण व्यक्ति, उपयोग, श्रेणी और स्थान के अनुसार किया जाता है। एकाधिकारी विभिन्न व्यक्तियों से उसी वस्तु के विभिन्न मूल्य वसूल करता है। किंतु प्रतिदिन के व्यवहार मे व्यक्तिगत विभिन्नता न तो सहज मे संभव ही हो सकती है और न वांछनीय ही है। ग्राहक इस प्रकार के पक्षपात-पूर्ण व्यवहार को सहन नही कर सकते। इस कारण आम तौर पर व्यक्तिगत आधार पर वर्गीकरण नही किया जाता। किंतु फुटकर बिक्री मे छोटे-छोटे दूकानदार वस्तुओं के एक दाम निश्चित न

रहने पर प्रायः प्रत्येक व्यक्ति से मोल-तोल कर के भिन्न-भिन्न दाम वसूल कर ही लेते है।

दूसरा आधार श्रेणियों का है। वस्तु का या उस की विभिन्न इकाइयों का उपयोग करनेवाले व्यक्तियों का वर्गीकरण किया जाता है, और विभिन्न श्रेणी या वर्ग के लिए अलग-अलग मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है। सिनेमा या रेलगाडी मे भिन्न-भिन्न दर्जे रहते है और प्रत्येक दर्जे की दर भिन्न-भिन्न रहती है। तमाशा एक ही रहता है। यात्रा भी एक ही होती है। पर भिन्न-भिन्न दर्जों मे बैठनेवालों को भिन्न-भिन्न दाम देने पडते है। श्रेणी या वर्ग के आधार मे भी उद्देश्य अधिक से अधिक वास्तविक आय करना ही होता है। इस कारण भिन्न-भिन्न श्रेणियों का मूल्य इस हिसाब से रक्खा जाता है कि कुल मिला कर वास्तविक आय अधिक से अधिक हो।

तीसरा आधार है उपयोग का। एक ही वस्तु के विभिन्न उपयोगों के लिए इस तरह से अलग-अलग मूल्य रक्खे जाते हैं कि सब मिला कर वास्तविक आय अधिक से अधिक हो। बिजली की कंपनीवाले प्रतिदिन के प्रकाश के निमित्त उपयोग में लाई जानेवाली बिजली के लिए एक दर रखते है, मशीन चलाने के लिए कारखानों आदि के उपयोग के लिए दूसरी दर, और भोजन आदि बनाने के लिए उपयोग में लाए जाने के लिए एक और ही दर। इस प्रकार उपयोगों के अनुसार एक ही वस्तु की तीन दरें होती हैं।

चौथा आधार होता है स्थान का। एकाधिकारी उसी एक वस्तु को भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न दामों पर बेचेगा। जापान में बनी हुई कुछ वस्तुएं जापान मे अन्य दामों पर बेची जाती हैं, और भारत मे कुछ दूसरे ही दामों पर। कभी-कभी उत्पादक उसी एक वस्तु को अपने देश में तो अधिक मूल्य पर बेचता है, और विदेशों मे कम मूल्य पर। कभी-कभी विदेशों में वह लागत-खर्च से भी कुछ कम दामों पर भी बेच देता

है। इस के विशेष कारण होते है। कभी-कभी उत्पादक अपने देश मे इतने दाम रखता है कि उस दाम पर बेचने से उस वस्तु के एक अंश से ही उस की कुल उत्पन्न की हुई मात्रा का कुल लागत-ख़र्च निकल आता है, और तब विदेशो मे बाकी बचे हुए अंश को लागत-ख़र्च से कम दामों पर भी बेचने से उसे लाभ ही रहता है, इस कारण जल्दी बेचने और दाम खडे करने के विचार से वह लागत-ख़र्च से कम मूल्य पर ही उस वस्तु के शेष अंश को बेच देता है। यदि फोर्ड को १००० मोटर बनाने मे ५,००,००० रुपए लगे तो फी मोटर ५०० रुपए लागत-ख़र्च के होगे। यदि अमरीका मे ही फी मोटर १००० रुपए के हिसाब से बेचने पर केवल ५०० मोटरो से ही उसे ५,००,००० रुपए लागत-ख़र्च के मिल जायँ, तो बाकी बचे हुए ५०० मोटर भारत मे ४०० रुपए प्रति मोटर के हिसाब से बेचने पर भी उसे २०,००० रुपए का लाभ रहेगा। साथ ही भारत मे भी उसे जल्दी ग्राहक मिल जायँगे। इस कारण प्राय उत्पादक अपने देश की बिक्री से बचे हुए माल को खपाने की दृष्टि से कम दामो पर भी विदेशो मे बेच देते है। कभी-कभी विदेशी बाजारो को हथियाने और प्रतिद्वंद्वियो को हरा कर हटा देने के लिए उत्पादक लागत-ख़र्च से भी कम दामों पर इस आशा से अपनी वस्तु को बेचते है कि एक बार प्रतिद्वंद्वियों के बाज़ार से हट जाने पर उस बाज़ार मे एकाधिकार प्राप्त हो जायगा और फिर बाद मे मनमाने दाम चढा कर पहले की हानि पूरी कर ली जायगी।

एकाधिकार-मूल्य ज्यादा या कम ?

आम तौर पर देखा जाता है कि किसी वस्तु का एकाधिकार प्राप्त हो जाने पर उस वस्तु का मूल्य बढा दिया जाता है। किंतु यदि उचित रीति से प्रबंध किया जाय और जनता के हित का विचार रक्खा जाय तो एकाधिकार में मूल्य अपेक्षाकृत कम हो सकता है। इस के कारण है। एकाधिकार मे अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हो जाती है, प्रतियोगिता के कारण किए जाने-वाले अनेक प्रकार के ख़र्च बच जाते है; बडी मात्रा की उत्पत्ति से होने

वाले सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। इस से प्रति इकाई लागत-ख़र्च कम बैठता है। इस कारण प्रतियोगिता-पूर्ण उत्पादन प्रणाली की अपेक्षा एकाधिकार-प्रणाली मे वस्तु अधिक सस्ती दी जा सकती है। किंतु आम तौर पर एकाधिकार-मूल्य बहुत अधिक रक्खा जाता है। एकाधिकारी केवल अपने लाभ का विचार करके जितना भी अधिक से अधिक ग्राहकों से ऐंठ सकता है, ऐंठने की चेष्टा करता है। किंतु कभी-कभी अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर ही एकाधिकारी को कम मूल्य रखना पड़ता है, इस विचार से कि कम दाम के कारण अधिक ग्राहक उस वस्तु की ओर झुकेंगे, बिक्री अधिक परिमाण मे होगी, और इस प्रकार प्रति इकाई कम मुनाफ़ा होने पर भी कुल मिला कर अधिक से अधिक वास्तविक आय हो सकेगी। कभी कभी इस भय से भी एकाधिकारी कम मूल्य रखने के लिए बाध्य हो जाता है कि अधिक मूल्य रखने से कहीं प्रतियोगिता न प्रारंभ हो जाय, या सरकार द्वारा नियंत्रण न होने लगे; अथवा उपभोक्ता अन्य सस्ते पदार्थों को काम मे लाकर इस वस्तु का उपयोग कम न कर दे। कभी-कभी किसी सरकारी या अर्ध-सरकारी संस्था के हाथों मे एकाधिकार आने पर केवल जनता की सुविधा और उपभोक्ता की बचत के विचार से एकाधिकार-मूल्य कम ही रक्खा जाता है।

एकाधिकार-मूल्य क्या अधिक स्थिर?

प्रतियोगिता-पूर्ण प्रणाली मे विभिन्न प्रतिद्वंद्वी अपने-अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर उत्पत्ति करते हैं। प्रतियोगिता के कारण उन्हें बिक्री के प्रबंध, विज्ञापन आदि मे बहुत अधिक ख़र्च करना पड़ता है। फिर उन्हें इस का भी अंदाज नहीं रहता कि कितने परिमाण में उत्पादन करना उचित होगा। इस कारण कभी माँग से अधिक परिमाण में उत्पादन हो जाता है, और कभी कम परिमाण मे। आपस की प्रतियोगिता से भी बहुत हानि उठानी पड़ती है। इन कारणों से क़ीमत में बहुत रद्दोबदल होती रहती है। इस से जनता को बड़ी असुविधा होती है, हानि उठानी पड़ती है। एकाधिकार में

न तो प्रतियोगिता रहती है और न उस से होनेवाली हानियां रहती हैं। उत्पादन के परिमाण की अनिश्चितता भी नहीं रहती। मांग को ख़ूब समझ कर, कम से कम लागत-ख़र्च पर, उचित परिमाण में उत्पादन किया जा सकता है। इस से एकाधिकार प्रणाली में मूल्य अधिक स्थिर रह सकता है। किंतु प्रायः देखा जाता है कि एकाधिकारी, अपने निजी लाभ के ख़याल से, मूल्य को वहुत घटाया-वढाया करता है। अस्तु, एकाधिकार में भी मूल्य की स्थिरता की वहुत संभावना नहीं रहती।

अध्याय ३६

मूल्य के अन्य सिद्धांत

भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के संबंध में भिन्न-भिन्न सिद्धांत प्रतिपादित किए है। आधार के अनुसार वैसे तो अनेक सिद्धात है पर सब का मुख्यतः तीन सिद्धांतों में समावेश किया जा सकता है। ये प्रमुख तीन सिद्धांत हैः—

मूल्य के तीन सिद्धात

(१) उपयोगिता-सिद्धांत, (२) परिमितता या उत्पादनव्यय-सिद्धांत, तथा (३) श्रम-सिद्धांत। आगे इन का विस्तार से वर्णन किया जाता है।

उपयोगिता-सिद्धात

उपयोगिता-सिद्धांतवालों के अंतर्गत दो दल हैं। एक दलवाले केवल उपयोगिता को ही मूल्य का कारण ठहराते हैं। दूसरे दलवाले अंतिम-उपयोगिता अथवा सीमांत-उपयोगिता को मूल्य का कारण मानते है। केवल उपयोगिता-सिद्धांत वालों का कहना है कि दो वस्तुओं मे से जो भी अधिक उपयोगी होगी उसी का मूल्य उस से अधिक होगा जो कम उपयोगी होगी। किंतु उन का यह सिद्धांत ठीक नही है। वस्तु चाहे कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, यदि उस का परिमाण परिमित नही है तो उस का कुछ भी मूल्य न होगा। दूसरे, प्रतिदिन के जीवन मे यह देखा जाता है कि किसी भी वस्तु का मूल्य उस की कुल उपयोगिता के अनुपात मे नहीं होता। नमक की कुल उपयोगिता चाय या पान या बीडी की कुल उपयोगिता से कही अधिक होती है। किंतु नमक का मूल्य इन वस्तुओ के मूल्य से अधिक नही होता।

अंतिम या सीमात-उपयोगिता-सिद्धात

अंतिम-उपयोगिता-सिद्धांत या सीमांत-उपयोगिता-सिद्धांत वालों का मत है कि किसी भी वस्तु का मूल्य उस की कुल उपयोगिता के अनुपात मे तो नहीं होता, किंतु प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस की सीमांत-उपयोगिता द्वारा निश्चित

किया जाता है। क्रमागत उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार किसी वस्तु की प्रत्येक और अधिक आगे ली जानेवाली इकाई की उपयोगिता क्रम से उस से पहलेवाली इकाई की उपयोगिता से कम होती जाती है और जो इकाई अंत मे उपभोग मे आएगी उस की उपयोगिता पहले की सभी प्रत्येक इकाइयो से कम होगी। यानी सीमांत या अंतिम इकाई से जो उपयोगिता प्राप्त होगी वह सब से कम होगी। अब चूंकि मंडी में मिलनेवाली किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयां एक-सी रहती है, सभी की उपयोगिता एक-बराबर रहती है, अस्तु, खरीदार अपनी अंतिम उपयोगिता के अनुसार ही विभिन्न इकाइयो के दाम देने को राजी होगा। इस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य अंतिम-उपयोगिता के अनुसार निश्चित किया जायगा।

मंडी मे अनेक प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। किसी की आवश्यकता कम रहती है, किसी की अधिक, किसी की कम तीव्र, किसी की अधिक तीव्र। अस्तु, मंडी मे किसी वस्तु का मूल्य उस ख़रीदार के और उस बेचनेवाले के द्वारा निश्चित किया जायगा जो सीमा पर होगे। जो ख़रीदार सब से कम दाम देने को राज़ी होगा वही सीमात खरीदार होगा, क्योकि उसी को उस वस्तु की उपयोगिता सब से कम जान पड़ेगी। और बेचनेवालो मे वह विक्रेता सीमांत-विक्रेता होगा जो अधिक से अधिक भाव पर बेचना चाहेगा। अन्य सभी विक्रेता उस से कम दामो पर बेचने को तैयार रहेंगे। चूँकि माँग के अनुसार उस सीमांत विक्रेता के माल की भी ज़रूरत पड़ेगी। अब यदि माल के दाम उस के अनुसार ठीक न लगे और इस कारण वह अपने अंश को बिक्री के स्टाक से अलग कर ले, तो ख़रीदारो को पूरी तादाद मे माल न मिलेगा। अस्तु वे आपस मे प्रतियोगिता करके भाव इतना चढा देने पर मजबूर होगे कि वह (भाव) उस सीमांत-विक्रेता के भाव तक पहुँच जायगा। जब सीमांत-विक्रेता का भी माल मंडी मे आ जायगा तब जाकर कुल माँग पूरी हो सकेगी। अस्तु,

सीमांत-विक्रेता के अंश की मंडी मे ज़रूरत रहेगी, और सीमांत-विक्रेता सब से अधिक भाव पर बेचने को राज़ी होगा। पर चूँकि मंडी के सिद्धांत के अनुसार उस वस्तु की सभी इकाइयां, चाहे वे सीमांत-विक्रेता के पास हों, या अन्य किसी भी विक्रेता के पास, एक-सी और एक-बराबर उपयोगी होंगी, अस्तु, दाम सब का एक रहेगा। सीमांत-विक्रेता का भाव इतना होना चाहिए जो सीमांत खरीदार के भाव के बराबर हो। तभी भाव का साम्य माना जायगा। यदि सीमांत-विक्रेता का भाव सीमांत-खरीदार से अधिक होगा तो सीमांत-खरीदार उस वस्तु को न लेगा। उस के न लेने से माँग मे उतनी कमी पडेगी जितने परिमाण मे सीमांत-ख़रीदार ख़रीद बंद कर देता है। माँग मे कमी पडने से बेचनेवालों मे प्रतियोगिता होगी। फल-स्वरूप भाव गिरेगा, और इतना गिरेगा कि वह (भाव) सीमांत ख़रीदार के भाव तक आ जायगा। तब सीमात-खरीदार खरीदेगा। इस प्रकार सीमांत-खरीदार और सीमांत-विक्रेता के साम्य के द्वारा मंडी का भाव तय होगा। इस प्रकार मूल्य सीमांत उपयोगिता द्वारा निश्चित होता है। यही मूल्य-संबंधी सीमांत-उपयोगिता-सिद्धांत है।

सीमांत उपयोगिता-सिद्धांत अधूरा है। उस मे ये त्रुटियां है :—

(१) इस सिद्धांत मे केवल माँग के सिद्धांत पर ज़ोर दिया जाता है और पूर्ति तथा उत्पादन-व्यय का उतना विचार नही किया जाता। यही इस का बडा भारी दोष है। केवल माँग के द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निश्चित नही किया जा सकता।

(२) दूसरा दोष यह है कि सीमांत-उपयोगिता-सिद्धांत वाले इस बात को भूल जाते है कि सीमांत-उपयोगिता स्वयं मूल्य पर निर्भर रहती है, अस्तु वह मूल्य का एकमात्र कारण नही हो सकती। यदि किसी वस्तु का मूल्य गिर जाता है तो प्रत्येक मनुष्य उस वस्तु की और अधिक इकाइयां उपभोग मे लाएगा और इस प्रकार उस की प्रत्येक और अधिक इकाई की उपयोगिता कम से कम हो जायगी, और सीमात-उपयोगिता भी पहले

से बहुत कम रह जायगी। इस के विपरीत यदि कहीं उस वस्तु का मूल्य बढ गया, तो उसी वस्तु की बहुत कम इकाइया उपभोग मे लाई जायँगी, अस्तु सीमांत-उपयोगिता पहले से अधिक होगी। इस से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वयं सीमात-उपयोगिता मूल्य पर निर्भर रहती है।

इस कारण यह मानना उचित है कि सीमात-उपयोगिता और मूल्य का परस्पर कार्य-कारण का संबंध है, वे दोनो एक दूसरे का निर्णय करते है। सीमात-उपयोगिता ही मूल्य का एकमात्र कारण नहीं है। उपयोगिता-सिद्धात और सीमात-उपयोगिता-सिद्धात के अलावा उत्पादन-व्यय के सिद्धांत के माननेवालो का दल है जो उत्पादन-व्यय को मूल्य का कारण मानते है।

इस सिद्धांत के अंतर्गत (१) उत्पादन व्यय सिद्धांत, (२) पुनरुत्पादन-व्यय सिद्धांत, और (३) श्रम-उत्पादन-व्यय सिद्धांत समावेशित हैं। यहां प्रत्येक की आलोचना पृथक्-पृथक् की जायगी।

उत्पादन-व्यय सिद्धात

उत्पादनव्यय सिद्धांत के अनुसार वस्तु के उत्पादन पर पडनेवाला व्यय ही उस वस्तु के मूल का कारण होता है। यदि एक गज सूती कपडे के बनाने मे एक गज रेशम के बनाने से आधा खर्च पडेगा तो रेशम का मूल्य, सूती कपडे के मूल्य से दूना होगा। यदि मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक होगा तो उत्पादको को बहुत लाभ होगा। इस कारण अन्य प्रतियोगी उत्पादक उस वस्तु को उत्पन्न करने लगेगे और उन मे आपस मे प्रतियोगिता होगी। दाम घटेगे और मूल्य व्यय के बराबर आ जायगा। यदि मूल्य उत्पादन-व्यय से कम होगा तो कुछ उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन का कार्य छोड देगे, क्योंकि उन्हे घाटा पडेगा। अस्तु, वस्तु की पूर्ति मे कमी पड जायगी। खरीदारो मे प्रतियोगिता होगी, क्योंकि जितने परिमाण मे वे चाहते हैं उतने परिमाण मे उन्हे वह वस्तु न मिलेगी। इस प्रकार प्रतियोगिता के कारण वस्तु का मूल्य बढ़ेगा और उत्पादन-व्यय के बराबर आ जायगा।

इस सिद्धांत के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क ध्यान देने योग्य हैं: —

(क) केवल उत्पादन-व्यय ही मूल्य का कारण नही हो सकता। यदि एक शोरगुल करनेवाली मशीन बड़े परिश्रम से एक लाख रुपया लागत लगा कर भी बनाई जाय तो भी उस का कुछ मूल्य न होगा। मूल्य के निमित्त उपयोगिता भी अनिवार्य-रूपेण आवश्यक है। इस सिद्धांत मे उपयोगिता को बिल्कुल स्थान नही दिया गया है, इस कारण यह सिद्धांत अधूरा है।

(ख) जितने ही अल्पकाल का विचार किया जायगा, मूल्य उतना ही अधिक माँग पर, यानी उपयोगिता पर निर्भर रहेगा। अति अल्पकाल मे उत्पादन-व्यय का वैसा बहुत कम प्रभाव मूल्य पर पडता है। केवल उत्पादन-व्यय वाले सिद्धांत द्वारा अति अल्पकाल के मूल्य के निर्णय का कोई समाधान नही होता। अस्तु, यह सिद्धांत अधूरा है।

(ग) आम तौर पर जिस उत्पादन व्यय का प्रभाव मूल्य पर पडता है वह सीमांत उत्पादन-व्यय है, और इस सिद्धांत मे यह स्पष्ट रूप से नही प्रकट होता कि मूल्य का कारण सीमांत उत्पादन-व्यय ठहरता है।

(घ) उत्पादन-व्यय और मूल्य का संबंध कारण और कार्य का न होकर एक-दूसरे के पारस्परिक कारण का है। उत्पादन-व्यय का प्रभाव यदि मूल्य पर पडता है तो मूल्य का भी प्रभाव उत्पादन-व्यय पर पडता है। यदि किसी वस्तु की माँग में वृद्धि होने से उस का मूल्य बढ जाता है, तो उसी के साथ मूल्य बढते ही पूर्ति भी बढ जाती है; वह वस्तु और अधिक परिमाण मे उत्पन्न की जाने लगती है, और पूर्ति मे वृद्धि होने से उत्पादन-व्यय में भी पहले की अपेक्षा फर्क़ पड जाता है, क्योंकि यदि उत्पादन पर क्रमागत ह्रास-नियम लागू होगा तो प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ जायगा, और यदि क्रमागत वृद्धि-नियम लागू होगा तो प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम बैठेगा। इस प्रकार मूल्य मे होनेवाले रद्दोबदल का कारण उत्पादन-व्यय होता है, और उत्पादन-व्यय मे होनेवाले रद्दोबदल का कारण मूल्य बनता

है—न केवल मूल्य उत्पादन-व्यय का कारण होता और न केवल उत्पादन-व्यय मूल्य का कारण ठहरता ।

(ङ) मूल्य का एक कारण तो उपयोगिता (माँग) है और दूसरा कारण पूर्ति की परिमितता । पूर्ति की परिमितता का एक कारण उत्पादन-व्यय हो सकता है । किंतु परिमितता का एकमात्र कारण उत्पादन-व्यय ही भर नहीं है । एकाधिकार से भी वस्तु के परिमाण को परिमित किया जा सकता है । इस के अलावा ऐसा भी हो सकता है कि कोई एक वस्तु एक विशेष प्ररिमाण मे ही प्राप्त हो सके, उसे उत्पादन-व्यय द्वारा न बढाया जा सके, जैसे प्रसिद्ध पुरुषो के उपयोग मे आई हुई वस्तुएं, (राणा साँगा का भाला, शिवाजी की तलवार, महात्मा बुद्ध का दॉत) प्रसिद्ध चित्रकारो द्वारा बनाए चित्र, शिल्पियो द्वारा बनाई मूर्तियां आदि । इन वस्तुओं के मूल्य पर उत्पादन-व्यय का कोई भी प्रभाव नहीं पड सकता । इस प्रकार उत्पादन-व्यय वाला सिद्धात अधूरा सिद्ध होता है ।

पुनरुत्पत्ति के उत्पादन-व्यय का सिद्धात

उत्पादनव्यय-सिद्धात के तर्क पर न ठहर सकने के कारण कुछ अर्थशास्त्री उसे कुछ संशोधित रूप मे प्रतिपादित करते है । उन का मत है कि मूल्य का कारण केवल प्रमुख उत्पादन-व्यय नही है । पर पुनरुत्पत्ति के उत्पादन-व्यय के द्वारा ही मूल्य निश्चित किया जाता है । उन का कहना है कि पहले किसी समय एक मेज आठ रुपए की लागत से बनाई गई थी । किंतु कुछ दिन बाद बनानेवाले औज़ारो आदि मे इस प्रकार का सुधार हो गया और कच्चा माल इतना सस्ता मिलने लगा कि अब उसी तरह की मेज़ ४ रुपए की लागत से तैयार हो सकती है । अस्तु, उस पहली मेज़ के दाम मे फर्क पड जायगा, और यद्यपि उस के उत्पादन में ८ रुपए व्यय लगा, किंतु इस समय उस का मूल्य केवल ४ रुपए ही होगा । इस प्रकार वस्तुओ का मूल्य उन के प्रथम उत्पादन-व्यय के द्वारा निश्चित न हो कर उस उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित किया जाता है जो

अब उसी तरह की वस्तु के उत्पन्न करने मे पडेगा।

इस सिद्धांत के विरुद्ध निम्न-लिखित आक्षेप ध्यान देने योग्य हैः—

(क) मूल्य के ऊपर उपयोगिता का जो प्रभाव पडता है वह इस सिद्धांत के द्वारा स्वीकृत नही होता। यदि किसी कारण से एक वस्तु की इस समय कुछ भी उपयोगिता न रह जाय और उस वस्तु के बनाने से यदि इस समय भी १००) लागत खर्च पड़े तो भी उस वस्तु का मूल्य १००) न होगा। पुराने तर्ज़ की पगडी के पुनरुत्पादन मे आज भी चाहे ५) फ़ी पगडी ही लगे, तो भी उस का मूल्य इस समय ५) नही हो सकता, क्योंकि इस समय उस तरह की पगडियों का चलन नही रह गया है, इस कारण उन की उपयोगिता नही रह गई है। पुनरुत्पादन का व्यय ५) होने पर भी इस समय पगडी का मूल्य ५) रुपया नही होगा।

(ख) पुनरुत्पादन के व्यय का मूल्य पर केवल तभी प्रभाव पड सकता है जब ख़रीदार नई आमद के लिए रुके रहे। यदि किसी नगर मे शत्रु के घेरा डालने, या बढी हुई नदी के पानी के चारों तरफ से घेर लेने के कारण खाने की सामग्री का भाव बढ जाय तो उस पर पुनरुत्पादन के व्यय का कुछ भी असर न पड़ेगा। इस प्रकार यह सिद्धांत भी अधूरा ही ठहरता है।

श्रम-उत्पादन-व्यय सिद्धात

श्रम-सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस श्रम-द्वारा निश्चित किया जाता है, जो उस वस्तु के उत्पादन मे व्यय होता है। मूल्य का एक हेतु उपयोगिता अवश्य है, किंतु केवल उपयोगिता ही मूल्य का कारण नही है, मूल्य का मुख्य कारण है वह श्रम जो उस वस्तु के बनाने मे लगाया जाता है।

इस सिद्धात से दो बाते स्पष्ट हो जाती है। एक तो यह कि श्रम को मूल्य का आधार मान लेने से मूल्य को श्रम के अनुसार मापा जा सकता है। दूसरे, न्यायपूर्वक यह निश्चित किया जा सकता है कि जिस वस्तु मे जितना श्रम लगा हो उसी के अनुपात मे उस का मूल्य निश्चित किया जाय। जिस वस्तु के बनाने मे दो घंटे श्रम करना पड़े उस का मूल्य उस

२०

वस्तु से दूना रहे जिस के बनाने मे केवल एक ही घंटे श्रम करना पड़े।

इस सिद्धांत के विरुद्ध तर्क इस प्रकार है.—

(क) यदि श्रम मूल्य का आधार माना जायगा तो इस के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि किसी भी वस्तु का मूल्य बदल नहीं सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु के बनाने में जो श्रम पडा उस मे रद्दोबदल नहीं किया जा सकता। जो श्रम एक बार एक वस्तु के उत्पन्न करने में लग गया वह फिर नही बदला जा सकता। किंतु प्रतिदिन के जीवन मे देखा जाता है कि वस्तुओ के मूल्य मे फर्क पडता रहता है, माँग और पूर्ति क अनुसार वस्तुएं महँगी-सस्ती होती रहती है। अस्तु, यह सिद्धात ठीक नही है।

(ख) यदि मूल्य का कारण श्रम माना जाय तो जिन वस्तुओ के उत्पादन मे बराबर-बराबर श्रम पडता है, उन का मूल्य बराबर-बराबर होना चाहिए। किंतु प्राय. ऐसा होता नही है। एक बराबर श्रम से उत्पन्न की हुई दो वस्तुओं के मूल्य बराबर-बराबर नही होते, कम-ज्यादा होते है, और ऐसी दो वस्तुओ के मूल्य बराबर-बराबर होते है जिन मे से एक के उत्पादन मे कम श्रम लगता है और दूसरी के उत्पादन मे पहली से कहीं अधिक।

(ग) यदि श्रम ही मूल्य का मुख्य आधार माना जायगा तो जिन वस्तुओ के उत्पादन मे कुछ भी श्रम नही पडता उन का कुछ भी मूल्य नही होना चाहिए। किंतु झरने, जल-प्रपात आदि अनेक ऐसी प्राकृतिक वस्तुएं है जिन के उत्पादन मे कुछ भी श्रम नही पडता, तो भी उन मे उपयोगिता के होने के कारण उन का मूल्य होता है।

इस के उत्तर मे यह कहा जाता है कि जब तक श्रम द्वारा उन वस्तुओ की उपयोगिता उपभोग-योग्य नही बना दी जाती तब तक उन का कुछ भी मूल्य नही होता। मूल्य सामाजिक धारणा है। प्राकृतिक वस्तुओं का तभी मूल्य होगा जब समाजिक व्यवस्था के कारण वे समाज के लिए उपयोगी होंगी, और इस के लिए समाज को किसी न किसी रूप मे श्रम

करना पडता है ।

(घ) मूल्य का निश्चय उपयोगिता तथा उत्पादन-व्यय द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाता है। उत्पादन-व्यय मे भूमि, श्रम पूँजी, व्यवस्था आदि अनेक साधनों की उजरत सम्मिलित रहती है । श्रम उस का एक अंश मात्र है । अस्तु यह मानना ठीक नही है कि मूल्य केवल श्रम द्वारा निश्चित होता है ।

इन सिद्धांतों के अतिरिक्त समाजवादियों और समष्टिवादियों के श्रम-सिद्धांत है। किंतु एक तो वे सभी सिद्धांत बहुत ही विवाद-ग्रस्त है, दूसरे श्रम को प्रधानता देकर जो कुछ वे प्रतिपादन करते है उस का खडन ऊपर वाले श्रम-सिद्धांत के संबंध मे विचार करते समय किया जा चुका है, इस कारण उन सब बातों को फिर से दोहराना उचित न होगा ।

ऊपरवाले विभिन्न सिद्धांतों का समुचित रूप से मनन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपयोगिता, उत्पादन-व्यय आदि मे से किसी एक गुण या बात पर ज़ोर देने पर भी सभी को माँग और पूर्ति का ध्यान किसी न किसी रूप मे रखना ही पडा है । अपने देश, काल और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दलवालों को किसी एक बात पर ज़्यादा ज़ोर देना पडा था, और वह भी एक खास तरीके पर । और इसी कारण उन के सिद्धांत एकांगी और अधूरे उतरे । असल मे मूल्य का निर्णय माँग और पूर्ति, अर्थात् उपयोगिता और उत्पादन-व्यय के साम्य के द्वारा ही उचित रूप से हो सकता है, और पिछले अध्यायों मे समुचित रूप से इसी का प्रतिपादन किया भी गया है । यह बात भी स्पष्ट हो गई है कि अति अल्पकाल मे माँग अर्थात् उपयोगिता द्वारा ही विशेष रूप से मूल्य का निर्णय किया जाता है, क्योंकि पूर्ति की मात्रा उस काल में बढाई नही जा सकती, और इस कारण अति अल्प-काल मे माँग ही प्रधान रहती है, और अति-दीर्घ काल मे न केवल उस वस्तु के उत्पादन-व्यय अर्थात् परिमितता द्वारा, वरन् उस वस्तु के उत्पादन मे योग देनेवाले विभिन्न साधनों के उत्पादन-

व्यय द्वारा भी अधिकांश मे मूल्य का निर्णय किया जाता है। किंतु इस का यह मतलब तो नही होता कि अति-अल्पकाल मे पूर्ति का कतई खयाल न किया जाय, पूर्ति का मूल्य के निर्णय मे कुछ भी प्रभाव न पडता हो, और न यही कि अति-दीर्घकाल मे मॉग यानी उपयोगिता की बिल्कुल उपेक्षा की जाती हो। असल मे मूल्य का अंतिम निर्णय सदा मॉग और पूर्ति के साम्य द्वारा ही होता है, भले ही किसी कारण से किसी समय उन मे से एक प्रधान हो जाय और दूसरा गौण।

इस मॉग और पूर्तिवाले सिद्धात के कारण दो बाते हुई है। एक तो यह कि इस सिद्धांत के कारण ऊपर के सभी सिद्धांतों का बहुत ही सुंदर और तथ्यपूर्ण समन्वय हो गया है। किसी भी पक्ष को अनुचित रूप से न तो महत्व ही दिया गया है, और न किसी की उपेक्षा ही की गई है। मॉग और पूर्ति, उपयोगिता और उत्पादन-व्यय एक-दूसरे पर प्रभाव डाल कर और एक-दूसरे से प्रभावित होकर साम्य द्वारा मूल्य का निर्णय करते है। दूसरे यह कि इस सिद्धांत के कारण अर्थशास्त्र का मूल आधार मूल्य पर ही स्थिर हो गया है। मूल्य का प्रश्न ही अर्थशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य-विषय, केद्र-बिंदु हो गया है। इस से अर्थशास्त्र के समस्त अंग सुसंगठित हो गए है, प्रत्येक विभाग का सुदृढ और आपस मे एक-दूसरे पर निर्भर रहनेवाला संबंध वैज्ञानिक रूप से स्थापित हो गया है।

अब मूल्य उस विज्ञान का प्रमुख तथा केंद्रीय विषय हो गया है, जिस के अनुसार ही स्थानीय, राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय मंडी मे विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है। एक प्रकार से मूल्य द्वारा ही यह निश्चित किया जाता है कि क्या, कैसा, कितना उत्पादन किया जाय (यानी उत्पत्ति क्या, कैसी, कितनी हो), किस का वितरण क्या, कैसा, कितना किया जाय, विनिमय क्या, कैसा, कितना हो और उपभोग क्या, कितना, कैसा हो। सभी स्थानों मे मूल्य का प्रश्न ही प्रमुख प्रश्न देख पडता है, सभी बाते मूल्य के द्वारा संचालित होती रहती है।

वितरण

अध्याय ३७

वितरण और उस का महत्व

वर्तमान समाज मे धन का उत्पादन अनेक ऐसे व्यक्ति मिल कर करते

वितरण क्या है ?

है जिन का उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों पर स्वामित्व होता है और प्रत्येक उत्पादन कार्य में विभिन्न साधनों का विभिन्न प्रकार से मेल और उपयोग किया जाता है। अस्तु, यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न हो उठा है कि प्रत्येक उत्पादन कार्य मे भाग लेनेवाले विभिन्न साधनों को उस उत्पत्ति का कौन-सा हिस्सा उन के उत्पादन कार्य की उजरत (पुरस्कार) के रूप मे दिया जाय। विभिन्न साधनों के विभिन्न पुरस्कारों का विचार 'वितरण' खंड मे किया जाता है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों मे से प्रत्येक की आय क्या होगी, और इन विभिन्न आयों का आपस मे क्या संबंध और अनुपात होगा और किस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक आय का निर्णय किया जायगा इन्ही प्रश्नों का विचार वितरण के अतर्गत है।

प्रत्येक उत्पादन-कार्य असल मे इसी लिए होता है कि उत्पन्न वस्तु का उपभोग हो, उस से मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति हो सके। अस्तु, उपभोग के लिए ही उत्पत्ति होती है, उत्पत्ति का सारा दारोमदार उपभोग पर है। पर उपभोग तभी हो सकता है जब उत्पन्न वस्तु का वितरण हो। यदि कोई वस्तु उत्पन्न तो की जाय पर उस का उचित वितरण न हो तो उस का उपभोग भी न हो सकेगा। अस्तु, उपभोग वितरण पर निर्भर है। इस दृष्टि से वितरण बहुत ही महत्वपूर्ण है। बिना वितरण के उत्पत्ति निरर्थक और उपभोग असंभव है।

संसार की हलचल और वितरण

वर्तमान समय में संसार में जो गड़बड़ देख पड़ रही है, उस का मुख्य कारण वितरण की अव्यवस्था है। धन का उत्पादन तो काफी और अधिक से अधिक परिमाण में हो रहा है, पर वितरण की व्यवस्था ठीक न होने से उत्पन्न माल व्यर्थ पड़ा रहता है। बाजार, मालगोदाम, कारख़ाने आदि माल से पटे पड़े हैं, कारख़ाने अपनी पूरी उत्पादन-शक्ति लगा कर काम नहीं कर रहे हैं, क्योंकि जितना माल उन में तैयार हो सकता है उतने की खपत नहीं है: मज़दूर और पूँजी बेकार पड़े हैं; अनेक स्थानों में उत्पन्न या तैयार माल या उस का कुछ अंश इस लिए नष्ट कर दिया जाता है कि उस की कीमत गिरने न पाए। दूसरी तरफ लाखों ही नहीं, करोड़ों व्यक्ति आवश्यक पदार्थों के न मिलने के कारण भूखे-नंगे तड़प-तड़प कर मर रहे हैं। नन्हे-नन्हे दुध-मुँहे बच्चे एक-एक बूँद दूध के लिए तड़प-तड़प कर जान दे रहे हैं। लाखों व्यक्ति कड़ाके के जाड़े में बिना वस्त्र, बिना ईंधन, बिना छाया के मर रहे हैं। लोग काम करना और ईमानदारी से अपनी गुजर के लिए गाढ़े पसीने की कमाई से दो मुट्ठी अन्न और एक टुकड़ा कपड़ा प्राप्त करना चाहते हैं। पर उन्हें काम नहीं मिलता। ईमानदारी से मेहनत करके दो मुट्ठी अन्न प्राप्त करने का मौका उन्हें दिया ही नहीं जाता। यह सब क्यों? वितरण की सुचारु व्यवस्था न होने से ही। वितरण की व्यवस्था पर ही संसार का निकट भविष्य निर्भर है। वितरण के सवाल ने ही संसार के सामने वर्ग-वाद और वर्ग-संघर्ष उपस्थित कर दिए हैं। वितरण के प्रश्न के कारण ही संघर्ष की गति और भीषणता दिन पर दिन तीव्र तथा तीक्ष्ण होती जा रही है।

इस से यह सिद्ध होता है कि वितरण का सिद्धांत बहुत ही मनोरंजक और साथ ही बहुत ही पेचीदा है। मनोरंजक इस कारण से कि इस के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की आय के कारण और परिमाण का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस से यह पता चलता है कि किसी एक व्यक्ति की आय

कितनी होगी और उस आय के होने के कारण क्या है। पेचीदा इस कारण कि अर्थशास्त्र के इसी विभाग से उत्पादन के विभिन्न साधनों की उजरत के प्रश्नों के निर्णय का विवेचन किया जाता है। सभी की इच्छा रहती है कि कम से कम उद्योग, श्रम, त्याग करके अधिक से अधिक भाग प्राप्त किया जाय। इस कारण उत्पादन के विभिन्न साधनों मे आपस मे बडी प्रतियोगिता चलती है। फलतः साधनों की उजरत के परिमाण के निर्णय का प्रश्न बहुत ही पेचीदा प्रश्न है।

वितरण के सिद्धांत मे दो प्रश्नों का समावेश रहता है। एक तो यह कि किस का वितरण किया जाता है। दूसरा यह कि वितरण किस तरह से किया जाता है। पहले प्रश्न के द्वारा 'राष्ट्रीय आय' के गुण और परिमाण का विवेचन किया जाता है। दूसरे प्रश्न द्वारा उस आधार का विवेचन किया जाता है जिस पर वितरण अवलंबित है। यह आधार है प्रत्येक साधन की सीमात-उत्पादन-शक्ति। जो जितना उत्पादन करेगा, उसे उसी हिसाब से उजरत दी जायगी।

राष्ट्रीय आय का वितरण

वितरण किस का किया जाता है? राष्ट्रीय-आय का। तब प्रश्न यह होता है कि राष्ट्रीय आय किसे कहते है? किसी एक देश के समस्त श्रम, पूँजी, प्रबंध, साहस (या व्यवस्था) उस देश के प्राकृतिक साधनों पर काम करके एक निश्चित काल (एक वर्ष) मे विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओं की एक निश्चित मात्रा उत्पन्न करते है। उत्पत्ति की यही निश्चित मात्रा उस काल (वर्ष) की राष्ट्रीय आय (या राष्ट्रीय भाग) मानी जाती है, और उत्पादन करनेवाले साधनों मे इसी राष्ट्रीय आय का वितरण किया जाता है।

किंतु एक वर्ष में वस्तुओं तथा सेवाओ की जो मात्रा उत्पन्न होती है उस के उत्पन्न करने मे मशीनों, औजारो, मकानों, कारखानों आदि का उपयोग होता है, और उन मे घिसाई, टूट-फूट आदि जाती है, मरम्मत की ज़रूरत पडती है। साथ ही कच्चा माल लगता है। इस प्रकार साल भर मे जो वस्तुएं

सेवाएं आदि उत्पन्न होती है उन के उत्पादन में पहले की कुछ पूँजी लगाई जाती है। इस तरह की लागत, च्चय-छीज, कमी उस वर्ष की उत्पत्ति में से पूरी कर देनी चाहिए। लागत के बराबर का मूलधन एक पूर्ति-निधि के रूप मे उस वर्ष मे उत्पन्न वस्तुओ तथा सेवाओ मे से निकाल दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर अन्य देशो मे लगे हुए उस देश के साधनो द्वारा जो उत्पत्ति की जाती है, वह उस वर्ष के उत्पादन मे शामिल की जानी चाहिए। यही उस वर्ष की असली राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय भाग है। (प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने लिए की गई और दया, प्रेम, परोपकार-प्रवृत्तिवश अपने कुटुंबियो, हित-मित्रो, अभ्यागतो आदि के लिए मुफ्त मे की गई सेवाओ का समावेश इस मे नही किया जाता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी संपत्ति के और पार्क, पुल आदि मुफ्त मे काम मे लाई जानेवाली सार्वजनिक और राष्ट्रीय संपत्ति के उपयोग से जो लाभ होते हैं उन की भी गणना असली राष्ट्रीय आय मे नही की जाती।) इस प्रकार प्रत्येक देश की एक वर्ष की वास्तविक राष्ट्रीय आय, असल मे वह उत्पत्ति की मात्रा है जो उस वर्ष उत्पन्न की गई हो, और जिस मे से पूर्ति-निधि निकाल दी गई हो। यही राष्ट्रीय आय वास्तविक राष्ट्रीय उत्पत्ति है और यही वह मूल निधि है जिस में से उन सब विभिन्न साधनों को पुरस्कार दिया जाता है, जो उस के उत्पादन मे सहायता देते है।

विभिन्न साधनो मे राष्ट्रीय आय इस प्रकार वितरित की जाती है :—

(१) श्रमियो की उजरत के रूप मे—मजदूरी।
(२) पूँजी की उजरत के रूप मे—सूद।
(३) भूमि की उजरत के रूप मे—लगान (या भाड़ा)।
(४) प्रबंध की उजरत के रूप मे—वेतन।
(५) साहस की उजरत के रूप मे—लाभ।

राष्ट्रीय आय के संबंध मे अर्थशास्त्रियों ने दो तरह से विचार किया

राष्ट्रीय आय सकुचित तथा विस्तृत

है। एक तो संकुचित रूप मे और दूसरा विस्तृत रूप मे। विस्तृत रूप मे राष्ट्रीय आय उन समस्त वस्तुओं और सेवाओं का सम्मिलित प्रवाह माना जाता है जो एक वर्ष मे उत्पन्न की जाती है। संकुचित रूप मे राष्ट्रीय आय में केवल उन वस्तुओं तथा सेवाओं का समावेश हो सकता है जिन का विनिमय रुपए-पैसे से किया जाय। राष्ट्रीय आय का विचार जब संकुचित रूप से किया जाता है तब उस मे उन सब सेवाओं आदि का समावेश नही किया जा सकता जो प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए खुद करता है, अथवा प्रेम, दया, परोपकार प्रवृत्ति आदि के कारण वह अपने सगे-संबंधियों, हित-मित्रों, दीन-दुखिओं आदि के लिए करता है; और न उन्ही लाभों का समावेश इस प्रकार की राष्ट्रीय आय मे हो सकता, जो व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय संपत्ति आदि के उपयोग के द्वारा मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। यदि कोई वकील मुफ्त मे किसी गरीब का मुकदमा लड दे या कोई डाक्टर किसी ग़रीब रोगी की दवा बिना फीस लिए ही करदे तो ये सेवाएं राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित न की जा सकेगी। इसी प्रकार सरकारी सडकों, पार्कों, पुलों आदि से प्राप्त होनेवाले लाभों की गणना भी राष्ट्रीय आय मे न हो सकेगी।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय का संकुचित रूप में विचार करने पर बडी उलझन पैदा हो जाती है। एक मनुष्य भोजन बनाने के लिए एक स्त्री को नौकर रखता है। उस स्त्री के द्वारा भोजन बनाए जाने के रूप में जो सेवा होती है वह राष्ट्रीय आय मे गिनी जाती है, कारण कि उस सेवा के लिए विनिमय के रूप मे उस स्त्री को रुपए दिए जाते है। कुछ समय बाद वह मनुष्य उस स्त्री के साथ विवाह कर लेता है। अब भोजन बनाने वाली स्त्री, उस की पत्नी हो जाती है। अब वह पुरुष उस स्त्री को भोजन बनाने के लिए वेतन के रूप मे नकद रुपए नही देता, पर वह स्त्री विवाह के बाद भी भोजन बनाने का वही काम बराबर करती रहती है। किंतु चूँकि

अब उस की सेवाओ का विनिमय रुपए-पैसे मे नही होता, इस कारण उस की वे सेवाएं अब राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित नहीं की जा सकती। राष्ट्रीय आय का संकुचित रूप मे विचार करने पर इसी प्रकार की उलझनें पैदा होती है। किंतु इस प्रकार की उलझनो के रहते हुए भी अर्थशास्त्र मे राष्ट्रीय आय का विचार प्राय: संकुचित रूप मे ही किया जाता है। इस का कारण केवल यही है कि अर्थशास्त्र का मूल आधार मूल्य का प्रश्न है। और मूल्य के प्रश्न पर विचार करते समय रुपए-पैसे के कारण बडी सरलता होती है। इस कारण राष्ट्रीय आय के संबंध मे विचार करते समय प्राय. उन्ही वस्तुओ तथा सेवाओ पर विचार किया जाता है जिन का विनिमय रुपए-पैसे के द्वारा होता हो।

राष्ट्रीय आय के दो रूप

राष्ट्रीय आय के दो रूप माने जाते है। एक रूप मे राष्ट्रीय आय मे उन समस्त वस्तुओ तथा सेवाओ का समावेश किया जाता है जो एक वर्ष के अंदर उत्पन्न की गई हो। दूसरे रूप मे राष्ट्रीय आय मे केवल उन्ही वस्तुओ तथा सेवाओं की गणना की जाती है जो एक वर्ष के अदर उपभोग मे लाई गई हो। मान लो कि एक वर्ष मे एक मशीन बनाई गई। अब पहले विचार के अनुसार उस मशीन का समस्त मूल्य (छीज आदि के निमित्त पूर्तिनिधि के निकाल देने पर) उस वर्ष की राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित कर लिया जायगा। किंतु दूसरे विचार के अनुसार उस मशीन का समस्त मूल्य उस वर्ष की राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित न किया जायगा, वरन् उस के मूल्य का केवल वही भाग उस वर्ष की राष्ट्रीय आय मे शामिल किया जायगा जितने का उपभोग उस वर्ष किया जा सका होगा। इस प्रकार दूसरे विचार के अनुसार उस मशीन के द्वारा जितने मूल्य की वस्तुएं उस वर्ष तैयार की जा सकी होंगी उतनी ही वस्तुएं (अथवा उस मशीन का उतना ही भाग, अर्थात् उस मशीन के मूल्य का उतना ही अंश जिस के द्वारा उस वर्ष वस्तुएं उत्पन्न की जा सकीं) उस वर्ष की राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित की जायँगी,

न कि मशीन का समस्त मूल्य। इस प्रकार तार्किक तथा शास्त्रीय दृष्टि से राष्ट्रीय आय संबंधी दूसरा ही विचार युक्ति-संगत प्रतीत होता है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह विचार उतना उपादेय सिद्ध नहीं होता। कारण कि यह हिसाब लगाना कठिन ही नहीं असंभव-सा हो जाता है कि किस वस्तु का कौन-सा भाग उपयोग मे लाया गया, और उस का कितना मूल्य आँका जाना ठीक होगा। इन उलझनों के कारण राष्ट्रीय आय के परिमाण का निश्चित करना कठिन हो जायगा। व्यावहारिक दृष्टि से सरलता इसी में होती है कि एक वर्ष के अंदर जितनी वस्तुएं उत्पन्न हों उन की एक तालिका तैयार कर ली जाय और इस प्रकार राष्ट्रीय आय का निश्चय कर लिया जाय। इन सब बातों को सामने रखने पर सरल यही समझ पड़ता है कि एक वर्ष के अंदर जितनी वस्तुएं तथा सेवाएं उत्पन्न होवे सब राष्ट्रीय आय में समावेशित की जायं और इस प्रकार राष्ट्रीय आय का निश्चय कर लिया जाय।

राष्ट्रीय-आय के माप की तीन रीतियां

राष्ट्रीय आय तीन भिन्न-भिन्न रीतियों से मापी जाती है। पहली रीति में एक वर्ष में कृषि तथा कल-कारखानों द्वारा जो भी वस्तुएं उत्पन्न हों उन की गणना कर ली जाती है, और उन के मूल्य में से क्षय-छीज, टूट-फूट, लागत, कमी की रकम निकाल देने पर जो बचता है उसी की गणना राष्ट्रीय आय में की जाती है।

हार, पेशन, जालसाजी से प्राप्त की गई रकमें आदि न जोडी जायँ। इस के अलावा अनेक बार यह तय करना कठिन हो जाता है कि कोई एक ख़ास रक़म जोडी जानी चाहिए अथवा नही। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लो कि एक बैरिस्टर बारह हजार रुपए प्रति वर्ष पैदा करता है। उस का मुंशी उसे साल भर इस आय को प्राप्त करने में मदद देता है। उस मुंशी को वह बैरिस्टर साल मे एक हजार रुपए वेतन के रूप मे देता है। अब सवाल यह है कि राष्ट्रीय आय का विचार करते समय उस मुंशी के वेतन का एक हजार रुपया अलग से जोडा जाय और उस बैरिस्टर का अलग से और इस प्रकार राष्ट्रीय आय के उस जोड मे बारह हजार रुपए बैरिस्टर के और एक हज़ार उस मुशी के अलग-अलग जोडे जायँ और इस तरह तेरह हजार की आय दिखलाई जाय, अथवा केवल उस बैरिस्टर की बारह हज़ार की आय की ही गणना की जाय और मुंशी का वेतन अलग से न जोडा जाय, बल्कि बैरिस्टर की आय मे ही उस का समावेश मान लिया जाय। यहां यह निर्णय करना कठिन है कि बैरिस्टर को जो बारह हजार रुपए प्राप्त हुए उन मे मुंशी का प्रयत्न सम्मिलित माना जाय, अथवा उस का प्रयत्न पृथक् गिना जाय और इस प्रकार दोनों की सम्मिलित आय तेरह हजार रुपए मानी जाय।

दूसरी अडचन पडती है अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण। इस युग मे कोई देश केवल अपने लिए ही वस्तुएं नही तैयार करता। संसार के सभी देश वस्तुओ और सेवाओ के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते है। एक देश के व्यक्तियो की आय अन्य देशो की वस्तुओं अथवा मॉगो पर निर्भर रहती है। एक जापानी की आय मिश्र की रुई और भारत या चीन की मॉग पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। और संसार भर के सब देशो की सम्मिलित आय को राष्ट्रीय आय कहा नही जा सकता। इस कारण राष्ट्रीय आय के निर्णय मे बडी कठिनाई उपस्थित होती है। किंतु इन सब बातो के होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी आय का पता

रहता ही है। और व्यक्तियों के समूह से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय-आय के निर्णय मे कठिनाई तो अवश्य पडती है, पर उस का निर्णय करना असंभव नहीं है। यही राष्ट्रीय आय उत्पत्ति के विभिन्न साधनों मे वितरित होती है।

अन्य बातों के समान रहने पर यह निश्चित है कि राष्ट्रीय आय की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, उत्पत्ति के साधनों की उजरत का हिस्सा भी उतना ही बडा होगा। राष्ट्रीय-आय एक धारा या प्रवाह है जो सदा चालू रहता है, न कि एक स्थायी-निधि, क्योंकि प्रत्येक समय वस्तुओं तथा सेवाओं की उत्पत्ति का ताँता बँधा रहता है और इस प्रकार राष्ट्रीय-आय का प्रवाह जारी रहता है।

वितरण व्यक्तिगत

प्रत्येक उत्पादन कार्य से उत्पन्न होनेवाली असली उत्पत्ति उन विभिन्न व्यक्तियों मे व्यतिगत रूप से बाँटी जाती है, जिन्हों ने मिल कर उस उत्पादन कार्य मे योग दिया है। इस प्रकार प्रत्येक उत्पादन कार्य से प्राप्त होनेवाली असली उत्पत्ति व्यक्तियों मे बाँटी जाती है, न कि वर्गों या समूहों मे। प्रत्येक प्रकार के वर्ग की सम्मिलित आय उस वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों की व्यक्तिगत विभिन्न आयों का योग होती है। किंतु वितरण व्यक्तिगत रूप ही मे किया जाता है।

वितरण का क्रम

वितरण का क्रम कुछ इस प्रकार चलता है। कोई एक साहसी किसी एक उत्पादन कार्य की व्यवस्था करता है। उत्पादन कार्य के लिए वह विभिन्न साधनों का एक खास तरह का मेल करता है। इस के लिए वह विभिन्न साधनों से तय कर के उन की उजरत निश्चित करता है। उस उत्पादन-कार्य में योग देनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से वह अलग-अलग उजरत देने तथा नियम के अनुसार काम लेने का इक़रार या ठहराव करता है। इकरार के मुताबिक समय-समय पर किस्तों में वह उन व्यक्तियो को उजरत देता जाता है। इस के लिए वह वर्ष के अंत मे उत्पत्ति के अंतिम परिणाम और परिमाण को देख कर

उजरत देने या तय करने के लिए नहीं रुकता। वर्ष के अंत मे उस उत्पादन कार्य से क्या कितनी उत्पत्ति होगी इस से इकरार के मुताविक विभिन्न साधनो को दी जानेवाली उजरत की किस्तों मे कोई फर्क नहीं पडता। इस से यह सावित होता है कि .—

(१) वितरण उत्पादन कार्य से प्राप्त होनेवाली अनुमानित उत्पत्ति पर निर्भर रहता है न कि वर्ष के अंत मे होनेवाली उत्पत्ति को यथार्थ मात्रा पर।

(२) उत्पत्ति की मात्रा के प्राप्त होने के पहले ही से वितरण प्रारभ हो जाता है, और साथ ही यथार्थ उत्पत्ति की मात्रा के कारण इकरार के मुताविक निश्चित की गई वितरण की मात्रा में कुछ विशेष फर्क नहीं पडता। साहसी जिस को जितना देने का इकरार कर लेता है उसे उस को उतना देना पडता है, चाहे उत्पत्ति कम हो या ज्यादा।

(३) इस के अलावा और तो सभी की उजरत का, इकरार या ठहराव के मुताविक, उत्पत्ति के पहले ही निश्चय हो जाता है, यह तय हो जाता है कि किसे कितना दिया जायगा, किंतु केवल साहसी की उजरत तय नही होती और न हो ही सकती। यदि अधिक उत्पत्ति हुई और इकरार के मुताविक सब को उजरत देने के वाद कुछ बचा तो वह साहसी को उजरत के रूप मे मिलेगा। यदि न बचा तो साहसी को कुछ न मिलेगा, वरन् इकरार के मुताविक जो देना चाहिए उस की पूर्ति उत्पत्ति से न हो सकी तो सहसी को अपने पास से उस की पूर्ति करनी पड़ेगी और उतनी हानि उठानी पडेगी। साहसी या व्यवस्थापक विभिन्न साधनो (व्यक्तियो) की विभिन्न सेवाओ के निमित्त उजरत देने का ठहराव करता है।

वस्तुओं ही की तरह सेवाओ की भी वाजार दर होती है और यह वाजार दर मॉग और पूर्ति के अनुसार तय की जाती है। विभिन्न सेवाओ और उन की उजरत अथवा आय का संवंध इस प्रकार रहता है :—
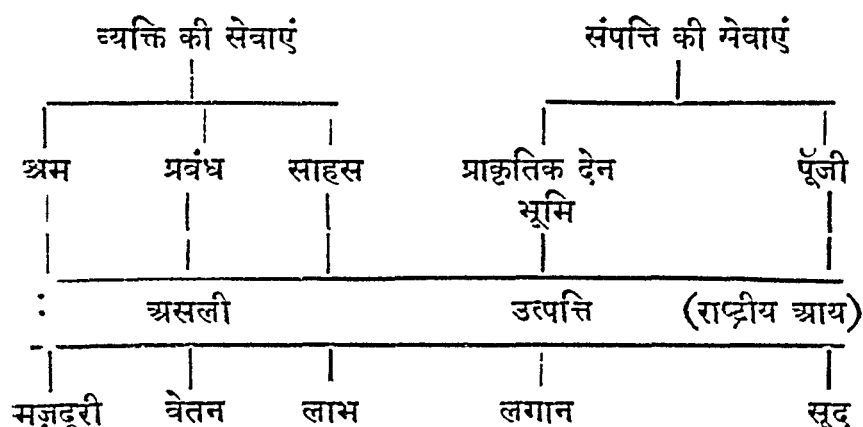
कार्य के अनुसार वितरण

प्रायः एक व्यक्ति एक से अधिक साधनों का स्वामी होता है, अस्तु वह उत्पादन कार्य में एक से अधिक सेवाएं देता है और अनेक सेवाओं के मुआवज़े में प्रत्येक सेवा के लिए उसे पृथक् उजरत मिलती है, और इस प्रकार उसे भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न आये होती है। इस कारण वर्तमान अर्थशास्त्री कार्य के अनुसार वितरण का विचार करते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति उत्पादन कार्य के लिए भूमि देता है और पूँजी भी लगाता है। उसे भूमि की उजरत के रूप में लगान (भाडा) मिलेगा और पूँजी के लिए ब्याज। इस प्रकार कार्य के अनुसार ही वितरण किया जाता है, और इस कारण वितरण का विचार कार्य के अनुसार ही होना चाहिए।

अध्याय ३८

वितरण-संबंधी सिद्धांत

राष्ट्रीय आय उत्पत्ति के विभिन्न साधनों द्वारा उत्पन्न की जाती है, और उजरत के रूप मे उन्ही विभिन्न साधनो मे वॉट भी दी जाती है। प्रत्येक साधन का भाग मूल्य के सिद्धांत के द्वारा निश्चित किया जाता है। जिस प्रकार किसी एक वस्तु का मूल्य उस की सीमांत उपयोगिता के बराबर होता है, उसी प्रकार किसी एक साधन का मूल्य उस (साधन) की सीमांत उपज के बराबर होता है। इस प्रकार साधारण रीति से सीमांत उपज का सिद्धात ही वितरण का केंद्रीय सिद्धात माना जाता है। इस का सविस्तर विवेचन आगे के पृष्ठो मे किया जा रहा है।

वितरण का केंद्रीय सिद्धात

जिस प्रकार किसी एक व्यक्ति के लिए किसी एक वस्तु की सीमांत उपयोगिता उस वस्तु की उस इकाई की उपयोगिता होती है जिसे वह चलतू बाजार दर पर खरीदने के लिए अंतिम बार राजी होता है, उसी प्रकार किसी एक साधन की सीमांत उपज उस (साधन) की उस इकाई की उपज होती है जिस (इकाई) को उत्पादक चालू दर पर अंत मे काम मे लगाने के लिए राजी होता है। अब सवाल उठता है सीमात उपज की माप का। अन्य सभी साधनो की पूर्ति के पूर्ववत् बनी रहने पर एक खास साधन की केवल एक इकाई बढाने से उत्पादक को पहले की कुल उपज के मुकाबले मे जितनी अधिक उपज प्राप्त होगी, वही उस साधन की सीमात उपज मानी जायगी। मान लो कि एक कारख़ाना है। उस मे किसी एक वस्तु की १०० इकाइयां प्रति-दिन तैयार होती है। अब उत्पादक अन्य सब

सीमात उपज का निर्णय कैसे ?

साधनों को तो पहले की तरह ही रहने देता है, किंतु केवल एक मज़दूर और बढा लेता है। एक मज़दूर के बढ जाने पर अब उस वस्तु की १०२ इकाइयां तैयार होने लगती हैं। इस से सिद्ध होता है कि एक मज़दूर की सीमांत उपज उस वस्तु की दो इकाइयों के बराबर है। इस प्रकार मोटे हिसाब से, किसी एक साधन की सीमांत उपज की माप की जाती है। किसी उत्पादन-कार्य मे जब किसी एक साधन की एक बहुत ही छोटी इकाई जोड दी जाती है (या उस मे से कम कर दी जाती है) किंतु अन्य सभी साधन और बातें ठीक पहले ही की तरह रहती है, तब उस एक इकाई के बढने (या कम होने) से कुल उपज मे जो वृद्धि (या कमी) होती है, वही उस साधन की इकाई की सीमांत उपज ठहरती है। इसी प्रकार प्रत्येक साधन की सीमांत उपज का निर्णय किया जाता है। और चूँकि प्रत्येक साधन की सभी इकाइयां रूप, गुण आदि मे एक-सी ही मानी जाती हैं, इस कारण प्रत्येक साधन की सब से अंत मे उपयोग मे लाई जाने वाली इकाई की उपज के द्वारा ही उस साधन की अन्य सभी इकाइयों की उजरत की दर का फैसला हो जाता है। यानी अंतिम इकाई को उस की सीमांत उपज के बराबर ही उजरत दी जाती है, और वही उजरत उस साधन की अन्य सभी इकाइयों को मंज़ूर करनी पडती है। यदि उस साधन की कोई एक इकाई उस प्रचलित उजरत को लेना मंज़ूर न करे तो वह निकाल दी जायगी और उस के स्थान पर अन्य इकाई लगा ली जायगी।

सीमांत उत्पादकता का नियम क्रमागत - ह्रास - नियम पर अवलंबित

जिस प्रकार सीमांत उपयोगिता का नियम क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम से निकला है, उसी प्रकार सीमांत उत्पादकता का नियम उत्पादन-कार्य मे लागू होनेवाले क्रमागत-ह्रास नियम से निकला है। किसी एक उत्पादन-कार्य मे अन्य सभी साधनों और बातों के पूर्ववत् रहने पर किसी एक ख़ास साधन की जैसे-जैसे और अधिक

इकाइयां उपयोग में लाई जायँगी, वैसे ही वैसे, कुछ समय तक तो सभव है कि उत्पत्ति, उस साधन की इकाइयों की वृद्धि के अनुपात में, अधिक हो, किंतु कुछ समय वाद ऐसा भी होगा कि इकाइयों की वृद्धि के अनुपात मे, उत्पत्ति की वृद्धि कम होने लगे। फिर ऐसा भी समय आएगा जब उस साधन की एक और अधिक इकाई के वढाने से केवल उतनी ही उत्पत्ति हो जितनी कि उस इकाई को उजरत देनी पडती है। उत्पादक इसी स्थान पर उस साधन की और अधिक इकाई का वढाना वद कर देगा, क्योंकि आगे जो भी इकाई वह लगावेगा, उस के कारण जो अधिक उपज होगी वह (उपज) उस इकाई को दी जानेवाली उजरत से कम होगी (और इस कारण उत्पादक को हानि होगी)। जिस इकाई की उत्पत्ति उस की उजरत के वरावर होती है वही सीमांत इकाई मानी जाती है, और उस की उजरत से ही उस साधन की सभी इकाइयों की उजरत निश्चत की जाती है।

सीमात उत्पत्ति-नियम के संवंध मे चार वातें मान लेनी पडती है।

चार बातों को मान लेना पडता है

पहली तो यह कि प्रत्येक साधन की सभी इकाइयां गुण, रूप, कार्य आदि सभी वातों मे एक ही समान है, और इस कारण कोई भी इकाई किसी भी दूसरी इकाई के स्थान पर ठीक उसी तरह से उपयोग मे लाई जा सकती है। दूसरी बात यह कि किसी एक वस्तु के उत्पादन कार्य मे विभिन्न साधन एक-दूसरे को पूरा सहयोग देते है किंतु आवश्यकता पडने पर कोई भी एक साधन किसी भी दूसरे साधन के स्थान मे उपयोग मे लाया जा सकता है। अर्थात् सीमा पर उत्पादक-भूमि की अधिक मात्रा का उपयोग कर सकता है और श्रम तथा पूँजी का उपयोग अपेक्षाकृत कम, या श्रम की मात्रा का अधिक उपयोग कर सकता है और भूमि और पूँजी का अपेक्षाकृत कम मात्रा मे, या पूँजी का अधिक मात्रा मे उपयोग कर सकता है और उस के स्थान मे श्रम और भूमि की मात्राओं का अपेक्षाकृत कम। तीसरी

बात यह कि साधनों के उपयोग मे निरंतर परिवर्तन होता रहता है। और चौथी बात यह कि सारी बाते क्रमागत-ह्रास नियम पर ही अवलंबित रहती है और क्रमागत-ह्रास नियम के अनुसार ही सारा परिवर्तन होता रहता है।

इस प्रकार कुल राष्ट्रीय आय उत्पत्ति के साधनों मे लगान (या भाडा) मज़दूरी, सूद, वेतन और लाभ के रूप मे बॅट जाती है और उत्पादन-कार्य मे योग देनेवाले प्रत्येक साधन को मॉग और पूर्ति के नियम के अनुसार इस वितरण मे भाग मिलता है। प्रत्येक व्यवस्थापक प्रतिस्थापन नियम के अनुसार विभिन्न साधनों को इस प्रकार से और इस परिमाण मे अपने उत्पादन कार्य मे उपयोग मे लाता है जिस से उसे कम से कम लागत ख़र्च मे अधिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त हो सके। इसी कारण वह प्रत्येक साधन के उसी परिमाण को उपयोग मे लाएगा जिस से उस साधन की अंतिम मात्रा की सीमांत उपयोगिता उस उजरत के बराबर हो जो उस साधन को काम के बदले मे दी जायगी। उस उत्पादन-कार्य मे सब से अधिक लाभ तभी होगा जब प्रत्येक साधन की सीमांत उपयोगिता आपस मे बराबर हो और प्रत्येक साधन को जो उजरत दी जाय वह उस की सीमांत उपयोगिता के बराबर हो। इस प्रकार प्रत्येक साधन की सीमांत उत्पादकता ही उस साधन की कीमत, या उत्पादन-कार्य मे योग देने की उजरत का आधार है। समान क्षमता वाले मजदूरों को एक उत्पादन-कार्य मे बराबर-बराबर मज़दूरी मिलेगी और प्रत्येक मज़दूर की मजदूरी उस की सीमात उपयोगिता के बराबर होगी।

उजरत सीमात उपयोगिता के बराबर

यदि मजदूरी मज़दूर की सीमांत उपयोगिता से अधिक होगी तो व्यवस्थापक मजदूरो को काम मे लगाने के लिए राज़ी न होगे। क्योंकि उन्हें (व्यवस्थापको को) उपज से अधिक मज़दूरी देनी पड़ेगी। इस कारण व्यवस्थापकों को नुकसान होगा। मज़दूरों मे प्रतिद्वंद्विता बढ़ेगी और अंत मे मज़दूरी

कम होकर सीमांत उपयोगिता के बराबर आ जायगी। यदि मजदूरी सीमांत उपयोगिता से कम होगी तो मज़दूरों को काम में लगाने में व्यवस्थापकों को लाभ अधिक होगा। इस से प्रत्येक व्यवस्थापक अधिकाधिक मजदूर लगाने का प्रयत्न करेगा। इस से उन में प्रतिद्वंद्विता होगी और मजदूरी बढेगी, और अंत मे वह सीमांत उपयोगिता के बराबर आ जायगी।

अन्य साधनो के संबंध मे भी यही बात लागू होती है। उन की उजरत भी सीमांत उपयोगिता के बराबर होती है।

उजरत सीमांत-पूर्ति के बराबर

दूसरा प्रश्न है पूर्ति का। प्रत्येक साधन की उजरत उस की पूर्ति की कीमत के बराबर होती है। प्रत्येक साधन की तैयारी मे कुछ खर्च पडता है। कारीगरो को काम सीख कर कुशलता प्राप्त करने मे व्यय उठाना पडता है। यही व्यय 'पूर्ति की कीमत' कहलाता है। किसी उत्पादन-कार्य मे अपनी सेवा द्वारा योग देते समय प्रत्येक साधन को उस काम के लिए उजरत के रूप में इतना अवश्य मिलना चाहिए जो उस साधन की सीमांत पूर्ति की कीमत के बराबर हो। यदि पूर्ति की कीमत से काम से मिलने वाली उजरत अधिक होगी तो अधिक मजदूर उस काम मे आने की कोशिश करेगे और व्यवस्थापक कम मजदूरो को रखना चाहेगे। इस से मजदूरो मे प्रतिद्वंद्विता होगी और मजदूरी कम हो जायगी। यदि उजरत पूर्ति की-कीमत से कम होगी तो कम मजदूर काम के लिए तैयार होगे। काम मे लगानेवालो मे प्रतियोगिता होगी, अस्तु मजदूरों की उजरत बढ जायगी। यही बात अन्य सभी साधनो के साथ लागू होती है। इस प्रकार प्रत्येक साधन की उजरत एक ओर तो उस की सीमांत उपयोगिता के बराबर होगी और दूसरी ओर उस की पूर्ति की कीमत के बराबर। इस प्रकार प्रतियोगिता के कारण एक बाजार मे उत्पादन के विभिन्न कामों मे मज़दूरो की मजदूरी की, पूँजी के सूद की, भूमि के लगान (या भाडे) की दर प्रायः बराबर ही रहती है।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय का वितरण होता है ।

यहां यह मान लिया गया है कि सभी मजदूरों की क्षमता समान है। पर सभी मजदूर एक से नही होते । जिन मे कोई विशेषता होती है उन्हें साधारणतः सब मे पाई जानेवाली क्षमता के लिए साधारण प्रचलित मज़दूरी दी जाती है, पर साथ ही उन की विशेष क्षमता के लिए कुछ विशेष मज़दूरी दी जाती है । इस प्रकार साधारण नियम मे कोई अंतर नही पडता । यही बात अन्य साधनो के विभिन्न प्रकारो के संबंध में भी लागू होती है ।

सतर्क और बुद्धिमान व्यवस्थापक इस प्रकार से विभिन्न साधनो का उपयोग करने की चेष्टा करेगा कि व्यय की एक खास मात्रा के बदले मे पहले से अधिक परिमाण मे उत्पत्ति हो अथवा पहले की अपेक्षा कम व्यय मे उत्पत्ति की वही मात्रा प्राप्त हो जो पहले प्राप्त हुई थी। इस प्रयत्न में उसे प्रतिस्थापन सिद्धांत के अनुसार साधनों की मात्रा बराबर बदलते रहना पडता है । इस से उसे भी लाभ होता है और समाज को भी । उन्नति के मूल में यही प्रतिस्थापन, परिवर्तन वाला नियम काम करता हैं । कभी किसी कार्य में अधिक मज़दूर लगाए जाते हैं और कम पूंजी; और कभी कम मजदूर और अधिक पूंजी । जो साधन अपेक्षाकृत सस्ता किन्तु अधिक उत्पादक होगा वह उस साधन के स्थान पर अधिक लगाया जायगा जो (साधन) अपेक्षाकृत मेंहगा और कम उत्पादक होगा । प्रतिस्थापन नियम क्रमागत-ह्रास नियम पर अवलंबित हैं । जैसे-जैसे किसी एक कार्य में एक खास वस्तु या साधन की मात्राएं अधिकाधिक उपयोग में लाई जाती हैं, वैसे ही वैसे उस वस्तु या साधन की आगे ली जानेवाली इकाई की उपयोगिता पूर्व की इकाई की अपेक्षा कम होती जाती है । इस कारण उत्पादक उत्पादन-कार्य में इस प्रकार विभिन्न साधनो के विभिन्न परिमाणों का उपयोग करता है कि प्रायः सभी साधनो की सीमांत उपयोगिता

प्रतिस्थापन नियम और साधना का उपयोग

करीव-करीव वरावर वरावर ही रहे। इस के लिए उत्पादक को तीन वातो का निर्णय करना पडता है। एक तो यह कि जो कार्य वह करना चाहता है उस के विभिन्न अंगो या विभागों मे से कौन कितना आवश्यक और महत्वपूर्ण है। दूसरे यह कि कार्य के प्रत्येक विभाग को सफल वनाने वाले साधनों मे से कौन कितना हितकर और आवश्यक है। तीसरे यह कि ऊपर की दोनो वातो को ध्यान मे रखते हुए किस साधन का किस मात्रा मे उपयोग करना अधिक से अधिक लाभदायक होगा और साथ ही उस पर कम से कम खर्च पडेगा।

यदि किसी को वाजार मे दूकाने वनवानी है तो पहले वह यह तय करेगा कि किस स्थान पर, कैसी दूकाने वनवाने से अधिक से अधिक लाभ होगा। यह तय हो जाने पर वह यह निर्णय करेगा कि दूकानो के वनाए जाने मे किन-किन साधनो को काम मे लाना अधिक लाभदायक होगा। इस के वाद वह इस का निर्णय करेगा कि कितने मजदूर, कितने राज, कितने वढई आदि लगाने से कम खर्च और अपेक्षाकृत अधिक लाभ होगा, ईंट, चूना, सीमेट, लोहे का सामान, लकडी का सामान आदि कितने-कितने परिमाण मे लगाए जाने से अधिक से अधिक लाभ होगा। सम-सीमात नियम के अनुसार उसे तभी सव से अधिक लाभ होगा जव प्राय॰ प्रत्येक वस्तु या साधन की उतनी ही मात्रा उपयोग मे लाई जायगी जिस से सव की उपयोगिता करीब-करीब वराबर-वरावर हो।

एक किसान को खेती करनी है। पहले वह यह तय करेगा कि उस खेत मे उस समय क्या वोना चाहिए। यह तय हो जाने पर कि गेहू वोना अधिक लाभदायक होगा, वह गेहू वोने के लिए तैयार होता है। अव उस के सामने सवाल है साधनो का। उसे तय करना पडता है कि किस तरह का कितना वीज वोना चाहिए। हल मजदूर आदि के काम का क्या कैसा अनुपात होना चाहिए। इस सवंध मे वह प्रत्येक को वही तक उपयोग मे लायेगा जहां तक कि प्रत्येक इकाई की उपयोग से प्राप्त होनेवाली

औसत उपज इतनी तो हो जितनी कि उसे उजरत देनी पडती है। इस से आगे वह इस साधन की मात्रा को काम मे न लाएगा। नीचे के कोष्टक से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

मज़दूरोंकी संख्या	कुलउपज	अंतिममज़दूर केकारणउपज	प्रतिमज़दूर औसत	मज़दूरी	कुलउपजसे मज़दूरीनिकालनेपरबचत
४	८०	२०	२०	४०	४०
५	९५	१५	१९	५०	४५
६	१०५	१०	१७$\frac{१}{२}$	६	४५
७	११०	५	१५$\frac{५}{६}$	७०	४०
८	११२	२	१४	८०	३२

उपज और मजदूरी की संख्याएं 'मन गेहू' सूचित करती है।

ऊपरवाले कोष्टक से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि उत्पादक चार मजदूर लगाता है तो ८० मन गेहूं की कुल उपज होती है और दस मन प्रति मजदूर के हिसाब से ४ मज़दूरों को मजदूरी मे ४० मन गेहूं दे देना पडता है। बचत ४० मन की होती है। यदि ५ मज़दूर लगाए जाते है तो औसत भी घट जाती है और पाँचवे मजदूर की मेहनत के फलस्वरूप केवल १५ मन गेहूं और अधिक प्राप्त होते है। ख़र्च काटने पर कुल उपज मे ५ मन की वृद्धि रह जाती है। छठवे मजदूर को उसे जितना देना पडता है ठीक उतनी ही उपज उस के कारण होती है। कुल उपज मे भी पहले की अपेक्षा कुछ वृद्धि नही होती। हानि न होने से उत्पादक यह सोचेगा कि इस मज़दूर को रहने दूं या नही। किंतु सातवां मज़दूर तो वह रक्खेगा ही नही, कारण कि उसे उस के रखने मे पॉच मन की हानि उठानी पड़ेगी। सातवे मज़दूर के कारण उत्पादक को केवल ५ मन गेहू मिलते है, पर देना पडता है उसे १० मन अर्थात् ५ मन, अपने पास मे देना पडता है।

इस कारण वह सातवे मज़दूर को तो रक्खेगा ही नहीं। छठे मजदूर के श्रम से जितनी उपज होती है, मजदूरी में उसे उतना ही दे भी देना पडता है। इस कारण छठा मज़दूर सीमांत मज़दूर होगा, और उस खेत पर उत्पादक छः मज़दूर तक रख सकेगा। अन्य साधनो के संबंध मे भी इसी तरह से निर्णय किया जायगा।

यहां यह बात ध्यान देने की है कि सीमांत मजदूर के द्वारा उत्पादन की कितनी मात्रा प्राप्त होगी यह इस बात पर निर्भर होगी कि उत्पादक कितने मजदूरो को पहले से उस काम मे लगाए हुए है, और यह उस काल की मॉग और पूर्ति की साधारण स्थिति पर निर्भर होगा। उस काल की मॉग और पूर्ति की साधारण स्थिति का आधार उस काल मे प्राप्त होनेवाले मजदूरो की सख्या पर और उन की परिस्थिति पर, गेहू की मॉग पर, उस चेत्र के विस्तार पर जिस मे कि गेहू उत्पन्न किया जा रहा है, तथा इसी प्रकार की अन्य परस्पर प्रभाव डालने वाली बातो पर स्थित रहेगा। इस के साथ ही सीमात उपज पर इस बात का भी बहुत अधिक प्रभाव पडता है कि भूमि अन्य किन-किन उपयोगो में लाई जाती है और उन अन्य उपयोगो की आवश्यकता की तीव्रता क्या-कैसी है।

उजरत सीमात उपज के बराबर

अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, प्रत्येक वर्ग के मजदूरो की उजरत उस वर्ग के सीमात मजदूर की असली उपज के बराबर होती है। यह इस लिए कि चमता तथा उत्पादन-शक्ति आदि मे किसी एक वर्ग या श्रेणी का प्रत्येक मजदूर समान माना जाता है। यदि कोई एक मजदूर उस उजरत को स्वीकार न करे तो वह निकाल दिया जायगा और उस के स्थान पर एक अन्य मजदूर रख लिया जायगा जो उतनी ही मेहनत करेगा, उत्पादन-कार्य मे किसी से कम न ठहरेगा। इस कारण उस वर्ग के सभी मजदूरो को उस वर्ग के सीमात मजदूर के बराबर ही उजरत मिलेगी। मज़दूरो की तरह ही अन्य साधनो की उजरत का भी निर्णय सीमात उपज तथा प्रति-

स्थापन सिद्धांत के द्वारा किया जाता है। यदि ब्याज की दर ५) प्रति सैकडा हो तो एक उत्पादक १००) की पूँजी तभी लगाएगा जब उस पूँजी के कारण कम से कम ५) से अधिक उपज होगी। यदि सूद की दर गिर जाय, ब्याज ४) सैकडा हो जाय तो उत्पादक और अधिक पूँजी का उपयोग करेगा, क्योंकि उसे उस से अपेक्षाकृत अधिक लाभ होगा। साथ ही पूँजी के कारण अधिक लाभ होते देख सभी उत्पादक अधिकाधिक पूँजी लगाने लगेंगे। इस से पूँजी की माँग बढ जायगी। इस कारण ब्याज की दर चढ जायगी। पूँजी का परिमाण यहां तक लगता चला जायगा, जब तक कि (क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार) उस पूँजी के कारण जो उपज होगी वह ब्याज की दर के बराबर न आजायगी। जब पूँजी की अंतिम इकाई के कारण होनेवाली उपज ब्याज की दर के बराबर आ जायगी, तब उत्पादक उस से आगे पूँजी की और अधिक इकाई को लगाना बंद कर देगा, क्योंकि पूँजी कि और अधिक इकाई लगाने से उसे हानि होगी। पूँजी की सीमांत इकाई को उपज के अनुसार उजरत दी जायगी और वही उजरत पूँजी की सभी अन्य इकाइयों को मिलेगी।

भूमि, मशीन, कुशल श्रम, अकुशल श्रम आदि उत्पत्ति के साधन वहीं तक किसी उत्पादन-कार्य मे लगाए जायेंगे जहां तक कि वे लाभदायक होंगे। यदि दस अकुशल श्रमियों के स्थान पर ५ कुशल श्रमियों को लगाने से उत्पादक को अपेक्षाकृत अधिक लाभ देख पड़ेगा तो वह ५ कुशल श्रमियों को काम मे लगा लेगा और दस अकुशल श्रमियों को अलग कर देगा। यदि उसे १०० मज़दूरों को निकाल कर एक मशीन के रूप मे पूँजी लगाने मे अपेक्षाकृत अधिक लाभ देख पडेगा तो वह मजदूरों के स्थान पर मशीन से काम लेगा। जो भी साधन अन्य साधन की अपेक्षा अधिक लाभदायक होगा वही उस अन्य साधन के स्थान पर लगाया जायगा; और प्रत्येक साधन उसी हद तक उपयोग में लाया जायगा जहां तक उस के उपयोग से लाभ होगा, यानी जब तक उस की सीमांत

इकाई की उपज उस की उजरत के बराबर न आजायगी। उत्पादक कार्य पर किए जानेवाले व्यय की विभिन्न मदो की जॉच करेगा और सीमात वास्तविक उपज को ध्यान मे रखते हुए जिस साधन के कुछ बढाने से उपज में वृद्धि होगी उसे बढाएगा, और जिसे घटाने से लाभ होगा उसे घटाएगा। उत्पादन-व्यय को कम करना और उपज को बढाना ही उत्पादक का उद्देश्य होता है। उसे पूरा करने के लिए साधनो के उपयोग मे उसे जो भी परिवर्तन करने पडते है, वह करता रहता है।

उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के उपयोगों की व्यवस्था मॉग और पूर्ति की साधारण स्थितियो द्वारा की जाती है। एक ओर तो मॉग का चक्र चलता रहता है, और दूसरी ओर पूर्ति का। एक ओर तो इस बात का प्रभाव पडता है कि जिन विभिन्न उपयोगों मे वह साधन प्रयुक्त हो सकता है वे सब कितने महत्वपूर्ण और आवश्यक है तथा जिन को उस साधन की जरूरत है उन के पास ख़रीदने की क्या, कितनी शक्ति है। दूसरी ओर इस बात का प्रभाव पडता है कि उस साधन का कितना भाडार (स्टाक) उपलब्ध है। इन दोनों बातों के सम्मिलित प्रभाव के अनुसार प्रतिस्थापन नियम के द्वारा इस का निर्णय होता रहता है कि जिस उपभोग मे उस साधन से कम लाभ होता है उस मे उस (साधन) की कम मात्रा प्रयुक्त होती है, बनिस्वत उस उपभोग के जिस मे उस साधन के प्रयोग से अधिक लाभ होता है। यदि किसी उत्पादन-कार्य मे कुशल श्रमियो के कारण अधिक लाभ होता देख पडेगा तो उस मे कुशल श्रमी अधिक लगाए जायँगे। जिस कार्य मे मशीन के प्रयोग से अधिक लाभ देख पडेगा, उस मे मशीन का उपगोग अपेक्षाकृत अधिक किया जायगा। प्रत्येक अवस्था मे सीमात उपयोग और प्रत्येक साधन की सीमात उपयोगिता पर नजर रक्खी जायगी और सीमात उपभोग, सीमात उपज, और सीमात उपयोगिता के द्वारा ही परिवर्तन निश्चित होते रहेगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि किसी एक साधन की सीमात उपयो-

सीमांत उपयोगिता का आधार

गिता का निर्णय किस के द्वारा होता है? किस का प्रभाव साधन की सीमांत उपयोगिता पर पड़ता है? इस के लिए उस साधन की पूर्ति के परिमाण की ओर ध्यान देना होगा। यदि पूर्ति का परिमाण अधिक होगा तो उस साधन का उपयोग ऐसे कार्यों के लिए भी किया जायगा जिन मे उस साधन की उपयोगिता कम है। साथ ही वह जिन कामों में अभी तक प्रयुक्त होता था उन मे और अधिक मात्रा मे प्रयुक्त हो सकेगा। दोनों ही हालतों मे उस की सीमांत उपयोगिता कम हो जायगी। इस के विपरीत यदि पूर्ति का परिमाण कम हो जाय तो उस साधन का उपयोग जिन कामों मे होता आ रहा है उन मे भी कम मात्रा मे होगा। इस से उस की सीमांत उपयोगिता बढ जायगी। पूर्ति का परिमाण दो बातों पर निर्भर रहता है। एक तो उस समय के उपलब्ध भांडार पर और दूसरे उसे उत्पादन के कार्यों मे लगाने के लिए उन व्यक्तियों की इच्छा पर जिन के हाथों मे वह भांडार रहता है। यह इच्छा दो बातों पर निर्भर रहती है। एक तो तत्काल प्राप्त होनेवाली आय पर और दूसरे उस साधन के उत्पादन-व्यय पर। यदि तत्काल प्राप्त होनेवाली उजरत इतनी न होगी कि उस से उत्पादन-व्यय पूरा हो सके तो उस साधन की पूर्ति की मात्रा मे कमी पड जायगी। यदि उजरत उत्पादन-व्यय से अधिक हुई तो उस वस्तु की पूर्ति की मात्रा और अधिक बढ जायगी क्योंकि पहले जो उस साधन के उत्पादन-कार्य मे लगे है वे और अधिक परिमाण मे उस साधन का उत्पादन करेगे। साथ ही उस वस्तु से अधिक लाभ होने के कारण अन्य उत्पादक भी इसी साधन के उत्पादन मे लग जायेंगे। यदि उस साधन की उजरत उत्पादन-व्यय से कम होगी तो पूर्ति के परिमाण के कम होने से अंत मे उजरत बढ कर उत्पादन व्यय के बराबर आ जायगी। यदि उजरत उत्पादन-व्यय से अधिक होगी तो उस साधन के अधिक उत्पादन के कारण उजरत कम होती-होती अंत

मे उत्पादन-व्यय के बराबर आ जायगी। इस प्रकार किसी साधन की उजरत और सीमांत उपयोगिता उन समस्त कारणो के द्वारा निश्चित की जाती है, जिन पर मॉग और पूर्ति निर्भर रहती है।

अन्य साधनों मे भूमि मे कुछ विशेपता है। मॉग के बढ़ जाने से अन्य साधनों के परिमाण बढाए जा सकते है। किंतु भूमि का परिमाण प्रकृति द्वारा निश्चित कर दिया गया है। मॉग के घटने-बढने से भूमि का परिमाण घटता-बढता नही। उस का परिमाण निश्चित रहता है। यदि कोई उत्पादक एक और नई मशीन अपने कारख़ाने के काम के लिए लेना चाहे, या एक किसान एक और नया हल अपने खेती के काम के लिए इस्तेमाल करना चाहे तो वह मशीन या हल किसी दूसरे के काम या इस्तेमाल से न छीना जायगा। वरन् नया बना लिया जायगा। इस प्रकार किसी एक उत्पादक के एक और अधिक नई मशीन या नया हल इस्तेमाल मे लाने से राष्ट्र के द्वारा भी एक और अधिक नया हल या नई मशीन इस्तेमाल मे लाई जायगी। किंतु यदि एक किसान एक एकड और अधिक भूमि अपने खेती के काम के लिए लेना चाहे तो उसे किसी दूसरे किसान के इस्तेमाल से ज़मीन के उतने टुकडे को छीनना या लेना पड़ेगा, क्योंकि नए सिरे से ज़मीन की इस प्रकार उत्पत्ति नहीं की जाती जिस तरह से कि मशीन, हल आदि की की जा सकती है। एक किसान के एक एकड और अधिक जमीन के अपनी खेती के काम मे लेने से राष्ट्र के इस्तेमाल मे एक और एकड भूमि न आ सकेगी, कारण कि जितनी भूमि पहले ही राष्ट्र के इस्तेमाल मे थी उस के परिमाण मे कोई भी अंतर नही पडता। केवल एक किसान के हाथ से निकल कर एक एकड भूमि का टुकडा दूसरे किसान के हाथ मे चला जाता है।

भूमि मे विशेषता

यदि मज़दूरो की किसी श्रेणी की उजरत बढ जाय तो तीन बाते होंगी। प्रत्येक मज़दूर को पहले की अपेक्षा अधिक मज़दूरी मिलेगी। इस कारण वह अपने और अपने

उजरत का प्रभाव

कुटुंब के ऊपर पहले की अपेक्षा अधिक ख़र्च कर सकेगा। यदि वह अपनी शक्ति, क्षमता, कुशलता बढाने के लिए अधिक उद्योगशील होगा, अपने को अधिक कुशल बनाने की चेष्टा करेगा तो उस की उत्पादन-शक्ति बढ जायगी। इस से उस श्रेणी के द्वारा जनता और राष्ट्र को सस्ते मे अधिक उत्तम कार्य प्राप्त हो सकेगा। वस्तुएं सस्ती होंगी। उस श्रेणी के मज़दूरों को भी पहले के मुकाबले मे अधिक सस्ती वस्तुएं उपभोग के निमित्त प्राप्त होंगी। इस से उस श्रेणी की क्षमता और बढ़ेगी। इस से उजरत के बढवाने मे आसानी होगी। उस श्रेणी के मज़दूर और अधिक ख़ुश-हाल होंगे। दूसरे उस श्रेणी की उजरत के बढ जाने से उस श्रेणी का प्रत्येक मजदूर अपने बच्चो की तैयारी के लिए अधिक खर्च कर सकेगा। इस से उस श्रेणी के आगे काम करनेवाले मजदूर भी अधिक योग्य तथा कुशल होंगे। इस से भी जनता और राष्ट्र को लाभ होगा, साथ ही उस श्रेणी की उजरत बढ सकेगी। तीसरी स्थिति यह होगी कि यदि मज़दूर अपनी बढी हुई उजरत को अपने कुटुंब पर खर्च करके अधिक संख्या में संतान उत्पन्न करने लगे तो उस श्रेणी के मज़दूरो की संख्या तो बढ जायगी पर यदि संख्या की वृद्धि के साथ ही उन की योग्यता-क्षमता न बढी, तो बढी हुई संख्या के कारण उस श्रेणी की उजरत कम हो जायगी, और पुरानी उजरत के बराबर रह जायगी। इस प्रकार किसी श्रेणी के मज़दूरों की उजरत के बढ जाने से तीन बाते होंगी:—(१) उस श्रेणी के मजदूरों की योग्यता-क्षमता, उत्पादन-शक्ति बढ जायगी; (२) उस श्रेणी के मज़दूरों की संख्या बढ जायगी; (३) उस श्रेणी के मज़दूरों की संख्या भी बढ़ेगी और साथ ही योग्यता-क्षमता, उत्पादन-शक्ति भी बढ़ेगी।

यदि मज़दूरों की योग्यता-क्षमता, उत्पादन-शक्ति बढने के कारण वे पहले से अधिक उजरत लेगे तो राष्ट्र को अथवा अन्य किसी भी साधन को कोई हानि न होगी। कारण कि उत्पादन शक्ति बढ जाने से प्रत्येक मज़दूर पहले से अधिक परिमाण मे उत्पादन करेगा। इस कारण राष्ट्रीय

आय या निधि पहले की अपेक्षा अधिक होगी। अब यदि इस बढ़ी हुई निधि मे से उस श्रेणी का प्रत्येक मज़दूर पहले की अपेक्षा कुछ अधिक ही ले लेता है तो इस से किसी दूसरे स्थान को कुछ भी हानि नहीं होती, क्योंकि मज़दूर जो थोडा अधिक हिस्सा लेता है वह राष्ट्र की पहले की अपेक्षा बढी हुई आय में से लेता है, न कि अन्य किसी साधन के हिस्से मे से छीन कर। राष्ट्रीय आय मे पहले की अपेक्षा वृद्धि होने के कारण मज़दूर को पहले से कुछ अधिक भाग मिल जाता है, साथ ही अन्य किसी भी साधन के हिस्से मे कमी नहीं पडने पाती।

अन्य साधनों को एक साधन के कारण लाभ

पहले कहा जा चुका है कि वर्ष भर मे जितनी वस्तुएं उत्पन्न की जाती है उन सब का सम्मलित भांडार ही वह निधि है जिस मे से विभिन्न साधनो को उन के उपयोगो के कारण वितरण मे भाग दिया जाता है। अन्य सब बातों के पूर्ववत् रहने पर यह भांडार जितना ही अधिक बडा होगा, प्रत्येक साधन का हिस्सा भी उसी अनुपात से अधिक होगा। जिस साधन के उपयोग की जितनी ज़रूरत होती है, जिस साधन की उपयोगिता जिस कार्य के निमित्त जितनी ही अधिक और महत्वपूर्ण होती है। उसे उतनी ही अधिक उजरत मिलती है। इस का निर्णय सीमांत उपयोगिता के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक साधन को उस की सीमात उपयोगिता के अनुसार उजरत दी जाती है। अब यदि किसी एक साधन को. अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर अधिक उजरत मिलती है तो उस की संख्या का परिणाम अधिक बढ़ेगा। किंतु संख्या बढने से, जैसा ऊपर देखा जा चुका है, उस साधन की सीमांत उपयोगिता कम हो जाती है, और सीमांत उपयोगिता के कम होने से उस की उजरत कम हो जाती है। उस की उजरत तो कम हो गई। पर राष्ट्रीय निधि मे तो कमी नही पडी। भांडार तो पूर्ववत् ही रहा। अब चूंकि एक साधन ने पहले की अपेक्षा अपने हिस्से के रूप मे कम पाया, तो उस के हिस्से का बचा हुआ भाग

अन्य साधनो के बीच मे बँट जायगा । इस प्रकार एक साधन की संख्या मे वृद्धि होने के कारण उस की उजरत मे तो कमी पड गई, पर अन्य साधनों के हिस्से पहले की अपेक्षा अनायास ही वढ गए । इस प्रकार विभिन्न साधन एक दूसरे की उजरत पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते और प्रभावित होते रहते है । नवीन आविष्कारो, सुधारो, मशीनो आदि के द्वारा श्रमियो की उत्पादन-शक्ति और उजरत वढ गई है, और श्रमियो के कौशल, उद्योग आदि के कारण पूँजी की उत्पादन-शक्ति वढ जाती है । योग्य प्रबंधक के सुप्रबंध के कारण साधारण मजदूरो की उत्पादन-शक्ति वढ़ जाती है । इस प्रकार विभिन्न साधन एक दूसरे को मदद पहुँचाते है । साथ ही यह भी होता है कि मज़दूरों के स्थान पर मशीनो से काम लिया जाता है और पूँजी के स्थान पर श्रम से । इस प्रकार विभिन्न साधन एक-दूसरे की प्रतिद्वंद्विता मे भी काम करते देख पडते हैं । इस प्रकार विभिन्न साधन एक-दूसरे से सहयोग और प्रतियोगिता करते हुए जो राष्ट्रीय आय उत्पन्न करते है उसी का वितरण माँग-पूर्ति की साधारण स्थिति के अनुसार सीमात उपज को ध्यान मे रख कर किया जाता है ।

सिद्धात पर आक्षेप

वितरण-संबंधी इस सिद्धांत पर अनेक अर्थशास्त्रियों ने अनेक प्रकार के आक्षेप किए है । संक्षेप मे वे आक्षेप तथा उन के समाधान दिए जाते है ।

(१) प्रत्येक उत्पादन-कार्य मे उत्पन्न की हुई वस्तु सभी साधनो की सम्मिलित उपज होती है । ऐसी दशा मे यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक साधन के कारण उस उपज का इतना भाग तैयार हो सका । प्रत्येक साधन की उपज पृथक् करना और उसे मापना संभव नहीं है ।

इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार होगा । सभी साधन सम्मिलित रूप से उत्पादन कार्य मे लगाए जाते हैं और उन के सम्मिलित उद्योग से उत्पादन होता है । किन्तु सीमान्त उत्पादकता-नियम के अनुसार ही प्रत्येक की उत्पादकता के निर्णय करने की चेष्टा की जाती है । प्रत्येक साधन की

उपज को पृथक्-पृथक् मापने का और दूसरा उपाय ही नही है। वैसे तो जितने भी विभिन्न पदार्थ मंडी मे आते है, उन मे से प्रायः सभी की माँग अन्य पदार्थो की माँग पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। ऐसी दशा में उन के मूल्य का पृक्थ-पृथक् निर्णय करना उसी प्रकार से असभव जान पडता है जैसे विभिन्न साधनो की उपज या उजरत के प्रश्न को हल करना। किंतु मंडी मे सीमात-उपयोगिता के सहारे प्रत्येक पदार्थ के मूल्य का निर्णय कर ही लिया जाता है। उसी प्रकार सीमात उपज के सहारे प्रत्येक साधन की उपज और उजरत के प्रश्न को हल करने की चेष्टा की जाती है।

(२) सीमात उपज के द्वारा किसी एक साधन की सेवाओ (उपयोगिता) की ठीक-ठीक माप नहीं की जा सकती। कारण कि जब उत्पादन-कार्य से किसी एक साधन की एक इकाई अलग कर दी जायगी तो उस के अलग हो जाने से सारा उत्पादन-कार्य इतना विश्रंखलित हो जायगा कि अन्य साधनो और उस साधन की अन्य इकाइयो की उत्पादकता बहुत घट जायगी। ऐसी दशा मे सीमांत इकाई के पृथक् किए जाने से समस्त उपज से जितनी मात्रा मे कमी आएगी वह (कमी की मात्रा) उस मात्रा से अधिक होगी जो यथार्थ मे उस पृथक् होनेवाली इकाई की असली उपज होती। यदि सीमांत इकाई की असली उपज १० मान ली जाय तो समस्त उपज मे १५ या २० की कमी पडेगी क्योकि सीमात इकाई के निकल जाने से सभी साधनो की उत्पादकता मे कमी आ जाती है। इस से यह सिद्ध होता है कि सभी साधनो की सीमात उपजो का योग कुल उपज से कही ज्यादा ठहरेगा, और ऐसा सोचना एक हास्यास्पद बात होगी, क्योकि सीमात उपजो का योग कुल उपज से अधिक हो नहीं सकता। इस कारण सीमात उपज का नियम ठीक नहीं है।

समाधान मे यह कह सकते है कि इस तर्क मे यह मान लिया जाता है कि उत्पादन कार्य बहुत छोटी मात्रा मे है और साधनो की इकाई की मात्रा इतनी बडी है कि एक इकाई के निकाल देने पर सारे उत्पादन-कार्य

मे भारी उलट-फेर हो जाता है। किंतु सिद्धांत रूप से ही यह माना जाता है कि प्रत्येक साधन की इकाई इतनी नन्ही-सी होती है और उन के मुकाबले मे उत्पादन कार्य इतना विशालकाय होता है कि एक इकाई के निकालने-न निकालने से उत्पादन कार्य मे कोई भारी उलट-फेर नही हो सकता।

(३) सारे साधनों की सीमांत उपजो का योग कुल उपज से कम होगा, और इस प्रकार सीमात उपजों के अनुसार उजरत के दिए जाने पर भी कुछ उपज शेष रह जायगी। ऐसी दशा मे सीमांत उपज के नियम से वितरण मे गडवड पड़ेगी।

समाधान यह है कि यदि उत्पादन मे क्रमागत-समता-उत्पत्ति-नियम लागू माना जाय तव तो यह आक्षेप आप मे आप निर्मूल हो जाता है, क्योंकि समता-नियम के मान लेने पर सभी इकाइयो की उपज एक समान ही होगी। यदि समता-नियम लागू न भी माना जाय, तो भी उत्पादन-कार्य इतना विशाल माना जाता है और इकाई इतनी नन्ही मानी जाती है कि सैद्धांतिक रूप से यह मानना पडता है कि आक्षेप मे जैसा दर्शाया जाता है वैसा कुछ फर्क नहीं पडता।

(४) एक कारखाने का और उस तरह के समस्त उत्पादन कार्य (उद्योग) का जब पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा तव किसी साधन की सीमांत इकाई एक कारखाने के लिए कम उत्पादक होगी और वही सीमांत इकाई समस्त उत्पादन कार्य (उद्योग) के लिए अपेक्षाकृत अधिक उत्पादक होगी। यह इस कारण कि समस्त उत्पादन-कार्य (उद्योग) के हिसाब से एक इकाई के वढ जाने से श्रम-विभाग अधिक पूर्ण और सूक्ष्म हो सकेगा, इस लिए उस इकाई की उपयोगिता वढ जायगी। इस प्रकार एक कार-खाने के लिए विभिन्न साधनों का सीमांत उत्पादन अपेक्षाकृत कम होगा। और यदि उत्पादन-कार्य मे क्रमागत-वृद्धि-उत्पत्ति-नियम लागू माना जाय, तव तो एक कारखाने के संबंध मे सीमात उपज का निर्णय करना और

भी कठिन हो जायगा।

इस आक्षेप का समाधान करते हुए यह कह सकते है कि साधनो की उजरत का प्रश्न, समस्त उत्पादन-कार्य (उद्योग) की दृष्टि से, हल किया जाता है. और ऐसी दशा में सीमात उपज का भी विचार उसी दृष्टि से करना उचित होगा। विभिन्न कारखानो के प्रश्न भिन्न-भिन्न रहेगे ही, क्योंकि उन की स्थितियां सदा भिन्न-भिन्न रहेगी।

(४) रद्दोबदल की जितनी संभावना सीमात उपज नियम के द्वारा प्रकट होती है उतनी आसानी से साधन नही बदले जा सकते और न एक-दूसरे के स्थान पर काम मे लाए ही जा सकते हैं। प्रत्येक उत्पादन-कार्य की अपनी विशेष स्थिति और स्थायी पूंजी के उपयोग इन दो बातो से इस बात का निर्णय हो जाता है कि कौन साधन किस अनुपात मे उपयोग मे लाया जा सकता है। ऐसी दशा मे रद्दोबदल करने की कम ही गुंजाइश रह जाती है। जिस मशीन को चलाने के लिए केवल एक ही मज़दूर की दरकार होगी, उसे चलाने के लिए दो मजदूर लगाना बेकार होगा। और बिना एक मजदूर के वह चलेगी ही नही। इस प्रकार उस मशीन को उपयोग मे लाने के कारण मज़दूर की संख्या निश्चित हो जाती है। इन कारणो से जब तक हम किसी एक साधन का उपयोग न बदल सके तब तक हम उस की असली उत्पत्ति का निर्णय नही कर सकते।

इस का भी समाधान हो सकता है। उत्पादन तथा उद्योग-धंधो मे जो भी उन्नति आज देख पड रही है, और दिन-प्रतिदिन होती जा रही है, उस का कारण है साधनो का रद्दोबदल। विभिन्न उत्पादन-कार्य मे विभिन्न साधनो को विभिन्न अनुपातो मे लगाते रहने की बहुत गुंजाइश रहती है। रद्दोबदल उतना कठिन नही है, और यदि दीर्घकाल, अथवा अति दीर्घकाल के अनुसार विचार करे तब तो स्थायी पूंजी के बदलते रहने मे वैसी कोई कठिनाई नहीं आती, क्योंकि यह तो उन्नति का नियम ही है कि पुरानी मशीनो में सुधार किए जाते है और उन के स्थान मे नई-नई मशीने उप-

योग मे लाई जाती है। और विभिन्न साधन एक-दूसरे के स्थानों पर विभिन्न अनुपातों में उपयोग मे लाए जाते हैं।

(६) यह मान लिया जाता है कि साधनों की पूर्ति की मात्रा निश्चित है और तब यह बतलाया जाता है कि उन की मॉग क्यों होती है। तब यह कहा जाता है कि सीमांत उपज के कारण विभिन्न साधन किस अनुपात मे उत्पादकों द्वारा काम मे लाए जाते है। असल में साधनों की पूर्ति की मात्रा निश्चित नही रहती। साधनों की पूर्ति लोचदार होती है। प्रत्येक साधन को जो उजरत मिलती है उस का उस साधन की पूर्ति की मात्रा पर बडा प्रभाव पडता है। और इस प्रकार 'सीमांत उपज' सदा परिवर्तित होती रहती है।

इस अंतिम आक्षेप के समाधान में यह वक्तव्य है कि वितरण, तथा साधनों की उजरत का निर्णय न केवल सीमांत उपज के द्वारा होता है वरन् किसी साधन की उजरत उस की सीमांत उपज तथा उस की तैयारी में सर्फ होने वाले सीमांत लागत-व्यय के द्वारा निश्चित की जाती है। सीमांत उपज तो केवल उस मात्रा का निश्चय कर देती है, ज़्यादा से ज़्यादा जिसे देने के लिए उत्पादक तैयार हो सकता है। उत्पादक किसी भी साधन को उस की सीमांत उपज से अधिक देने को तैयार न होगा।

अध्याय ३९

मजदूरी

श्रम के लिए जो उजरत दी जाती है उसे मज़दूरी कहते है । जनता

मजदूरी और समाज की समृद्धि-सपन्नता

का अधिकाश अपनी आय के लिए किसी न किसी तरह का श्रम करता ही है । इस कारण वह श्रमजीवी श्रेणी मे आ जाता है । इस प्रकार संसार की जनता का बहुत ही बडा भाग मज़दूर या श्रमजीवी है । प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति, समृद्धि, सुख-शाति उस की अर्थिक-स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है. और साधारणतः आर्थिक स्थिति का मुख्य आधार आय होती है । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति, सुख-शाति बहुत कुछ उस की आय पर निर्भर रहती है । और चूँकि अधिकांश जनता की आय उस के श्रम और उस श्रम की उजरत के रूप मे प्राप्त होनेवाली मजदूरी पर निर्भर रहती है इस कारण जनता के अधिकाश की उन्नति-समृद्धि, सुख-शाति का प्रश्न मजदूरी पर निर्भर रहता है । इस प्रकार मज़दूरी का प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न है । संसार की उन्नति-अवनति, शाति-अशाति, समृद्धि और दरिद्रता बहुत कुछ मजदूरी के प्रश्न से संबंधित है ।

वर्तमान समय मे श्रम के बदले मे जो उजरत दी जाती है वह प्रायः

नकदी और असली मजदूरी

द्रव्य (रूपए-पैसे) के रूप मे ही चुकता की जाती है । द्रव्य के रूप मे दी गई मजदूरी को नकदी मजदूरी कहते है । किंतु द्रव्य तो विनिमय का माध्यम है । श्रम के बदले मे मजदूर को जो द्रव्य मिलता है उस के द्वारा अर्थात् नकदी मज-दूरी से जो वस्तुएं, सेवाएं आदि ख़रीदी जा सके तथा उस काम को करने के कारण जो भी सुविधाएं आदि उस मज़दूर को प्राप्त हो, उन्ही की गणना

असली मजदूरी मे की जाती है। श्रम के बदले मे किसी मजदूर को जो विभिन्न वस्तुएं, सेवाएं, सुविधाएं, सम्मान, उन्नति आदि के अवसर, मनोरंजन आदि के साधन प्राप्त हो सके उन सब का योग ही असली मज़दूरी कहलाती है। किसी मजदूर की आर्थिक स्थिति का निर्णय उस की असली मज़दूरी द्वारा ही किया जा सकता है, न कि नकदी मज़दूरी द्वारा। किसी मज़दूर को देखने के लिए तो ज्यादा नकदी मज़दूरी दी जा सकती है, पर यथार्थ मे वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप मे उसे उजरत बहुत कम प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार उस की नकदी मज़दूरी के ज्यादा होने पर भी उस की असली मज़दूरी कम ही होगी और उस की आर्थिक स्थिति वैसी अच्छी न होगी। इस के विपरीत नकदी मज़दूरी देखने को कम हो सकती है, किंतु वस्तुओ सेवाओं, सुविधाओं के रूप मे उसे बहुत अधिक प्राप्त हो सकता है, और इस कारण उस की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छी हो सकती है। मान लो कि दो मज़दूर एक-बराबर नक़दी मज़दूरी पाते है। दोनों को पंद्रह-पंद्रह रुपए मासिक मिलते है। किंतु एक को आवश्यकता की वस्तुएं अधिक सस्ती मिलती है। उसे एक रुपए का दस सेर गेहूं, एक सेर घी, आठ सेर दूध, दो मन लकडियां मिलती है। दूसरे को रुपए का आठ सेर गेहूं, बारह छटाक घी, छ सेर दाल, तीन सेर चीनी, छः सेर दूध, डेढ मन लकडियां मिलती है। ऐसी दशा मे एक-बराबर मज़दूरी पाने पर भी पहला मज़दूर अधिक ख़ुशहाल होगा। इस के साथ ही नकदी मजदूरी के अलावा जो भी अन्य सुविधाएं आदि मजदूर को प्राप्त होती है उन का भी विचार करना ज़रूरी होता है। यदि दो मज़दूरो को एक-बराबर मज़दूरी दी जाय पर एक को रहने का मकान, पहनने के कपडे, ईंधन आदि मालिक की तरफ से मुफ्त मे मिले तो उस की असली आमदनी दूसरे से कहीं ज्यादा होगी। इस प्रकार नकदी और असली उजरत में फर्क रहता है। मज़दूर की यथार्थ आर्थिक स्थिति का पता उस की असली मज़दूरी से ही लगता है, न कि नकदी मज़दूरी से। असली मज़दूरी का परिमाण नीचे

लिखी हुई बातो पर निर्भर रहता है'—

(१) द्रव्य की क्रय-शक्ति (वस्तुओ का भाव)—मजदूरी द्रव्य मे मिलती है। किंतु द्रव्य का उपयोग तो उपभोग की वस्तुओ तथा सेवाओ को प्राप्त करा देने मे रहता है। यदि किसी स्थान मे वस्तुए मॅहगी मिलती हो, तो नक़दी मज़दूरी के अधिक मिलने पर भी असली मज़दूरी अपेक्षाकृत कम ही होगी, कारण कि उपभोग की वस्तुओ का परिमाण कम प्राप्त हो सकेगा।

(२) व्यावसायिक तथा अन्य आवश्यक व्यय— अनेक व्यवसाय ऐसे है जिन को चलाने के लिए उन मे जनता की रुचि तथा परंपरागत चलन के अनुसार खास प्रकार की सजावट और साज-सामान की ज़रूरत पडती है। वकीलो, डाक्टरो, वैद्यो आदि को इसी तरह की खास सजावट और साज-समान की ज़रूरत पडती है। यही व्यावसायिक व्यय कहलाता है। नकदी आय मे से इस व्यावसायिक व्यय को निकाल देने पर असली आय का पता चलता है। नक़दी आय अधिक होने पर भी यदि व्यावसायिक व्यय भी अधिक करना पडा, तो असली आय अपेक्षाकृत कम ही होगी। यदि एक स्थान पर बढई, कारीगर, आदि को अपने निजी औजारो से काम करना पडे, और दूसरे स्थान पर उन्हे काम करानेवालो की ओर से औज़ार आदि दिए जायें, तो दोनो स्थानो पर उन की नक़दी मजदूरी समान रहने पर भी पहले स्थान मे असली मज़दूरी कम होगी, क्योकि नक़दी मज़दूरी मे से औज़ारो पर होनेवाला व्यावसायिक व्यय निकाल देना पडेगा।

(३) नकदी मजदूरी के अलावा प्राप्त होनेवाले अन्य पदार्थ सुविधाएं आदि—प्राय अनेक स्थानो पर मजदूरो को मालिक की ओर से भोजन, पेय, वस्त्र, रहने का स्थान, मनोरन तथा लिखने-पढने के सामान, डाक्टरो की सेवाएं आदि मुफ्त मे ही दी जाती है। ऐसी दशा मे नकदी मज़दूरी के कम रहने पर भी असली मज़दूरी बहुत अधिक हो सकती है।

किंतु इन वस्तुओं के मूल्य के संबंध से मज़दूरों की स्थिति तथा आवश्यकता देखते हुए निर्णय करना ज़रूरी होता है। कभी-कभी इन वस्तुओं के दिए जाने से ही असली मजदूरी में कमी पड जाती है। यदि मालिक अपने मज़दूरों के खाद्य पदार्थ आदि अपने कारख़ाने से या कारख़ाने से संबंध रखनेवाली दूकानों से ख़रीदने को मजबूर करे और पदार्थ निम्न श्रेणी के दे, या कम दे अथवा दाम चलतू बाजार दर से अधिक ले, तो मजदूरों की असली मजदूरी मे कमी पड जाती है। कभी-कभी मज़दूरों को ख़ास तरह के कपड़े पहनने के लिए मालिक की ओर से मजबूर किया जाता है। यदि मज़दूर स्वतंत्र रहते तो ख़ुद वैसे कपडे बनवा कर कभी न पहनते। ऐसी दशा मे उन की असली मज़दूरी में कमी पड जाती है क्योंकि कपडो के दामों के रूप मे उन्हे नकदी मजदूरी मे से एक ख़ास रकम काट कर देनी पडती है। कभी-कभी मालिक अपने मजदूरों या सेवकों को कीमती वर्दी, रहने के उत्तम स्थान, भोजन आदि देते हैं। किंतु सेवकों की असली-आय उतनी बढी हुई नहीं मानी जानी चाहिए जितना ख़र्च कि मालिक को वर्दी, मकान आदि मे पडता है, क्योंकि सेवकों को उन वस्तुओं को उपयोग मे लाने से उतना लाभ नहीं देख पडता। मजदूरों के दृष्टिकोण से उन वस्तुओं का मूल्य उन के असली मूल्य से कम ही ठहरता है। कभी-कभी मालिक अपने सेवकों या मज़दूरों को उन वस्तुओं को दे देता है जो उस के लिए विशेष उपयोग की नहीं रहती। किंतु इन सब वस्तुओं से मज़दूरों की विशेष आवश्यकताओं की काफी पूर्ति हो जाती है। ऐसी दशा मे मज़दूरों की असली आय बहुत बढ जाती है, किंतु मालिक को कुछ भी त्याग नहीं करना पडता। जब कोई काम नहीं रहता, तब खान के मालिक अपनी गाडियों मे भर कर ऐसा कोयला मजदूरों मे बांट देते है जिस को वे बाज़ार मे बेच कर उचित दाम खडे नहीं कर सकते। इसी प्रकार तरकारी और फलवाले अपने मज़दूरों को ऐसे फल या तरकारियां बांट देते हैं, जिन को वे बाजार में नहीं भेज सकते। प्रायः कारख़ाने या

मिल वाले उन वस्तुओं, वस्त्रो आदि को जो उन के कारखानो मे तैयार होते है, अपने मजदूरों को थोक दामों पर लेने की इजाजत दे देते है। इस से मजदूरो को अपेक्षाकृत अधिक लाभ हो जाता है।

(४) काम करने का काल और काम मे होनेवाला परिश्रम – नकदी मज़दूरी एक बराबर रहने पर भी यदि एक कारखाने मे मजदूरों को आठ घटे काम करना पडे और दूसरे कारखाने मे दस घटे तो यह समझा जायगा कि पहले कारखाने के मजदूरो को अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी मिलती है। यदि समय बराबर-बराबर लगे और नकदी मजदूरी भी बराबर ही हो तो भी यदि एक कारखाने मे अधिक कठिन काम करना पडे और दूसरे मे मे उस से सरल, तो दूसरे कारखाने वाले मजदूरो की असली मज़दूरी अधिक ठहरेगी। इस प्रकार काम के घंटो का और उस की कठिनाई का भी असली मजदूरी पर काफी प्रभाव पडता है, क्योकि अधिक घटे या अधिक कठिन काम करनेवाले मजदूरो को अपना स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए अपने भोजन आदि पर अधिक खर्च करना पडेगा।

(५) कार्य का रूप और अधिकार—कार्य के प्रकार और रूप का बहुत भारी प्रभाव मज़दूर की असली मजदूरी पर पडता है। यदि कोई कार्य बहुत खतरनाक हो, मृत्यु अथवा अग भग का भय सदा लगा रहे, तो उस के लिए बहुत अधिक मजदूरी देनी पडेगी। साथ ही नक़दी मजदूरी बहुत अधिक होने पर भी असली मजदूरी अपेक्षाकृत कम ही होगी। रेल के इंजिनो के ड्राइवर, हवाई जहाज के चालक, शीशे की भट्टी के सामने काम करनेवाले आदि काफी अधिक नकदी मजदूरी पाते है। क्योकि ऐसे काम बहुत लबे समय तक नही किए जा सकते।

जिन कामो से स्वास्थ्य पर बुरा असर पडता है, जो समाज मे घृणा या असम्मान की दृष्टि से देखे जाते है, जिन मे उन्नति करने की अधिक आशा नही रहती, जिन कामो के कारण ऐसे स्थानो पर रहना पडता है जो अस्वास्थ्यकर अथवा ख़तरनाक है, जो उन्नति और सम्मान मे बाधक

होते है, वे काम कम लोग पसंद करते है, इस कारण उन के लिए अधिक मज़दूरी देनी पडती है। ऐसे कामों मे नकदी मज़दूरी अधिक होने पर भी असली मज़दूरी कम ही ठहरती है।

जिन कामों से समाज मे सम्मान प्राप्त होता है, जो स्वास्थ्यकर होते हैं, जिन के कारण दर्शनीय और स्वास्थ्य-वर्धक स्थानो मे रहना पडता है, जिन मे उन्नति करने के अवसर अधिक मिल सकते है, उन (कामों) मे कम नकदी मजदूरी दी जाती है। किंतु विचार करने पर पता चलता है कि ऐसे कामो मे असली मजदूरी अपेक्षाकृत अधिक बैठती है।

(६) पूरक आय के अवसर—यदि कोई व्यक्ति एक खास काम को करता हुआ भी, ऐसा अवसर पा जाता है कि वह कोई अन्य कार्य करके कुछ और कमा ले, तो वह कुछ कम उजरत पर भी उस काम को स्वीकार कर लेगा, क्योंकि दूसरे कार्य से वह कुछ और कमा कर अपनी कुल आय बढा लेगा। यदि वह अपने खास काम के कारण किसी ऐसे स्थान मे रह सकता है जिस मे रहने के कारण उसे किसी अन्य कार्य से रुपए पैदा करने का अवसर मिल जाता है, अथवा उस के कुटुंब के अन्य व्यक्तियो को कोई न कोई काम मिल जाता है, तो कम नकदी मजदूरी पाने पर भी वह ऐसे काम को स्वीकार कर लेगा; क्योकि नकदी मज़दूरी कम होने पर भी उस की कुल आय, तथा असली मज़दूरी अधिक ही होगी।

(७) काम का बराबर लगातार मिलना—जो काम बराबर लगातार मिलता रहता है उस के लिए अपेक्षाकृत कम मजदूरी लेना भी अच्छा माना जाता है; क्योंकि कुल मिला कर उस में अधिक मज़दूरी मिल जाती है। किंतु जो काम चंदरोजा रहता है उस के लिए अधिक मजदूरी देनी पडती है। इस का यही कारण है कि इस मजदूरी मे बीच-बीच की बेकारी के समय के भरण-पोषण का व्यय भी एक प्रकार से सम्मिलित रहता है। जब काम बीच-बीच में छूट जाता है, तब मजदूर को अवकाश और आराम तो मिल जाता है, और इस कारण उसे शारीरिक और दिमागी लाभ हो

सकता है। किंतु आय के जरिए के छूट जाने और नए काम की इंतिज़ारी तथा तलाश मे उसे जो तरद्दुद उठानी पडती है, आशा और निराशा की थपेडों से उस को जो शारीरिक और मानसिक क्लेश सहने पडते है, वे श्रम के समय की थकावट और अस्वस्थता से कहीं अधिक भयंकर होते है। किंतु कभी-कभी बीच-बीच मे काम के छूटने से मन और मस्तिष्क को आराम मिल जाता है। अस्तु वह हितकर और वाछनीय तथा आवश्यक भी होता है। किंतु ऐसे पेशे बहुत ही कम होते है जिन में इस प्रकार से बीच-बीच मे काम का छूटना हितकर होता है। अधिकाश व्यवसाय और धधे ऐसे है जिन मे बराबर काम मिलना अधिक हितकर और मज़दूरी की दृष्टि से अधिक लाभदायक होता है और बीच-बीच मे काम के छूटने से बहुत हानि होती है।

(८) सफलता और उन्नति की आशा—जिस काम मे यह आशा रहती है कि अवश्य ही सफलता होगी, उस मे कम मजदूरी पर भी मनुष्य काम करने को तैयार हो जाते है। जिस काम मे सफलता-पूर्वक निश्चित रूप से सौ रुपए महीने की आय का विश्वास हो जाय, उसे मनुष्य ख़ुशी से स्वीकार कर लेगे, और किसी दूसरे ऐसे काम को स्वीकार न करेगे जिस मे दो सौ रुपए की आय तो होती हो, पर जिस मे आगे असफल होने या काम के जल्दी छूटने की आशका भी हो, क्योंकि यदि दो सौ रुपए वाला काम दो-तीन मास बाद जाता रहा तो उन्हे बेकारी की चिंता और नए काम की तलाश की झझट उठानी पडेगी। इस कारण, सब बातो के विचार से, पहले काम से असली आय अपेक्षाकृत ज्यादा होगी।

इस के अलावा जिस काम मे यह आशा रहती है कि आगे चल कर बहुत अधिक तरक्की हो जायगी और काफी ज्यादा उजरत मिल सकेगी उस काम को पहले बहुत थोडी उजरत पर भी लोग करना पसद करते है। ऊँचे ओहदो के पाने की आशा मे लोग थोडी तनख्वाह पर शुरू मे सरकारी नौकरी करना ज्यादा पसद करते है। इसी मनोवैज्ञानिक कारण से

चंद ऊँचे सरकारी ओहदों की तनख्वाहें बहुत अधिक रक्खी जाती हैं, और उन्हीं मोहकमों में नीचे दर्जे के पदों की तनख्वाहें बहुत ही कम रक्खी जाती है।

इस के साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि महत्वाकांक्षी नवयुवक ऐसे कामों को ज्यादा पसंद करते है जिन मे असफलता की आशंका तो काफी रहती है किंतु सफल होने पर काफी भारी उजरत मिलने की आशा रहती है।

(९) व्यक्तिगत रुचि—व्यक्ति-गत रुचि का भी काम के चुनने मे बहुत बडा प्रभाव पडता है। जो व्यक्ति स्वतंत्रता-प्रेमी होते है वे थोडी उजरत पर भी ऐसे काम करना ज्यादा पसंद करते है जिन मे उन्हे ज्यादा झंझटों मे न पडना पडे, या ऊपर-नीचे वालो का दबाव न सहना पड़े। कुछ व्यक्ति रहने के स्थान, मनोरंजन के साधन आदि का इतना खयाल रखते है कि खास स्थान मे या मनोरंजनों आदि के साधनों के पास रहने के लिए कम उजरत वाले कामों को भी स्वीकार कर लेते है, और उस स्थान या उन साधनों से दूर रह कर अधिक उजरत वाले काम छोड़ देते हैं। थोडी उजरत से भी ऐसे आदमियो को अन्य सब बातो को देखते हुए असली आय अधिक जान पडती है, उन्हें अपेक्षाकृत अधिक संतोष प्राप्त होता है।

(१०) राष्ट्रीय स्वभाव—कामों को चुनने में राष्ट्रीय रुचि, स्वभाव का भी बडा असर पडता है। अमेरिका में देखा जाता है कि आमतौर पर स्वीडेन और नार्वे वाले खेती के काम को, जर्मनी वाले कुर्सी-टेबिल आदि बनाने या शराब तैयार करने के कामों को; इटली वाले रेल आदि बनाने के कामों को ज्यादा अपनाते हैं। खास-खास तरह के कामों में खास-खास राष्ट्र वालों की अधिक रुचि होती है, और अपनी रुचि के काम को कम उजरत पर भी लोग करना ज्यादा पसंद करते हैं। इसी से उन्हें अधिक लाभ देख पडता है, इसी से उन्हें अधिक संतोष होता है।

असली और नकदी मजदूरी का विवेचन करने और मजदूरी की

असली आर्थिक स्थिति का निर्णय करने के लिए ऊपर लिखी सभी बातों पर विचार करना जरूरी है। ऊपर से देखने पर नकदी मजदूरी अधिक मालूम हो सकती है, पर सभी बातो का हिसाब बैठाने पर असली मजदूरी बहुत कम हो सकती है। इस के अलावा मजदूरी की दरो में जो विभिन्नता देख पडती है उस पर भी इन बातो मे बहुत प्रकाश पडता है।

मजदूरी की दरों मे विभिन्नता

मजदूरी के साधारण सिद्धांतो मे उन बातो का विवेचन किया जाता है जो मजदूरी की आम दर का निर्णय करती है। इस प्रकार के विवेचन मे इस काम की ओर ध्यान नहीं दिया जाता कि विभिन्न व्यवसायो मे मजदूरी की दर भिन्न-भिन्न होती है। इस का कारण है। मजदूरी के साधारण सिद्धातो का विवेचन करते समय यह मान लिया जाता है कि (१) एक श्रेणी के सभी मजदूर एक समान ही शिक्षित, योग्य, कुशल और पटु होते है, (२) मज़दूरो मे आपस मे पूरी-पूरी प्रतियोगिता चलती रहती है, (३) प्रत्येक मजदूर को अपने लिए व्यवसाय पसद करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है और (४) प्रत्येक मजदूर जिसी व्यवसाय मे चाहता है प्रवेश पा सकता है। यथार्थ मे देखा जाय तो न तो सभी मजदूर एक समान कुशल, योग्य और पटु होते है, न उन मे आपस मे वैसी पूर्ण प्रतियोगिता रहती है, न उन्हे अपनी रुचि के किसी भी व्यवसाय मे प्रवेश पाने की स्वतन्त्रता ही रहती है, और न उन मे उतनी पूर्ण गतिशीलता ही रहती है।

प्रतियोगिता न कर सकनेवाले दल

साधारण मजदूर एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे पूर्ण स्वतन्त्रता से नही जा सकते। इस का कारण है आपस मे प्रतियोगिता न करने अथवा प्रतियोगिता न कर सकनेवाले मजदूर-दलो का अस्तित्व। आमतौर पर देखा जाता है कि मजदूर प्राय. पाँच प्रकार के ऐसे दलो मे विभक्त रहते है, जो आपस मे एक-दूसरे से प्रतियोगिता नही कर सकते और इस कारण एक-दूसरे के व्यवसाय मे प्रवेश नही पा सकते। पहला दल है कुशल, अशिक्षित

मज़दूरों का। इस दलवाले को किसी ख़ास काम के करने की शिक्षा नहीं मिली रहती। इसे साधारण और मेहनत के भारी काम करने पड़ते है। दूसरे दल मे वे मज़दूर आते है जो अर्ध-शिक्षित होते है। इन्हे साधारण मज़दूरों से कुछ अधिक जिम्मेदारी का कार्य दिया जाता है तथा उन्हे कुछ सतर्कता से अपने दिमाग़ से काम लेना पड़ता है। तीसरा दल है शिक्षित, पटु, कुशल, योग्य मज़दूरों, क्लर्कों और विक्रेताओं (सेल्समन) का। इन्हे ज़िम्मेदारी का काम दिया जाता है। चौथा दल है मध्यम श्रेणी के उन मज़दूरों का जो कुशल श्रमियो से तो ऊँचे दर्जे मे रक्खे जाते है पर प्रबंधक वर्ग और व्यापारी-व्यवसायी दल से नीची श्रेणी के माने जाते है। और पाँचवे दल मे प्रबंधक, व्यवस्थापक, व्यवसायी, व्यापारी आदि आते है। ये दल ऐसे है कि इन मे से कोई भी साधारण स्थिति मे किसी दूसरे दलवाले के साथ न तो प्रतियोगिता कर सकता और न उस के काम को ले ही सकता है। एक डाक्टर न तो साधारण मजदूर का काम छीनने की कोशिश करेगा और न किसी इंजीनियर या बैरिस्टर के व्ययसाय को ही हथिया सकेगा। इसी प्रकार साधारण मज़दूर भी एक डाक्टर या वकील का काम नहीं कर सकता। इस कारण आमतौर पर ये दल आपस मे कामो के लिए प्रतियोगिता नहीं कर सकते। इस का कारण यह नहीं है कि एक काम से दूसरे काम मे प्रवेश पाना असंभव है। साधारण मजदूर भी प्रयत्न करके डाक्टर या वकील बन सकता है और बन भी जाता है। किन्तु वैसा करना बहुत कठिन होता है। कठिनाई तीन कारणों से होती है। एक तो शिक्षा और उस के व्यय तथा तैयारी के लंबे समय के कारण, दूसरे वातावरण के प्रभाव के कारण और तीसरे प्राकृतिक योग्यता-क्षमता, विशेषता के कारण। नीची श्रेणी के गरीब मजदूरों के पास ऊँचे दर्जे की शिक्षा और कुशलता प्राप्त करने के लिए न तो साधारणतः धन होता है और न अवकाश ही। वातावरण हितू मित्रो के उदाहरण तथा प्रभाव के कारण प्राय. एक मजदूर का लड़का अपने पिता के व्यवसाय की ओर ही

अधिक झुकता है और आसानी से उस मे प्रवेश पा सकता है। इस कारण प्राय प्रत्येक श्रेणी के नव-युवक अपने पिता की श्रेणी के व्यवसायो मे ही रह जाते है। इसी कारण प्रायः ऊची श्रेणी के व्यवसायो में काम करने वालो की वैसी भरमार नही होती है जैसी कि निम्न श्रेणी के व्यवसायो मे, और इसी कारण उन मे उजरत अपेक्षाकृत अधिक मिलती है। कभी-कभी कोई नवयुवक अपनी आसाधारण प्रतिज्ञा के वल पर नीचे की श्रेणियो से उठ कर ऊँचे की श्रेणियो में पहुँच जाता है। किंतु ऐसा कम ही होता है। इन्ही कारणो से विभिन्न व्यवसायो मे उजरत की दरे भिन्न-भिन्न होती है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि मजदूर एक समान ही योग्य, कुशल पटु और शिक्षित हैं, और प्रत्येक मजदूर को अपनी रुचि के अनुसार किसी भी व्यवसाय मे प्रवेश करने की पूर्ण स्वतंत्रता और सुविधाए रहती है, तो भी नीचे लिखे कारणो से विभिन्न व्यवसायो की मज़दूरी की दरों में विभिन्नता रहेगी ही।

मजदूरी दरों की विभिन्नता के कारण

(१) व्यवसाय का रुचिकर अथवा अरुचिकर होना। जो व्यवसाय जितना ही अरुचिकर होगा मज़दूरो को आकर्षित करने के लिए उस में मजदूरी अपेक्षाकृत उतनी ही अधिक होगी। (२) शिक्षा, कुशलता प्राप्त करने मे कठिनाई का होना तथा समय और व्यय का लगना। जिस व्यवसाय की शिक्षा, कुशलता को प्राप्त करने मे जितनी ही अधिक कठिनाई होगी, उस के लिए जितना ही अधिक समय और द्रव्य खर्च करना पडेगा, उस मे अपेक्षाकृत उतनी ही अधिक उजरत दी जायगी। यदि उजरत अधिक न होगी तो उस की तैयारी मे उतना दाम और समय लगाने के लिए कोई भी तैयार न होगा। (३) काम का वरावर मिलना। यदि काम वरावर न मिलता गया तो उस के लिए ज्यादा उजरत देनी पडेगी, चाहे वह काम कितना ही सरल क्यो न हो। (४) कामकरने वाले पर

भरोसा । जिस काम मे जितनी ही अधिक ज़िम्मेदारी और विश्वास की आवश्यकता होगी, उस में उजरत उतनी ही अधिक होगी । सोने और रत्नों के काम मे मजदूरों को उजरत इस लिए भी ज्यादा देनी पडती है कि ऐसे विश्वसनीय व्यक्तियों की ज़रूरत पडती है जिन का भरोसा करके अधिक मूल्य की वस्तुएं उन की ज़िम्मेदारी पर उन्हे दी जा सके । (५) व्यवसाय मे सफलता और उन्नति की आशा । जिस व्यवसाय मे सफल होने और उन्नति करने की आशा रहती है, उस मे पहले कम उजरत पर भी लोग काम करना पसंद करते हैं । इन सब कारणों से विभिन्न व्यवसायो मे मज़दूरी की दरे भिन्न-भिन्न होती है ।

गंदगी ही कम उजरत का कारण

अरुचिकर, गंदे अथवा घृणास्पद व्यवसाय को करने के लिए यदि ऐसे व्यक्तियो की अधिक संख्या तैयार रहे जिन की व्यावसायिक योग्यता, क्षमता बहुत ही नीचे दर्जे की हो, और जो अच्छे कामो को अपनी अयोग्यता के कारण न पा सकते हों, तो किसी व्यवसाय के केवल अरुचिकर, गंदे या घृणापूर्ण होने से ही उस की उजरत अपेक्षाकृत अधिक नहीं हो सकती। ऐसे अयोग्य व्यक्ति केवल नीचे दर्जे के काम ही तो कर सकते है । उन्हे अपने भरण-पोषण के लिए तत्काल कोई न कोई काम चाहिए । क्योंकि उन के पास इतना धन-धान्य नही रहता कि वे अधिक समय तक विना काम के अपनी गुज़र चला सके । प्राय. सख्या अधिक होने से वे आपस मे काम के लिए होड भी ख़ूब करते है । इस से मज़दूरी की दर और भी कम हो जाती है । इन कारणों से वे काम के अरुचिकर, गंदे या घृणास्पद होने की ओर वैसा ध्यान दे भी नही सकते । इस के अलावा, ग़रीवी के कारण प्रायः उन्हे ऐसे वातावरण मे जीवन विताना पडता है जिस के कारण गंदगी आदि उन के लिए वैसी ख़राव या त्याज्य वात नहीं रह जाती । फिर कुछ देशों या समाजों मे गंदे काम कुछ ख़ास जातियों या व्यक्तियो के ज़िम्मे कर दिए जाते है और उन कामों को करनेवाले व्यक्ति दूसरा कोई

काम नही करने पाते। ऐसे कामो के लिए रूढि के मुताबिक एक बँधी हुई उजरत दी जाने लगती है। इन सब कारणो मे गंदगी ही गदे काम के लिए कम मज़दूरी दिए जाने का प्रबल कारण बन जाती है।

स्त्रियो को कम मजदूरी क्यो ?

प्राय देखा जाता है कि पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो को कम उजरत दी जाती है। इस के ख़ास कारण है। एक तो यह कि आमतौर पर स्त्रियो के लिए बहुत कम व्यवसाय, पेशे आदि खुले रहते है। सामाजिक बधन और ख़ास प्रकार की शिक्षा तथा तैयारी का अभाव उन्हे अनेक व्यवसायो तक पहुँचने ही नही देता। और जिन कुछ गिने-चुने व्यवसायो मे वे काम पा सकती है, उन मे स्थान कम रहते है और उम्मीदवारो की संख्या अधिक हो जाती है। इस कारण स्त्रियो को प्राय. कम उजरत मिलती है। दूसरे, स्त्रियो मे आमतौर पर पुरुषो से कम शारीरिक शक्ति पाई जाती है। वे कठिन परिश्रम के कामो को कम कर सकती है। और हल्के कामो के लिए उन्हे हल्की मजदूरी मिलती है। तीसरे, स्त्रियो से और ख़ास कर अविवाहिता कन्याओ से अधिक दिनो तक किसी काम मे बँध कर रहने की आशा नहीं की जा सकती। चौथे, वे प्राय. ऐसे कामो को अपनाती है जिन की तैयारी की शिक्षा मे कम समय और व्यय लगे। पाँचवे, स्त्रिया प्रायः बहुत ही कम सगठित है, इस कारण उन मे डट कर उजरत पटाने और मोल-तोल करने की वैसी क्षमता नही रहती। इन्ही सब कारणो से स्त्रियो को प्रायः अपेक्षाकृत कम ही उजरत दी जाती है।

किंतु जब किसी खास कार्य के लिए स्त्रियो की माँग होती है और उस कार्य के योग्य कम स्त्रिया मिल सकती है तो उन्हे पुरुषो से अपेक्षाकृत अधिक उजरत दी जाती है।

मजदूरी के तरीके

मजदूरी देने और काम लेने के अनेक तरीके होते है। किसी मजदूर को समय के अनुसार मज़दूरी दी जाती है और किसी को कार्य के गुण-परिमाण के अनुसार। कभी एक दिन

हफ्ते, या महीने के लिए उजरत दी जाती है, जैसे एक चौकीदार को १२) प्रति-मास के हिसाब से उजरत देना, एक बढ़ई को एक रुपया प्रति दिन के हिसाब से उजरत देना। यह समय के अनुसार मज़दूरी होगी। इस मे एक ख़ास समय के आधार पर उजरत तय कर ली जाती है, न कि कार्य के परिमाण और गुण के अनुसार। कभी यह निश्चय कर लिया जाता है कि इतने और इस तरह के काम के लिए इतनी मज़दूरी दी जायगी, जैसे एक संदूक बनाने के लिए दो रुपए। इस मे कार्य के गुण-परिमाण के विचार से मजदूरी निश्चित की जाती है। समय का इस मे वैसा विचार नहीं किया जाता। इसे कार्य के अनुसार मज़दूरी कहते है। यह भी होता है कि न तो समय के अनुसार मज़दूरी तय की जाती है और न कार्य के अनुसार, वरन् योग्यता-क्षमता के अनुसार मज़दूरी तय की जाती है।

मजदूरी की आम दर

कतिपय अर्थशास्त्रियों का मत है कि काम और श्रम के भिन्न-भिन्न प्रकार होते है। भिन्न-भिन्न कार्यों, व्यवसायों, पेशों के अपने-अपने अलग प्रश्न रहते है, इस कारण प्रत्येक मे मजदूरी की दर भिन्न-भिन्न होती है। बाजार मे मजदूरी की आम दर नहीं हो सकती। प्रतियोगिता के कारण अधिक योग्यता-क्षमता वाले मजदूर को, कम योग्यता-क्षमता वाले मजदूर से अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी दी जायगी। इस कारण प्रतियोगिता के कारण विभिन्न व्यवसायों मे, विभिन्न व्यक्तियों की उजरतें भिन्न-भिन्न होंगी। मज़दूरी की आम दर यदि किसी तरह हो सकती है, तो वह होगी योग्यता-क्षमता संबंधी मज़दूरी की आम दर। यानी एक-समान योग्यता-क्षमता वाले मज़दूरों को एक व्यवसाय मे, एक समय मे, बराबर-बराबर मज़दूरी दी जायगी। आर्थिक स्वतंत्रता और साहसिक कार्य के युग मे किसी एक स्थान-विशेष मे, एक समय मे, योग्यता-क्षमता के अनुसार मज़दूरी के समान रहने की प्रवृत्ति रहती है। जितनी ही अधिक श्रम की गतिशीलता होगी, और मज़दूर जितनी ही आसानी और शीघ्रता से विभिन्न व्यवसायों मे और व्यवसायों

के विभिन्न पदों पर आ-जा सकेंगे, विशेष शिक्षा, योग्यता-क्षमता, कार्य-कुशलता की आवश्यकता जितनी कम पड़ेगी, अभिभावक और माता-पिता अपने आश्रितों के लिए अच्छे से अच्छे काम दिलाने के लिए जितने ही अधिक सतर्क और प्रयत्नशील होंगे, जितनी जल्दी और जितनी आसानी तथा योग्यता से मज़दूर अपने को आर्थिक परिस्थिति और परिवर्तनों के अनुकूल बना सकेंगे, और जितने ही कम तीव्र और कम भयंकर ये आर्थिक परिवर्तन होंगे, योग्यता-क्षमता के अनुसार मजदूरी के समान होने की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक तीव्र होगी। किंतु इस समतावाली प्रवृत्ति के संबंध में एक खास बात है। यदि एक ही तरह के काम के करने के लिए दो समान योग्यता-क्षमता वाले मजदूर लगाए जायें, किंतु एक को अच्छे और सुधरे हुए औज़ारों से काम करना पड़े और दूसरे को पुराने ढर्रे के कम अच्छे औज़ारों से, और उजरत दी जाय कार्य के गुण परिमाण के अनुसार, तो दोनों मज़दूरों को बराबर-बराबर मजदूरी न मिल सकेगी। जो अच्छे औज़ारों से कार्य करेगा वह एक निश्चित समय में ज्यादा परिमाण में उस वस्तु को तैयार कर सकेगा, इस कारण उसे अधिक मजदूरी दी जायगी। इस प्रकार औजारों के उपयोग का भी मज़दूरी की दर पर प्रभाव पड़ता है। इस दल का मत है कि इन कारणों से स्पष्ट है कि मजदूरी की कोई आम दर नहीं हो सकती। हां, योग्यता-क्षमता के अनुसार मज़दूरी की आम दर होने की प्रवृति हो सकती है।

एक श्रेणी के श्रम की आम दर

अर्थशास्त्रियों का एक दूसरा दल है, जिस का मत है कि जैसे विभिन्न पदार्थों की आम दर होती है, उसी तरह से श्रम या मजदूरी की आम दर होती है। जिन मज़दूरों की संख्या का प्रभाव मज़दूरी पर पड़ता है उन की श्रेणी के अच्छे से अच्छे और निकृष्ट से निकृष्ट मजदूर की मज़दूरी में विशेष अंतर नहीं पड़ता। एक तरह के काम के लिए एक समय और स्थान में दोनों को ही समान मज़दूरी मिलती है। जिस तरह उन सभी वस्तुओं की, जो बेची-

ख़रीदी जाती है तथा जिन की संख्या या मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है, एक बाज़ार-दर होती है, उसी तरह श्रम की भी बाज़ार-दर होती है और श्रम की यह बाज़ार-दर अन्य वस्तुओं की तरह ही माँग और पूर्ति के सिद्धांत के द्वारा निश्चित की जाती है। जैसे पदार्थों की हज़ारों किस्में होती है, पर एक तरह के गुण-धर्म-रूप-रंग-आकार-प्रकार के पदार्थों की एक आम बाज़ार-दर होती है, उसी तरह श्रम की अनेक श्रेणियों, अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी एक तरह के, एक श्रेणी के श्रम की आम बाज़ार-दर होती है, जो माँग-पूर्ति के सिद्धांत द्वारा निश्चित की जाती है।

पूर्व-पक्ष वाले अर्थशास्त्री भी इस बात को स्वीकार करते है, किंतु तनिक शब्दो के परिवर्तन के साथ। वे 'श्रम' के स्थान में 'श्रम की योग्यता-क्षमता' का प्रयोग करते है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो दोनों के विचारों में विशेष अंतर नही है। एक प्रकार के श्रम की, यानी श्रम की एक श्रेणी की, अथवा श्रम के एक प्रकार की योग्यता-क्षमता की आम बाजार दर होती है। और माँग-पूर्ति के सिद्धात के द्वारा उस दर का निर्णय किया जाता है।

सस्ते मजदूर मँहगे पड़ते हैं

प्राय लोग सोचते हैं कि कार्य के अनुसार मज़दूरी की पद्धति में पदार्थों के परिमाण के अनुसार मजदूरी दी जाती है, इस कारण यदि ख़र्च की एक ख़ास बँधी रकम किसी एक काम के लिए लगती हो तो मज़दूरों की संख्या का वैसा विचार न करना चाहिए, क्योंकि उस से कोई हानि-लाभ नहीं होता। ख़र्च तो उतना ही पड़ेगा, चाहे कम मजदूर उतने काम को पूरा कर दे अथवा अधिक मज़दूर। किंतु ध्यान से देखा जाय तो विदित होगा कि मज़दूरों की यदि कम संख्या रहे और प्रति मज़दूर अधिक मजदूरी दी जाय तो काम की और पदार्थ की मात्रा उतनी भी रहने पर भी मालिक को लाभ होगा, बशर्ते कि उस काम में कीमती औज़ारों, मशीनों आदि का उपयोग किया जाय। इस का कारण है। अधिक योग्य मज़दूर कम संख्या में रहने पर भी अयोग्य मज़दूरों की अपेक्षा अधिक परिमाण में पदार्थ तैयार करेंगे। इस कारण

औज़ारों, मशीनों आदि को कम समय तक उपयोग में लाएँगे। इस कारण मँहगी मशीनों में टूट-फूट, क्षय-छीज अपेक्षाकृत कम होगी। इस प्रकार मशीनों के रूप में लगी हुई पूँजी की अधिक रक्षा हो सकेगी। दूसरे, योग्य मजदूर औजारों और मशीनों को अधिक हिफाजत से और अधिक अच्छी दशा मे रख सकेंगे। मशीनों के बिगडने का भी भय न रहेगा। मरम्मत, सुधार आदि मे कम खर्च करना पडेगा। इन कारणो से प्रमुख व्यय के समान रहने पर भी मालिक को कुल व्यय कम करना पडेगा। इस प्रकार मँहगे मजदूर, जिन्हे अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी देनी पडती है, सब बातो को देखते हुए कम मज़दूरी पाने वाले मजदूरो की अपेक्षा कहीं अधिक सस्ते पडते है। जहा स्थान की कमी रहती है और मँहगी तथा पेचीदा मशीनो का उपयोग किया जाता है वहा अधिक मजदूरी देकर योग्य से योग्य मज़-दूरो की कम संख्या रखना अधिक लाभदायक होता है और सस्ता पडता है। समय के अनुसार मज़दूरी की पद्धति मे भी अधिक मज़दूरी देकर भी योग्य मजदूर सब बातो को देखते हुए सस्ते पडते है। यदि एक बढई को एक रुपया रोज देना पडे और वह तीन दिन मे एक टेबिल बनाए, और दूसरे अधिक योग्य बढई को दो रुपया प्रतिदिन देना पडे किंतु वह एक दिन मे एक टेबिल बना दे तो मज़दूरी की ऊपरी दर की दृष्टि से दूसरा बढई मँहगा होने पर भी कुल व्यय तथा पदार्थ के विचार से वह पहले से सस्ता ही पडता है, क्योंकि पहले मजदूर को एक टेबिल बनाने के लिए तीन रुपए देने पडते है और दूसरे मजदूर को दो रुपए ही देने पडते है। मँहगे किंतु योग्य मजदूरो को रखने से समय की, निरीक्षण की, तथा औजारो मशीनो की काफी बचत होती है। और अच्छे कारीगर के द्वारा बनाए जाने से वस्तु अधिक उत्तम बन सकती है। उच्च कोटि के उत्पादक और साहसी वे माने जाते है जो अधिक से अधिक मज़दूरी दे। इस से उन्हे भी लाभ होता है, समाज को भी और मजदूर को भी। समाज को अधिक उत्तम और सस्ती वस्तुए अपेक्षाकृत अधिक परिमाण मे मिलने लगती है।

मज़दूरों को अधिक मज़दूरी मिलती है इस से उन की आर्थिक स्थिति अच्छी होती और उन की योग्यता क्षमता बढ़ती है, वे अपने पुत्रों को अधिक उत्तम शिक्षा देकर भविष्य के लिए अधिक कुशल और योग्य कारीगर दे सकते है और इस प्रकार समाज का हित कर सकते है । और उत्पादक निरीक्षण मशीनो के उपयोग आदि की बचत के रूप मे तथा वस्तुओं के गुणों की और परिमाण की वृद्धि के रूप मे लाभ उठाते है । इस प्रकार योग्य व्यक्तियों की मजदूरी की ऊँची दर से सब को लाभ होता है ।

अन्य सभी क्रय-विक्रय वाली वस्तुओं की तरह ही श्रम भी वेचा और खरीदा जाता है । किंतु श्रम की अपनी कुछ विशेषताएं है, जो अन्य सभी वस्तुओ मे नहीं पाई जाती ।

श्रम की विशेषताए

इन विशेषताओ के कारण श्रम की माँग-पूर्ति मे बहुत कुछ परिवर्तन हो जाते है । श्रम की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन नीचे दिया जाता है ।

श्रमी श्रम को वेचता है, अपने को नहीं

श्रम की पहली विशेषता यह है कि वह अपने श्रम को तो वेचता है पर वह अपने को नहीं वेचता । उत्पत्ति का मानवीय साधक (मनुष्य) अन्य वस्तुओं की तरह वेचा या खरीदा नहीं जा सकता । केवल उस का श्रम वेचा-खरीदा जाता है । वस्तुएं उपयोग के लिए उत्पन्न की जाती हैं । किंतु मनुष्य स्वयं उपयोग करनेवाला होता है । वस्तुओं को जो उत्पादक उत्पन्न करते है, जो उत्पादन-व्यय का भार सहते है, उन्हे उन वस्तुओ के बदले मे उजरत मिलती है । किंतु जो व्यक्ति मनुष्यों को उत्पन्न करते है, उन की शिक्षा और तैयारी का व्यय उठाते हैं, वे उन मनुष्यों के श्रम के बदले मे मिली हुई उजरत को पाने के बहुत कम अवसर पा सकते है । इस प्रकार मनुष्यो को तैयार करनेवालों को उत्पादन-व्यय, त्याग आदि के बदले में बहुत कम लाभ होता है । इस प्रकार वस्तुओं के उत्पादन मे और मनुष्यो की तैयारी मे विशेष अंतर है ।

मनुष्यों की तैयारी, उन की शिक्षा-दीक्षा उन के माता-पिता और अभि-

श्रम की तैयारी मे विशेषता

भावको की दूरदर्शिता, वद्धिमानी, ज्ञान, शिक्षा-त्याग, आर्थिक स्थिति पर वहुत कुछ निर्भर रहती है। यदि अभिभावक बुद्धिमान, शिक्षित हुए तो वे यह विचार सकेगे कि लडको के बड़े होने पर कौन से व्यवसाय, या कार्य से अधिक लाभ होगा, और वे उसी व्यवसाय या कार्य के लिए उन (लडको) को तैयार करेगे। यदि अभिभावक की आर्थिक स्थिति अच्छी हुई तो वह लडको के लिए अधिक खर्च करके अच्छी से अच्छी शिक्षा दिला सकेगा। आर्थिक स्थिति अच्छी होने के साथ ही अभिभावक मे सद्भाव और त्यागवृत्ति की भी आवश्यकता होती है। यदि सद्भाव और त्यागवृत्ति न हुई तो आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर भी वह लडको पर ज्यादा खर्च न करेगा। प्राय नीचे की श्रेणी के मज़दूर पहले तो इतना ज्ञान नही रखते कि वे अपने लडको के भविष्य का उचित निर्णय कर सके। दूसरे, उन की आर्थिक स्थिति ऐसी नही रहती कि वे इच्छा रहते हुए भी अच्छी शिक्षा दिला कर अपने लडको को ऊँचे दर्जे के कामो के लिए तैयार कर सके। इस का प्रभाव उत्तरोत्तर अधिकाधिक खराव पडता जाता है। नीची श्रेणी के मज़दूर जब कम मज़दूरी पाते है तब उस का प्रभाव यह पडता है कि वे उतने अच्छे भोजन, वस्त्र, रहने के स्थान आदि का प्रबंध नही कर सकते जिस से उन की योग्यता, क्षमता, कुशलता और शक्ति बढे। बल्कि उन की कार्य-शक्ति निरंतर घटती ही जाती है। और कार्यशक्ति के घटने के साथ ही उन की उपार्जन-शक्ति भी घटती जाती है। फिर उपार्जन-शक्ति के घटने से उन की कार्य-शक्ति और भी अधिक घटती जाती है। इस के अलावा वे अपने पुत्रो की शिक्षा-दीक्षा, उन के भरण-पोषण का वैसा उत्तम प्रबंध नही कर सकते। लडके छुटपन से ही कमज़ोर और कार्यशक्ति-हीन हो जाते है। उन की शारीरिक और मानसिक शक्तिया विकसित और पुष्ट नही होने पाती। बडे होने पर वे उतने अच्छे मज़दूर नही हो पाते जितना कि उन्हे होना चाहिए। इस से उन्हे उजरत भी अपेक्षाकृत कम ही मिलती है। इस का फल

यह होता है कि उन के पुत्र और अधिक कमज़ोर निकलते हैं। इस प्रकार इस कुप्रभाव की तीव्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इस के विपरीत जो मज़दूर अपनी योग्यता, क्षमता, और कुशलता बढ़ा सकते है, उन्हें अधिक उजरत मिल सकती है, और वे अपने तथा अपने पुत्रों के भोजन, आदि पर अधिक ख़र्च कर सकते है, और इस प्रकार उत्तरोत्तर उन की आय के बढ़ते रहने का आयोजन होता रहता है। इस प्रकार अच्छा या बुरा प्रभाव पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता ही चला जाता है। यदि एक पीढ़ी रुपए-पैसे की तंगी के कारण कमज़ोर और कम शिक्षित हो जाती है तो उस के आगेवाली पीढ़ी उस से भी अधिक कमज़ोर और कम शिक्षित होगी। और यह क्रम बराबर जारी रहता है। इस के विपरीत यदि एक पीढ़ी अधिक संपन्न हुई और उचित् रीति से शारीरिक और मानसिक शक्तियो के विकास की ओर ध्यान दिया गया तो उस के आगे की पीढ़ी और अधिक बलवान, शिक्षित, कुशल और उत्पादन मे तथा आय बढ सकने मे अधिक क्षमताशाली हो सकेगी, और यह क्रम उत्तरोत्तर लगा रहेगा।

कुशल कारीगरो के लड़कों को सुभीते

कुशल कारीगरो की स्थिति उतनी भयावह नही रहती जितनी कि साधारण, और अकुशल मज़दूरो की। उन्हे उजरत अधिक मिलती है। वे अपने तथा अपने पुत्रों के भरण-पोषण मे, शिक्षा-दीक्षा मे अधिक ख़र्च कर सकते हैं। उन के पुत्रों को उत्पादक अधिक आसानी से ज़िम्मेदारी के कामों पर रख लेते है, कारण कि वे (उत्पादक) कारीगरों को जानते रहते हैं और इस कारण उन की (कारीगरो) की ज़िम्मेदारी पर उन के पुत्रो को ऊँचे पदों पर रखने मे उन्हे विशेष आपत्ति नहीं रहती। डाक्टरी, वकालत, देशी-विदेशी व्यापार आदि मे जो व्यक्ति प्रवेश पा जाते हैं, उन के पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा और भरण-पोषण मे अधिक से अधिक रुपया ख़र्च किया जा सकता है, क्योंकि उन व्यवसायो में इतनी काफ़ी आय हो जाती है कि पिता अपने पुत्र को अच्छी से अच्छी शिक्षा दिला सकता है, और अधिक

से अधिक आय के व्यवसाय के लिए तैयार करके उस मे उसे (पुत्र को) लगा सकता है।

उत्पादक और शिक्षा का भार

उत्पादक अपने मजदूरों को शिक्षा दिला कर अधिक योग्य, कुशल बना सकता है। इस मे उसे लाभ होगा, क्योंकि अधिक योग्य व कुशल श्रमियो को अधिक वेतन देकर भी वह अपना अधिक लाभ कर सकता है। वह इस कारण कि अधिक योग्य व कुशल श्रमी अपेक्षाकृत अधिक परिमाण मे उत्पादन करेगा। किंतु मजदूरों की शिक्षा आदि मे उत्पादक को व्यय करना पडता है। और चूँकि शिक्षा आदि से जो लाभ होता है वह मजदूर को होता है, योग्यता-कुशलता जो बढती है वह मजदूर मे बढती है, उन सब का (सुधारो का) मालिक मज़दूर होता है। इस कारण उत्पादक को व्यय का प्रतिफल तभी मिल सकता है जब मज़दूर शिक्षा के बाद भी उसी उत्पादक के यहा रह कर काम करे। किंतु इस का वैसा कोई निश्चय नही रहता। यदि आपस मे सद्भाव न रहा, अथवा मजदूर को दूसरी जगह अधिक लाभ या सुभीता देख पडा तो वह पहले उत्पादक का काम छोड सकता है। ऐसी स्थिति मे मजदूर की शिक्षा मे व्यय उठाने वाले उत्पादक को तथा उस के उत्तराधिकारियो को शिक्षा मे किए गए व्यय का प्रतिफल न मिल सकेगा। इस कारण आमतौर पर कोई दूसरा व्यक्ति मजदूर की उन्नति शिक्षा आदि के लिए व्यय करने के लिए तैयार नही होता। इस सब बातो का श्रम की पूर्ति पर और उस की उजरत पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है।

(२) श्रम श्रमी से पृथक् नहीं

श्रम की दूसरी विशेषता है, उस का (श्रम का) श्रमी से पृथक् न हो सकना। जहा श्रम करना होगा वहां श्रमी को स्वय जाना पडेगा। अन्य वस्तुओ के विक्रेताओं की स्थिति ऐसी नही होती। हलवाई दाम लेकर खरीदार को मिठाई दे देता है। मिठाई के साथ उसे स्वय जाने की आवश्यकता नही

पडती। यही हाल अन्य वस्तुओं का है। किंतु यदि एक मजदूर को एक मकान में पुताई करनी हो तो उसे खुद उस मकान में जाकर काम करना होगा। श्रम को बेचने के मतलब होते हैं श्रमी का खुद उस स्थान पर जाकर काम करना। इस विशेषता के कारण मज़दूर को काम करने के स्थान, वातवारण, साथी, काम लेनेवाले मालिक, काम के वितरण आदि के संबंध में बहुत-सी बातें समझ लेनी पडती हैं। यदि कोई बात उस के अनुकूल न हुई तो वह उस काम को करने के लिए तैयार न होगा। काम को स्वीकार करने न करने में मज़दूर की रुचि का बहुत प्रभाव पडता है। किंतु वस्तुओं के संबंध में ऐसी कोई बात नहीं रहती। इस कारण वस्तुओं की गतिशीलता से मजदूरों की गतिशीलता बहुत कम रहती है।

श्रम शीघ्र नष्ट होने वाला है

श्रम की तीसरी विशेषता है उस का शीघ्र नष्ट होना। श्रम अधिक समय तक कायम नहीं रक्खा जा सकता। वह क्षण-भंगुर होता है। जो समय बिना श्रम किए निकल जाता है, वह फिर वापस नहीं लौटाया जा सकता और न उस बीते हुए समय के श्रम के लिए कुछ उजरत ही मिल सकती। समय के बीतने से जो श्रम एक बार नष्ट हो जाता है, वह सदा के लिए खो जाता है। यदि वस्तुएं न बिकें तो वे आगे की बिक्री के लिए रक्खी जा सकती हैं। पर श्रम इस प्रकार बचा कर नहीं रक्खा जा सकता। यदि सोमवार के दिन श्रम न बेचा गया तो दूसरे दिन मंगलवार को दो दिन का श्रम एक साथ नहीं बेचा जा सकेगा। सोमवार का श्रम सदा के लिए नष्ट समझा जायगा। उस के लिए न उजरत मिल सकेगी और न वह किसी तरह बचा कर, संचित करके रक्खा ही जा सकता है।

श्रम मोल-तोल करने में कमजोर

श्रम की चौथी विशेषता है उजरत के संबंध में मोल तोल करने, सौदा पटाने में उस की कमज़ोरी। इस के कारण हैं, श्रम का शीघ्र नष्ट होना; मज़दूरों का गरीब, असंगठित और संख्या में बहुत अधिक होना; और श्रम

के ख़रीदारो का धनी, कम संख्या मे और अधिक सुसंगठित होना। यदि मजदूर अपने श्रम को न वेचे तो जितना समय उस का विना काम किए वीत जायगा वह उजरत के लिहाज से सदा के लिए खो जायगा। और चूँकि गरीव होने के कारण उस के पास कुछ ऐसा वचा हुआ कोष नही रहता जिस के वल पर वह अपना भरण पोषण करता हुआ अधिक समय तक अपने को सशक्त वनाए रहे, इस कारण उसे मजवूर होकर जो भी उजरत आसानी से मिल सकती है उसी पर अपने श्रम को जल्दी से जल्दी वेच देने के लिए, इच्छा न रहते हुए भी विवश होना पडता है। यदि मज़दूरी कम देख कर एक मज़दूर काम करने के लिए राज़ी न हो तो कोई न कोई दूसरा मजदूर उस के स्थान पर काम करने को तैयार हो जाता है। कारण कि मजदूरो की सख्या वहुत अधिक रहती है। उधर काम पर लगाने वालो की संख्या कम रहती है। उन मे वैसी प्रतियोगिता साधारणतः नही रहती। इस के आलावा वे धनी होते है, इस कारण यदि मजदूर न भी मिले तो वे ठहर सकते है। जल्दी काम न मिलने मे मजदूर को तो भूखो मरने की नौवत आ जाती है। पर काम लेनेवालो को ऐसी किसी वात की आशंका विशेष रूप से प्रायः नहीं रहती। इस कारण वे मोल-तोल मे मजदूरो की अपेक्षा अधिक समय तक टिक सकते है। काम देनेवाले सुशिक्षित भी अधिक होते है। इस कारण वे आपस मे संगठन भी जल्दी और आसानी से कर सकते है। इन कारणो से मजदूरी के संवंध मे सौदा पटाने मे मज़दूर वहुत कमज़ोर पडता है।

ऊँची श्रेणी के मजदूर अपवाद

यह साधारण मजदूरो की वात है। डाक्टर, वकील आदि ऊँची श्रेणी के पेशेवाले और धनी घरो के गृह-सेवक उजरत के सवंध मे सौदा पटाने मे वैसे कमजोर नही पडते। खास तरह के कामो मे दक्ष होने, सख्या मे कम होने और कुछ समय तक विना काम मिले भी अपनी गुजर-वसर चला सकने की आर्थिक शक्ति रखने के कारण ये लोग मोल-तोल मे अधिक समय तक

ठहर सकते हैं, और इस कारण इन्हे उजरत के संबंध मे प्रायः दबना नही पडता।

साधारण मज़दूर सौदा पटाने मे और मोल-तोल के अवसर पर विना काम के भी कुछ समय तक ठहर सकने मे कमज़ोर पडते है, इस कारण प्रायः उन की उजरत कम हो जाती है। इस का बडा बुरा प्रभाव पडता है और उस का असर दूर तक पहुँचता है। कम मज़दूरी मिलने से एक तो वे अपना और अपने पुत्र आदि का अच्छी तरह से भरण-पोपण नहीं कर सकते, इस कारण वे स्वयं और उन के पुत्र आदि शरीर-मस्तिष्क से कमज़ोर होते जाते है। इस कारण उन की कार्यशक्ति कम हो जाती है। और कार्यशक्ति के कम होने पर उन की उजरत कम होती जाती है। और इस का प्रभाव पीढी दर पीढी चलता है। इस के अलावा कम मज़दूरी हो जाने से वे और अधिक ग़रीब होते जाते है। इस कारण उन की सौदा पटाने की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रम ही की तरह उत्पादन के अन्य साधनों को भी तत्काल काम न मिलने के कारण उजरत से हाथ धोना पडता है। यदि कुछ समय तक वेकार रहना पडा तो पूँजी का सूद, व्यवस्था का वेतन, साहस का लाभ और भूमि का लगान, उस वेकारी की अवधि के लिए नहीं प्राप्त किया जा सकता और वह श्रम की मज़दूरी की तरह ही सदा के लिए खो जाता है। कुछ समानता रहते हुए भी श्रम और उस की उजरत से अन्य साधनों और उन की उजरत में कुछ विशेष भिन्नता भी है। श्रम के अलावा अन्य साधनो की उजरत वेकारी के काल के लिए खो ज़रूर जाती है, किंतु मशीन आदि की घिसाई आदि भी बच जाती है। मशीनों के संबंध मे एक वात और है। अधिक समय बीत जाने पर वे पुरानी पड जाती हैं। नए सुधारो, आविष्कारों के कारण ये निकम्मी हो जा सकती हैं। और इस प्रकार उन में लगी पूँजी व्यर्थ भी जा सकती है। पर श्रम से पूँजी में तथा भूमि मे यह फ़र्क़ है कि वेकारी

के समय मशीन या ज़मीन को उस तरह के भरण-पोषण के व्यय की आवश्यकता नहीं पडती जैसी कि श्रम के लिए ज़रूरी है। मज़दूर को प्रतिदिन भोजन आदि की आवश्यकता पडती है। भूखो मरने पर मज़दूर को किसी भी उजरत पर काम करने के लिए मजबूर होना पडता है। मशीन और भूमि के सामने भूखो मरने और इस प्रकार मजबूर होकर किसी भी उजरत पर काम करने की नौबत नहीं आ सकती। यह कहा जा सकता है कि भू-स्वामी और मशीन-रूपी पूँजी के मालिक भूखो मरने की दशा तक पहुँच सकते है। किंतु वैसी स्थिति आने पर पूँजीपति और भू स्वामी अपनी पूँजी और भूमि को बेच कर अपना गुजारा कर सकते हैं। पर श्रमी तो अपने श्रम को अपने से अलग कर के नहीं बेच सकता।

श्रम को विश्राम की आवश्यकता

श्रम की पाँचवी विशेषता है उस की विश्राम की आवश्यकता। मशीन या भूमि की तरह मनुष्य निर्जीव पदार्थ नहीं है। कुछ समय तक काम करने के बाद मनुष्य थक जाता है और फिर वह काम नहीं कर सकता। उसे विश्राम और मनोरंजन की, आवश्यकता पडती है। इस के साथ ही मनुष्य सजीव, सचेतन प्राणी है। किसी काम को करने न करने अथवा केवल खास समय तक करने का निर्णय उस की रुचि के द्वारा किया जाता है। किसी काम मे बहुत अधिक उजरत मिलती हो, पर यदि कोई एक खास मजदूर उस काम को नहीं पसंद करता तो रुचि न रहने पर वह उसे न करेगा। मशीन, भूमि, तथा विभिन्न वस्तुओं के संबंध मे रुचि वाला प्रश्न नहीं रहता।

श्रम की पूर्ति बहुत समय लेती है

श्रम की पूर्ति मे बहुत समय लगता है, मजदूर बहुत दिन मे तैयार किए जा सकते हैं, श्रम की यही छठी विशेषता है। माता-पिता तथा अभिभावक बालकों को अपने विचार और निर्णय के अनुसार खास कामो के लिए तैयार करते है। बालकों को काम सीख कर उस के लिए तैयार होने मे काफी समय लगता है। साथ ही उन पर किए गए व्यय के प्रतिफल को प्राप्त

करने का समय बहुत दिनों बाद आता है, और प्रतिफल भी बहुत धीरे-धीरे बहुत समय बाद मिलता है। बालकों के माता-पिता तथा अभिभावको को बडी दूरदर्शिता से काम लेना पडता है और एक पीढी पहले ही यह सोच लेना पडता है कि किस व्यवसाय मे उन के बालक को जाना चाहिए। इस प्रकार एक पीढी क पहले से श्रम की तैयारी शुरू होती है और बालकों के वयस्क होने पर उतनी संख्या मे श्रमी काम करने लायक हो पाते है। इस प्रकार साधारण वस्तुओं तथा मशीनों की तैयारी से श्रम की तैयारी मे अधिक समय लगता है। फिर जिस उद्देश्य से उत्पादक मशीने, विभिन्न वस्तुएं आदि बनाते है उस मे और श्रम की तैयारी के उद्देश्य मे विशेष भिन्नता रहती है। इस के अलावा मनुष्य का आय-उपार्जन काल वस्तुओं के आय-उपार्जन काल से कहीं लंबा रहता है— कारखाने, मकान, पुल, रेल के बॉध आदि इस नियम के अपवाद स्वरूप है। इस कारण तैयारी के लंबे काल को और आय-उपार्जन के दीर्घ समय को देखते हुए यह मानना पडता है कि जिस स्थिति और कारणों के द्वारा आय होती है उस का ठीक-ठीक निर्णय करके श्रम को तैयार करना कठिन होता है, क्योकि श्रम की तैयारी के और आय-उपार्जन के काल मे इतना लंबा अंतर पड़ जाता है कि जिन कारणों और परिस्थिति को सामने रख कर किसी एक व्यवसाय के लिए अभिभावकों ने लडकों को तैयार किया था, वे एक दम बदले जा सकते है और इस प्रकार बहुत कुछ उलट-फेर हो सकता है।

प्रायः प्रत्येक पीढी से श्रमी अपनी पिछली पीढी की स्थिति और आय को सामने रख कर तैयार होते है, किंतु उन की उजरत उन के समय की श्रम की माँग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होती है।

श्रम की इन विशेषताओं का उस की माग पूर्ति और उजरत पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है।

श्रम की उजरत, मज़दूरी का निर्णय किस प्रकार किया जाता है इस

मजदूरी के सवध मे सिद्धात

संवध मे अर्थशास्त्रियों के भिन्न-भिन्न मत है और इस कारण मजदूरी के संवध मे अनेक सिद्धातो का प्रतिपादन किया गया है। मूल आधार अथवा दृष्टिकोण के भिन्न होने से मजदूरी के सिद्धातो में भिन्नता पाई जाती है। यहा प्रमुख सिद्धातों का सविस्तर विवेचन किया जाता है।

मजदूरी का लौह सिद्धात

प्राचीन काल के अर्थशास्त्रियो का मत था कि मजदूरो को केवल उतनी ही मजदूरी मिल सकती है जितने मे उन की किसी तरह से गुज़र चल जाय। जितने मे एक मज़दूर और उस के कुटुव की गुजर-वसर साधारण रीति से हो जाय, उसे जीवन निर्वाह-योग्य मजदूरी कहते है। लौह सिद्धांत के अनुसार मज़दूर को जीवन-निर्वाह योग्य-मजदूरी से अधिक और कुछ नही मिल सकता। काम देनेवाले संख्या मे कम होने, धनी होने और अधिक सतर्क तथा सज्ञान होने कारण आपस मे सगठन और समझौता कर लेते है। इधर मजदूर सख्या मे अधिक, निर्धन तथा भोले-भाले और अशिक्षित होने के कारण न तो आपस मे संगठन कर सकते और न अधिक समय तक वेकार ही रह सकते है। इस कारण उन्हे जो भी मज़दूरी मिल जाती है उसी को उन्हे मजबूर होकर स्वीकार कर लेना पडता है। किंतु प्रत्येक मज़दूर को कम से कम इतनी मजदूरी तो जरूर ही मिलनी चाहिए जिस से उस का तथा उस के कुटुंब का जीवन-निर्वाह किसी तरह से हो सके। यदि जीवन-निर्वाह-व्यय की रकम से मज़दूरी कम मिलेगी जो मजदूरो तथा उन के कुटुबियो का निर्वाह न हो सकेगा। इस कारण मज़दूरो की संख्या में कमी पड जायगी। और तव काम देनेवालो को अपनी मॉग के मुताविक मज़दूरो को पाने के लिए मज़दूरी बढानी पडेगी। यदि मज़दूरी जीवन-निर्वाह-योग्य व्यय से अधिक होगी तो मज़दूर जल्दी विवाह करेगे, अपने तथा अपने कुटुंव के ऊपर अधिक खर्च कर सकेगे। इस से मज़दूरो की संख्या बढ जाने से उन मे आपस मे प्रतियोगिता होगी और मज़दूरी

है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक मजदूर को उतनी मज़दूरी मिलती है जितने मे वह अपना, अपने कुटुंब का भरण-पोषण कर सकता है और साथ ही अपने रहन-सहन के दर्जे को कायम रख सकता है। लौह सिद्धात के अनुसार मजदूरी केवल उतनी ही मिलती है जितने मे मज़दूर को जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थ प्राप्त हो सकते है। किंतु इस नियम के अनुसार मजदूरी इतनी मिलती है जिस से जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थो के अलावा मजदूर कुछ क्षमता-कुशलता-शिक्षा के और क्वचित् मनोरंजन की व्यवस्था के लिए भी थोडा-बहुत व्यय कर सकता है। एक तरह से यह सिद्धात लौह सिद्धात का ही सुधरा हुआ रूप है।

दो तरह से मज़दूरी की दर पर रहन-सहन के दर्जे का प्रभाव पडता है। एक तो इस प्रकार कि, जब एक मजदूर एक ख़ास तरह के जीवन का अभ्यस्त हो जाता है, उस के रहन-सहन का दर्जा निश्चित हो जाता है और वह उस दर्जे के रहन-सहन का आदी हो जाता है तो वह उजरत की उस दर को पाने के लिए डट कर प्रयत्न करता है, जिसे वह उचित समझता है, जिस से उस के रहन-सहन का दर्जा कायम रह सकता है। दूसरे रहन सहन के दर्जे का प्रभाव मज़दूर की सीमात उपज पर पडता है और इस प्रकार सीमात उपज के द्वारा मज़दूर की मजदूरी की दर पर रहन-सहन के दर्जे का प्रभाव पडता है। यह दो प्रकार से होता है। एक तो मज़दूर की उत्पादन-शक्ति बढ़ा कर और दूसरे मजदूरों की सख्या पर नियंत्रण करके। रहन-सहन के दर्जे का बहुत अधिक प्रभाव उस की योग्यता-क्षमता-कुशलता तथा उत्पादन-शक्ति पर पडता है। ऊँचे दर्जे के रहन-सहन मे मनुष्य को अधिक पौष्टिक भोजन, अधिक अच्छे और साफ मकान, उत्तम शिक्षा और मनोरंजन के अधिक अवसर आदि प्राप्त होते है और इन कारणो से उस की योग्यता-क्षमता तथा उत्पादन-शक्ति बढती है। इस से उसे अधिक मज़दूरी मिल सकती है। इस के आलावा यदि मजदूर को अपने रहन-सहन-के दर्जे के अनुसार मजदूरी न मिले तो वह जल्दी शादी न

करेगा तथा कम बच्चे पैदा करेगा और इस प्रकार जन्म-संख्या और मज़दूरो की संख्या परिमित होगी। श्रम की पूर्ति कम हो जायगी। इस से सीमांत उत्पादकता बदल जायगी। इस कारण मज़दूरी बढ जायगी। इस प्रकार रहन-सहन के दर्जे-के-अनुसार मज़दूरी का सिद्धांत, सीमात उत्पादकता नियम का एक दूसरा रूप सिद्ध होता है।

किंतु यदि यह कहा जाय कि सीमात उत्पादकता के प्रश्न के विना ही रहन-सहन का दर्जा मज़दूरी की दर निश्चित करने मे समर्थ होता है, तो यह बात भ्रामक होगी। यदि कोई मज़दूर अपने रहन सहन का दर्जा तो ऊँचा कर ले पर न तो अपनी सीमांत उत्पादकता बढावे और न मज़दूरो की संख्या को कम कर सके, तो उसे अधिक मज़दूरी न मिल सकेगी, उस के रहन-सहन का दर्जा उस की मज़दूरी के बढाए जाने मे सहायक न हो सकेगा। उत्पादक अधिक मज़दूरी देगा नही, क्योकि उस मजदूर की उत्पादकता पहले से बढी नहीं, और यदि वह काम छोड देगा तो, मज़दूरो की संख्या कम न होने से, कोई दूसरा मज़दूर उस के स्थान पर काम करने लगेगा। मज़दूरो की संख्या मे कमी न होने से, उन की सीमात उत्पादकता मे भी कोई फ़र्क न पड़ेगा। इस प्रकार केवल रहन-सहन के दर्जे से मजदूरी मे वैसा परिवर्तन न हो सकेगा। यह नियम इस लिए भी भ्रामक है कि इस मे श्रम की माँग का और माँग से होनेवाले प्रभाव का कोई ख़याल नहीं किया जाता।

मजदूरी का अवशिष्ट-स्वत्व सिद्धात

कुछ अर्थ-शास्त्रियों का मत है कि जब अन्य सभी साधन अपना अपना भाग राष्ट्रीय आय में से ले लेते हैं तो इस के बाद जो कुछ बच रहता है वह मज़दूर को मज़दूरी के रूप में मिलता है। इस नियम के अनुसार समस्त उत्पत्ति में से माँग-पूर्ति के सिद्धांत तथा सीमान्त उत्पादकता के अनुसार जब पूंजी का सूद, भूमि का लगान, साहस का लाभ और प्रबंध का वेतन चुका दिया जाता है, तो इस के बाद जो कुछ बचता है वही अवशिष्ट

भाग मजदूर को मज़दूरी के रूप मे प्राप्त होता है।

यह सिद्धांत भ्रामक है। इस में श्रमियो की संख्या के घटने-चढने के कारण मज़दूरी पर जो असर पडता है उस का कोई विचार नहीं किया जाता। दूसरे, ट्रेड-यूनियन आदि के द्वारा सगठित होकर मज़दूर जो अपनी मज़दूरी की दर बढा लेते है उस का भी इस नियम में ख़याल नहीं रक्खा गया है। तीसरे, जब माँग और पूर्ति के सिद्धात तथा सीमांत उत्पादकता के अनुसार अन्य साधनो की उजरत का निर्णय होता है तब वही तरीके मजदूरी के नियमो के निर्णय के लिए क्यो उचित नही समझे जाते। इस सिद्धांत मे इस का कोई उत्तर नही मिलता।

मदूजरी-कोष सिद्धात

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि चल-पूँजी का एक हिस्सा श्रम की खरीद के लिए अलग कर दिया जाता है। इसी को मज़दूरी-कोष कहते है। यह मज़दूरी-कोष एक निश्चित रकम होती है, क्योंकि भूतकाल के सचय अथवा बचत के एक अंश को ही मजदूरी-कोष का रूप प्राप्त होता है। और भूतकाल की बचत या संचय एक निश्चित रकम होती है। इस कारण उस का एक अश जो मजदूरी-कोप के रूप मे परिणत कर दिया जाता है वह अवश्य ही एक निश्चित रक़म होती है। इसी कोप के अनुसार मज़दूरी की माँग होती है। यदि कोप अधिक हुआ तो श्रम की अधिक माँग होगी, और यदि मजदूरी-कोष कम हुआ तो श्रम की माँग कम होगी। इस कोप मे मजदूरी की सख्या से भाग देने से मजदूरी की दर निकलती है। इस से यह सिद्ध होता है कि यदि मजदूरी की दर बढाना हो तो दो बातो से एक बात करनी पडेगी, या तो मजदूरो की संख्या घटानी पडेगी, अथवा मजदूरी-कोष बढाना पड़ेगा। किंतु चूँकि मजदूरी-कोष का निर्माण भूतकाल की बचत या सचय के एक हिस्से के द्वारा किया जाता है इस कारण कोष बढाना वैसा सरल और तत्काल हो सकनेवाला काम नही है। ऐसी दशा मे एक ही उपाय हो सकता है। यदि मज़दूरी की दर बढाना हो-और

मज़दूरों को अधिक ख़ुशहाल करना हो तो मज़दूरों की संख्या कम की जानी चाहिए। और इस के लिए मज़दूरो मे जन्म-संख्या कम करनी चाहिए। इस के साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि मज़-दूरों के किसी एक दल ने संगठन आदि के द्वारा किसी तरह अपनी मज़दूरी की दर बढा ली तो अन्य दलो के मज़दूरों की मजदूरी की दर कम हो जायगी, क्योंकि मजदूरी-कोष तो निश्चित है। यदि उस मे से किसी ने ज्यादा भाग ऐंठ लिया तो दूसरों के हिस्से मे कम रकम पड़ेगी। इस प्रकार मजदूरी-कोष के अनुसार मजदूरी की दर तय की जाती है।

यह सिद्धांत भी भ्रामक है। इस सिद्धांत के अनुसार श्रम की मॉग एक निश्चित कोष पर निर्भर रहती है। किंतु असल मे श्रम की माँग विभिन्न वस्तुओं की माँग पर निर्भर रहती है, न कि किसी ख़ास निश्चित कोष पर। जब वस्तुओं की मॉग अधिक होती है तब अधिक लाभ की आशा से उत्पादक अधिक संख्या मे मजदूरों को काम मे लगाते है। जब वस्तुओं की मॉग कम होती है तब उत्पादक कम मज़दूरों को काम देते हैं। इस के अलावा, जब जनता अपनी कुल आय ख़र्च करने लगती है तब मज-दूर उपभोग-योग्य वस्तुओ के उत्पादन मे लगाए जाते है। किंतु जब जनता की प्रवृत्ति धन-संचय करने की ओर होती है तब मजदूर उत्पादन-संबंधी वस्तुओ के उत्पादन मे लगाए जाते है। इस प्रकार धन के संचय और धन के व्यय मे श्रम के लिहाज़ से केवल उस दिशा का, या उत्पा-दन-कार्य का अंतर पडता है, जिस मे मजदूर काम में लगाए जाते हैं। साथ ही एक और अंतर पडता है। यदि दीर्घकाल तक जनता की प्रवृत्ति धन-संचय और उत्पादन-कार्य में पूंजी के लगाने की हुई तो औज़ारों, मशीनों, कारख़ानों आदि की संख्या बढ जायगी और उन में सुधार होगा। इस का फल होगा मजदूरों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि। और उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि होने से उन की मजदूरी बढेगी।

असल मे मजदूरी श्रम के द्वारा की हुई उत्पत्ति में से दी जाती है.

न कि पूँजी में से। पूँजी मे से तो मजदूरी का केवल कुछ भाग ही पेशगी के तौर पर दिया जाता है और बाद में उस की भी पूर्ति उत्पत्ति मे से कर ली जाती है। अन्य साधनों की उजरत की तरह ही मजदूरी भी राष्ट्रीय आय मे से ही दी जाती है। और राष्ट्रीय आय कोई बँधी आय या निश्चित रकम नही होती। राष्ट्रीय आय तो एक प्रवाह है जो सदा चालू रहता है। श्रम द्वारा राष्ट्रीय आय की मात्रा बढाई जाती है और इस प्रकार मज़दूरी की रकम भी बढाई जा सकती है। यदि अति-अल्प काल मे ऐसा कोई कोप मान भी लिया जाय तो भी उस कोप का परिमित परिमाण मे होना नही माना जा सकता। इस का कारण है। यदि ऐसा कोप माना भी जाय, तो वह या तो द्रव्य के रूप मे होगा, अथवा वस्तुओ के रूप मे। यदि द्रव्य के रूप में माना जाय, तो उस का एक निश्चित और परिमित परिमाण मे होना सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योकि किसी देश के द्रव्य का परिमाण बहुत लोचदार होता है, बैकों की नीति तथा लाभ-हानि की आशा-आशंका से वह सदा घटता-बढता रहता है। जब व्यापार ख़ूब चलता रहता है और उत्पादकों को लाभ की आशा रहती है, तब अपेक्षाकृत अधिक द्रव्य उत्पादक के कार्य मे लगाया जाता है, और बहुत अधिक द्रव्य श्रम की उजरत के रूप में दिया जाता है। किंतु जब व्यापार मंदा पड जाता है और हानि की आशका होने लगती है तब बहुत कम द्रव्य श्रम की उजरत के रूप मे लगाया जाता है। इस कारण यदि कोप द्रव्य के रूप मे माना जाय तो उस का परिमाण परिमित नही हो सकता। और यदि यह माना जाय कि कोप वस्तुओ के रूप मे होता है तो श्रमियों के लिए वस्तुओ का ऐसा कोई कोप एक निश्चित परिमाण मे परिमित नहीं सिद्ध किया जा सकता। खाद्य पदार्थों का परिमाण एक खास ऋतु के लिए भले ही निश्चित और परिमित हो सके किंतु सदा के लिए कोई परिमाण निश्चित नहीं माना जा सकता। फिर, आजकल के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के युग मे विभिन्न देशो मे वर्ष के विभिन्न समयों मे विभिन्न

वस्तुओं के उत्पन्न होने के कारण, किसी एक ऋतु मे भी खाद्य पदार्थों के परिमाण का परिमित मानना तनिक कठिन ही है। इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसा कोई कोष भी माना जाय तो भी वह निश्चित न रह कर, बहुत ही लोचदार होगा। और उस का यथार्थ परिमाण श्रम का लाभ के साथ काम मे लगाने के परिमाण पर निभर रहेगा। यदि श्रमी बहुत कुशल और योग्य होगे तो उन की उत्पादन-शक्ति अधिक होगी, इस कारण राष्ट्रीय आय बढ़ जायगी। इस प्रकार मज़दूरी की दर ऊँची होगी। इस से सिद्ध होता है कि मज़दूरी की दर का निर्णय मज़दूर की उत्पादन-शक्ति द्वारा निश्चित होता है, निश्चित कोप द्वारा नही।

वर्तमान युग मे यह माना जाता है कि अन्य सभी क्रय-विक्रय योग्य

मजदूरी का सीमात-उत्पत्ति सिद्धात

वस्तुओं की भाँति ही श्रम की उजरत भी माँग-पूर्ति के सिद्धांत के अनुसार उस की सीमांत उत्पत्ति द्वारा निश्चित की जाती है। किसी एक मज़दूर को कोई भी व्यवस्थापक अधिक से अधिक केवल उतना ही दे सकेगा जितना कि उस मज़दूर के श्रम के द्वारा उसे प्राप्त हो सकेगा। और मजदूरों की सीमांत उत्पत्ति उन की संख्या पर निर्भर है।

मालिक किसी एक मज़दूर को अधिक से अधिक केवल उतना ही दे

मजदूरी सीमात मजदूर द्वारा निश्चित

सकेगा जितना कि उसे काम मे लगे हुए मज़दूरो मे से अंतिम मज़दूर के काम छोड देने पर नुकसान होगा। मालिक एक मज़दूर को कम से कम केवल उतना ही देगा जितना कि काम मे लगे हुए मजदूरो की एक खास सख्या के अलावा बाहर से आकर एक और अधिक मजदूर काम करके जो मात्रा उत्पन्न कर सकेगा। और चूँकि एक काम मे लगे हुए सभी मज़दूर श्रम की दृष्टि से बराबर माने जाते है और किसी एक के काम छोड देने पर उत्पत्ति की मात्रा मे जो कमी होगी वह सीमांत उत्पत्ति के समान होगी, अस्तु सभी मज़दूरों को बराबर-बराबर मजदूरी दी जायगी। नोचे

की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है।—

मजदूरों की संख्या	कुल उपज	सीमांत उपज	एक और मज़दूर द्वारा कुल में वृद्धि	मज़दूरी की दर
१	१००	१००	—	१००
२	१०० + ८० = १८०	८०	८०	८०
३	१८० + ६० = २४०	६०	६०	६०
४	२४० + ४० = २८०	४०	४०	४०
५	२८० + २० = ३००	२०	२०	२०

जब एक मजदूर काम करता है तो कुल उत्पत्ति १०० होती है और सीमांत उत्पत्ति भी १०० है, अस्तु मजदूर को १०० मजदूरी मे मिलते है। अब दो मजदूर काम करते है तो क्रमागत ह्रास-नियम के अनुसार सीमांत उत्पत्ति ८० होती है। दूसरे मजदूर के आने से सीमा गिर जाती है। अस्तु मज़दूरी की दर कम होकर ८० रह जाती है। और चूँकि दोनो मजदूर काम के लिए बराबर माने जाते है, अस्तु अब पहले मज़दूर को भी १०० न मिल कर ८० ही मजदूरी मे मिलते है क्योकि यदि पहला मजदूर ही काम छोड दे तो भी हानि तो वही सीमांत उपज, यानी ८० के बराबर ही होगी। अस्तु दूसरे मजदूर के आ जाने से मज़दूरी की दर ८० रह जाती है। इसी प्रकार जब क्रम से ५वा मजदूर आ जाता है तो सीमांत उपज गिर कर २० ही रह जाती है। और चूंकि मालिक को उस के आने से कुल उत्पत्ति मे केवल २० ही की वृद्धि होती है अस्तु वह मजदूरी मे २० ही देगा और चूँकि सब मजदूर आपस मे बराबर है, अस्तु पहले मजदूर के भी चले जाने से कुल उत्पत्ति की मात्रा मे केवल २० ही की हानि होगी, अस्तु सब मजदूरो को २० ही २० मजदूरी मे प्राप्त हो सकता है। यह कम से कम मजदूरी की दर है। अब दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। यदि पॉचवां मजदूर काम छोडे दे तो कुल उत्पत्ति मे कमी तो होगी केवल २० ही की, पर सीमांत उत्पत्ति ४० रहेगी, यानी मालिक को काम मे लगे रहनेवाले अंतिम

चौथे मज़दूर के श्रम से ४० का लाभ होता है। अस्तु वह बाकी बचे हुए मजदूरों को प्रति मज़दूर के हिसाब से ज्यादा से ज्यादा जो देगा वह ४० होगा क्योंकि यदि वह ४० न देगा और एक मज़दूर काम छोड देगा तो कुल उत्पत्ति मे मालिक को ४० की कमी पडेगी।

इस प्रकार मज़दूरों की संख्या के वढने से उन की सीमांत उत्पत्ति में कमी पड जाती है और मजदूरी की दर घट जाती है।

यहां यह बात समझ लेनी चाहिए कि सीमांत मज़दूर वह मजदूर है जिसे चलतू दर पर उत्पादक सब के अंत मे रखना उचित समझेगा और जिस के आने से मज़दूरों की वह संख्या पूरी हो जायगी जिस संख्या को उस दर पर काम मे लगाना उत्पादक उत्पादन के लिए सब से अधिक उपयुक्त समझता है। यह जरूरी नहीं है कि सीमात मज़दूर अन्य सब मजदूरों से कम योग्य या कुशल हो।

या जन्म-संख्या कम हो जायगी जिस से श्रम की पूर्ति में कमी पड़ जायगी। मजदूरी के सीमांत उत्पत्ति-सिद्धांत में यह बातें विचारणीय हैं।

इस सिद्धांत के संबंध मे दूसरी बात यह है कि इस में यह माना जाता है कि दीर्घ काल मे मज़दूरी की दर की प्रवृत्ति श्रम की असली सीमांत उपज के बराबर होने की रहती है। किंतु यह नही प्रतिपादित किया जाता कि मज़दूरी यथार्थ मे कभी असली सीमांत उपज के बराबर हो जायगी। इस सिद्धांत के द्वारा मजदूरी की दर की साधारण प्रवृत्ति का दिग्दर्शन मात्र हो जाता है। मजदूरी की यथार्थ स्थिति का निश्चित ज्ञान नहीं कराया जाता। इस सिद्धांत को यथार्थ वस्तुस्थिति के समकक्ष लाने के लिए उन अन्य बातो पर विशेष ध्यान रखना पडता है जिन्हें इस सिद्धांत के प्रतिपादन के समय स्थिर मान लिया जाता है; किंतु वास्तव मे जो स्थिर नही रहती। इस सिद्धांत मे यह मान लिया जाता है कि उत्पादक, पूंजी, प्रबंध आदि पूर्ववत् बने रहते है। उन की योग्यता-क्षमता मे, उत्पादन-शक्ति मे परिमाण मे विशेष अंतर नही पडता। पर वास्तव मे ऐसी बात होती नहीं। यदि उत्पादक अधिक ध्यान देकर काम करने लगता है, अधिक योग्यता-कुशलता दिखलाता है, तो अन्य साधनो के साथ ही मज़दूर की उत्पादन-शक्ति भी बढ जाती है। प्रबध के अधिक सतर्क होने पर अधिक सुधरे हुए उत्पादनो से, अधिक अच्छी मशीनो और औजारो से, काम लिया जाने लगता है। इस से मजदूर की उत्पादन-शक्ति बढ जाती है। इसी प्रकार पूंजी के विभिन्न प्रकारो के और परिमाणो के कारण मजदूर की योग्यता-कुशलता मे, उत्पादन-शक्ति मे, बहुत अंतर आ जाता है। इन सब का प्रभाव मज़दूर की सीमांत उत्पादकता पर पडता है। और इस प्रकार उस की मज़दूरी की दर उन अन्य बातो के परिवर्तन पर निर्भर रहती है, जिन्हे इस सिद्धांत के द्वारा मजदूरी का प्रश्न पूरी तरह से हल नही करता। परंतु इस सिद्धांत द्वारा मज़दूरी की दर को निश्चित करनेवाले एक कारण का स्पष्टीकरण अवश्य हो जाता है।

अध्याय ४०

लगान

प्रसार भूमि का वह प्रधान गुण है जो उसे अन्य वस्तुओं से पृथक् रखता है। भूमि के प्रत्येक स्थान के साथ प्रकाश धूप वर्षा का सबंध रहता है। भूमि से साथ ही उस मे मिलनेवाले खनिज पदार्थ, मिट्टी, वनस्पति, दृश्य, आदि रहते है। सब के सम्मिलित रूप को भूमि कहते है। किंतु मनुष्य को भूमि के साथ रहनेवाले इन सब पदार्थों का उपयोग कर सकने और किसी भी तरह आर्थिक उपयोग करने के लिए आधार या स्थान की आवश्यकता पडती है। और भूमि का प्रसार परिमित है। इस लिए भूमि के एक किसी भाग को उपयोग मे लाने के लिए उस के उपयोग के बदले मे कुछ न कुछ देना पडता है।

भूमि के उपयोग की उजरत लगान

भूमि के किसी एक भाग या स्थान के उपयोग मे लाने के लिए उस के बदले मे जो देना पडता है उसे लगान (किराया) कहते है।

यहां एक बात स्पष्ट रूप से जान लेना ज़रूरी है। साधारण स्थिति मे जो लगान भू-स्वामी को दिया जाता है उस मे अनेक अन्य प्रकार के भुगतानो की रकमे शामिल रहती है। वह केवल लगान या शुद्ध लगान नही रहता। इस का कारण इस समय जो भूमि उपयोग मे लाई जा रही है वह शुद्ध भूमि अर्थात् प्रकृति की देन मात्र नही है। उस को कृषी तथा अन्य उपयोगो के उपयुक्त बनाने के लिए मनुष्य का श्रम और पूँजी उस मे निरंतर लगाए जाते है। इस कारण जो भूमि आज उपलब्ध है उस मे बहुत सा अंश पूँजी

कुल लगान और शुद्ध लगान

और श्रम का सम्मिलित है। इसी कारण इस समय भूमि के उपयोग के लिए जो उजरत दी जाती है उसे शुद्ध लगान न कह कर कुल लगान कहना अधिक उपयुक्त होगा। कुल लगान मे अन्य भुगतान की जो रकमें शामिल रहती है वे इस प्रकार है - (१) प्रकृति की देन-रूपी एकमात्र भूमि का शुद्ध लगान, (२) भूमि के सुधार आदि मे लगाई गई पूॅजी का व्याज, (३) भूमि मे लगी पूॅजी के निरीक्षण आदि के लिए भू-स्वामी अथवा उस के प्रतिनिधियों के श्रम के लिए वेतन या मज़दूरी, (४) भूमि के सुधार आदि के लिए जोखिम उठाने के बदले मे भू स्वामी को कुछ लाभ की रकम।

किंतु इस अध्याय मे भूमि शब्द प्रकृति की देन से लिए ही उपयुक्त हुआ है और इस कारण यहा शुद्ध लगान का ही विवेचन किया गया है।

भूमि के दो उपयोग

भूमि के किसी एक भाग के दो उपयोग हो सकते है, एक तो उस मे किसी वस्तु की उत्पत्ति करने के लिए (जैसे गेहूं, धान फल आदि पैदा करने के लिए) और दूसरे, उस पर रहने, काम करने आदि के लिए मकान आदि बनाने के लिए। पहले प्रकार के उपयोग के लिए यह ज़रूरी है कि भूमि उपजाऊ हो और साथ ही वह ऐसे मौके पर हो जहा आना-जाना आसान हो। वह किसी बाज़ार के नज-दीक हो जिस से उस मे उत्पन्न वस्तु बिना विशेप कठिनाई और विशेप ढुलाई के खर्च के बाजार मे या बस्ती मे पहुॅचाई जा सके और खेती के सामान खेत तक आसानी से ले आए ले जाए जा सके। अस्तु, खेती की भूमि के लिए दो बातें जरूरी है, एक तो उस का उपजाऊ होना, दूसरे उस का मौके पर होना। कारखाने, घर मकान आदि के उपयोग मे आने-वाली जमीन के लिए केवल एक ही गुण की आवश्यकता है उस का मौके पर होना। खेती की भूमि का लगान उस के उपजाऊ होने और किसी खास मौके पर होने के लिए होता है। कारखाना, घर, दूकान आदि के उपयोग के लिए भूमि का जो लगान (या भाडा) दिया जाता है वह उस के केवल

किसी ख़ास मौके पर होने के लिए ही। उर्वरता का यहां कुछ विशेष उपयोग नही रहता।

अब यह देखना है कि लगान (भाडा या किराया) क्यों और कैसे प्रारंभ होता है, और किन नियमो के अनुसार उस की तादाद निश्चित की जाती है।

लगान का प्रारभ

किसी भी देश मे सब से पहले केवल सब से अच्छी, सब से उपजाऊ ज़मीन ही काम मे लाई जाती है। उस देश की जन-सख्या जब तक परिमित रहती है तब तक केवल सब से अच्छी ज़मीन के हिस्से से सभी आवश्यक खाद्य पदार्थ पैंदा कर लिए जाते है। और जब तक सब से अच्छी जमीन प्रचुरता से सब तरह के काम के लिए प्रत्येक व्यक्ति को आसानी से मिलती जाती है तब तक लगान का सवाल ही पैदा नही हो सकता; क्योकि जितनी भूमि की आवश्यकता पडती है उतनी सब से अच्छी भूमि प्रत्येक को मिल जाती है। यहां तक लगान का सवाल नही उठता।

किंतु जब जन-संख्या बढ जाती है तब अधिक खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पडने लगती है और सारी की सारी सब से अच्छी ज़मीन खेती के काम में आने लगती है और उस पर किसी न किसी का कब्ज़ा हो जाता है, किंतु इस ज़मीन से जब क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के कारण इतनी मात्रा मे खाद्य पदार्थ नहीं उत्पन्न हो सकते कि सब की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके तो उस से कम अच्छी, यानी दूसरे दर्जे की जमीन का कुछ हिस्सा काम मे लाया जाने लगता है। पहले और दूसरे दर्जे की जमीन की उत्पत्ति मे फर्क रहता है। प्रथम श्रेणी के एक बीघे मे श्रम और पूंजी की एक मात्रा लगाने से यदि दस मन अनाज पैदा होता है तो दूसरे दर्जे की जमीन मे आठ ही मन अनाज पैदा होगा। अब पहले दर्जे की जमीन के उपयोग में लाने के लिए लगान देना पडेगा, और वह लगान दोनो तरह की जमीनों की उपज का अंतर होगा, यानी पहले दर्जे की जमीन के प्रत्येक बीघे के लिए

लगान कैसे, कितना ?

अब तीन मन (१० – ७ = ३) अनाज लगान के रूप मे देना पडेगा। क्योंकि दोनों मे बराबर-बराबर श्रम और पूँजी लगाने पर पहले दर्जे की ज़मीन के एक बीघे से १० मन उत्पन्न होता है और दूसरे दर्जे की ज़मीन से केवल ७ मन। दोनो उपजो का अतर ३ मन हुआ। यही तीन मन अब पहले दर्जे की ज़मीन के प्रति बीघे का लगान होगा। दूसरे दर्जे की जमीन का लगान न देना पडेगा, क्योकि उस पर जो श्रम और पूँजी लगाई जाती है, उपज ठीक उसी के बराबर होती है, अस्तु लगान देने की गुंजाइश नहीं रहती। ऐसी स्थिति मे दूसरे दर्जे की जमीन सीमांत जमीन कहलाती है।

लगान क्यो, और कैसे बढ़ता है?

समय बीतने पर जैसे-जैसे जन-सख्या बढती जाती है वैसे ही वैसे खाद्य पदार्थों की माँग बढती जाती है और एक समय ऐसा आता है कि दूसरे दर्जे की सारी ज़मीन काम मे लाई जाने पर भी खाद्य पदार्थों की कमी बनी रहती है। अस्तु उसे पूरा करने के लिए उस से भी नीचे दर्जे की यानी तीसरे दर्जे की जमीन काम मे लाई जाने लगती है। तीसरे दर्जे की जमीन की उपज दूसरे दर्जे की जमीन की उपज से कम होती है, यानी बराबर बराबर श्रम और पूंजी लगने पर तीसरे दर्जे की जमीन के एक बीघे से केवल ५ मन उत्पत्ति होती है। अब दूसरे दर्जे की जमीन पर भी लगान देना पडता है और वह दोनों (तीसरे और दूसरे) दर्जों की जमीनों की उपज का अंतर (७—५ = २) होता है। अब दूसरे दर्जे की जमीन के प्रति बीघे के लिए २ मन लगान देना पडता है, क्योंकि तीसरे दर्जे की जमीन से, दूसरे दर्जे की जमीन मे २ मन अधिक उत्पन्न होता है। साथ ही पहले दर्जे की ज़मीन का लगान बढ जाता है और वह तीसरे दर्जे और पहले दर्जे की ज़मीनो की उपजो के अतर के बराबर होता है, यानी १०—५ = ५ मन। अस्तु पहले दर्जे की जमीन के प्रति बीघे के लिए अब ५ मन लगान देना पडता है। तीसरे दर्जे की ज़मीन के लिए कुछ भी लगान नही देना पडता, क्योकि वह सीमांत ज़मीन होती है। खेती की उपज की सीमा

घटती जाती है।

इसी प्रकार जन-संख्या के बढने पर खेती की उपज की सीमा घटती जाती है और क्रमशः नीचे दर्जे की ज़मीन काम मे लाई जाती है और लगान की दर उत्तरोत्तर क्रमशः बढती जाती है।

अच्छी जमीन के अर्थ

इस क्रम मे सब से अच्छी जमीन से मतलब उस जमीन से है जो न केवल उपजाऊपन मे बल्कि अन्य सभी बातों मे सब से अच्छी ठहरे। यदि कोई ज़मीन उपजाऊ तो बहुत हो पर वह ऐसी जगह पर हो जहां जाना-आना कठिन हो ; या जहां से बाज़ार-बस्ती दूर हो, या जहां जगली जानवरो, चोरों, लुटेरों आदि का सदा भय लगा रहे ; या जहां स्वास्थ्य खराब हो जाता हो, तो वह जमीन पहले न जोती जायगी, क्योंकि उपज ज्यादा होने पर भी अन्य कारणो मे खेती करनेवाला उस उपज से पूरा लाभ न उठा सकेगा और सब बातों को मिलाने पर अंत मे उपज कम ही ठहरेगी। इसी कारण कम उपजाऊ होने पर भी वह जमीन खेती के काम मे लाई जायगी, जहां आसानी से आना-जाना हो सकता है, जहां जानवरों, चोरों, लुटेरो का भय नही है, और जो स्वास्थ्यकर है, क्योकि सब बातो का विचार करने पर इस भूमि की उपज सब से अधिक होगी। अस्तु सब से अच्छी जमीन से मतलब है उस ज़मीन से जिस के उपजाऊपन, स्थान तथा अन्य सब सुविधाओं को देखते हुए मनुष्य को सब से अधिक लाभ होता हो।

उपजाऊपन, स्थान आदि के ख़याल से एक देश की जमीन के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न दर्जे के होते है। सब बातो का खयाल करने पर जो ज़मीन सब से अच्छी होती है, वही सब से पहले खेती के काम मे लाई जाती है। जब सब से अच्छी ज़मीन के सभी भाग या टुकड़े खेती के काम में आ जाते है, और क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के कारण, इतने पर भी खाद्य सामग्री की मॉग पूरी नही हो पाती तो, बाद मे उस से कम अच्छी यानी सब बातो का विचार करते हुए जो ज़मीन उस से दूसरे दर्जे की होती

है, वह खेती के काम में लाई जाने लगती है। इस प्रकार नई ज़मीन जोतने-बोने के काम में लाई जाने लगती है और साथ ही पहले की ज़मीन पर भी और अधिक अच्छे तरीको पर तथा अधिक गहराई के साथ खेती की जाने लगती है। इस प्रकार एक साथ दो बातें होती हैं। पहली बात तो यह कि पहले जितनी जमीन खेती के काम में आती थी उस से अधिक परिणाम में अब खेती के काम मे लाई जाती है। इसे खेती की बाहरी सीमा कहते हैं। बाहरी सीमा से खेती की जमीन का विस्तार बढ जाता है। पहले जो सीमांत उपज थी उस के मुकाबले में अब जो सीमांत उपज होती है वह कम होती है। यदि पहले सीमांत उपज १० मन फी बीघे थी तो दूसरी बार सात मन और तीसरी बार पाँच मन सीमांत उपज रह जाती है। इस प्रकार विस्तृत सीमांत उपज गिर जाती है। दूसरी बात यह होती है कि पहलेवाले खेतो मे, पूर्व समय मे प्रति बीघा जितनी लागत की मात्राएं लगाई जाती थीं उस से अब ज्यादा मात्राएं लगाई जाती है। यानी यदि पहले एक नंबर के खेत में १० मात्राएं लागत खर्च की लगाई जाती थीं तो बाद मे १५ मात्राएं लगाई जायँगी। इसे खेती की अंदरूनी सीमा का विस्तार कहते है।

किंतु पहले के मुकाबले में अंदरूनी सीमांत उपज भी घटेगी। एक खेत में जैसे-जैसे और अधिक इकाइयां (श्रम-पूँजी की) लगाई जायँगी, वैसे ही वैसे क्रमशः आगे लगाई जाने वाली (श्रम-पूँजी की) इकाइयो के फल-स्वरूप प्राप्त होनेवाली प्रति बीघे उपज क्रमश कम होती जायगी। पहले यदि प्रति बीघे प्रति इकाई १० मन होती थी तो अब दूसरी इकाई के कारण प्रति बीघे सात मन, और तीसरी इकाई के कारण पाँच मन ही उत्पन्न होगा।

जन संख्या के बढने और इस कारण खाद्य पदार्थों की माँग बढने से खेती की बाहरी सीमा भी बढती है (यानी और अधिक नई भूमि खेती के लिए काम मे लाई जाती है), और साथ ही खेतो की अंदरूनी सीमा भी

बढ़ती है (अर्थात् पहले के खेतों में और अधिक गहराई से खेती की जाती है, प्रति बीघे पहले से और अधिक श्रम-पूँजी की इकाइयां लगाई जाती है)। दोनों ही दशाओं मे क्रमशः सीमांत उपज कम होती जाती है।

नीचे दर्जे की ख़राब ज़मीन पर यानी विस्तृत सीमा पर की भूमि पर जो लागत-खर्च लगता है, उस भूमि की उपज से केवल वही पूरा हो सकता है, यानी उस से जो उपज होती है वह इतनी नही होती कि लागत-ख़र्च से अधिक कुछ बचत हो, केवल लागत-खर्च निकलता है। अच्छी ज़मीन मे उसी सीमा तक लागत लगाई जाती है जब तक कि लागत निकल आवे। अंदरूनी सीमा की खेती में भी कुछ बचत नहीं होती। अस्तु दोनों सीमाओं पर की खेती से जो उपज होती है उस मे से लागत मात्र निकलती है, लगान देने को कुछ भी नही बचता। सीमा पर की ज़मीन पर इस से लगान नही लगता। अच्छे दर्जे की ज़मीन पर अंदरूनी सीमा तक लगाई जाने वाली (श्रम और पूँजी की) लागत की मात्राओं से जो उपज होती है उस मे से सारी मात्राओं का सम्मिलित लगान-ख़र्च निकाल देने पर जो बचता है वही उस ज़मीन का आर्थिक लगान होता है।

सीमांत भूमि पर लगान क्यों नहीं?

उत्पत्ति का कितना परिमाण उत्पन्न किया जाय और किस हद तक सीमांत खेती ले जाई जाय ये दोनो बाते माँग और पूर्ति की साधारण स्थिति द्वारा निश्चित की जाती है। ये दोनों बाते एक ओर तो माँग द्वारा यानी जन-संख्या, उस की खाद्य सामग्री-संबंधी आवश्यकताओ और उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दाम देकर पदार्थ ख़रीद कर सकने की शक्ति और इच्छा आदि के द्वारा निश्चित की जाती है; और दूसरी ओर पूर्ति द्वारा, यानी कृषि-योग्य भूमि के विस्तार और उपजाऊपन, और उन मनुष्यों की जो खेती करना चाहते हैं, तादाद और द्रव्य-शक्ति द्वारा निश्चित की जाती है। इस प्रकार उपज का लागत-ख़र्च, माँग का ज़ोर, सीमांत उत्पत्ति और उत्पत्ति का दाम आपस मे एक-दूसरे पर प्रभाव

डालते और एक-दूसरे से प्रभावित होते रहते है। अस्तु लगान उपज की कीमत का कारण नहीं होता, बल्कि कीमत, उपजाऊपन, सीमात खेती की स्थिति आदि मिल कर लगान के कारण होते है। इस का सविस्तर विवेचन आगे दिया गया है।

क्रमागत-ह्रास नियम और लगान

यदि क्रमागत उत्पति-ह्रास नियम लागू न होता तो किसी भी जमीन का लगान न होता, क्योंकि फिर तो सब से अच्छी जमीन के एक भाग ही से जितनी ज़रूरत होती उपज कर ली जाती। किंतु इस नियम के कारण एक सीमा के बाद भूमि के एक भाग पर लगाई जानेवाली पूँजी और श्रम की प्रत्येक इकाई (मात्रा) के बदले मे जो उपज की मात्रा प्राप्त होती है वह क्रमश. लागत से कम होती जाती है। इस से अच्छी से अच्छी ज़मीन के एक भाग मे उस सीमा के बाद श्रम और पूँजी की और अधिक इकाइयो की मात्रा लगाने के बजाय किसान दूसरे दर्जे की जमीन को काम मे लाने लगता है। जब यह दूसरे दर्जे की जमीन काम मे आने लगती है तो उस से अच्छे दर्जे की जमीन पर लगान देना पडता है। अस्तु ज़मीनो के दर्जों मे भिन्नता होने के कारण लगान देना पडता है। पर यदि जमीन के विभिन्न भागो मे यह भिन्नता न होती और कुल भाग एक ही तरह के होते तो भी क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने के कारण एक ही भाग मे श्रम और पूँजी की इकाइयो की कुल मात्राओ के लगाने से क्रमशः जो उपज प्राप्त होती वह बराबर नही होती, क्योंकि सीमांत मात्रा के लगाने पर जो उपज होगी वह केवल लगान के बराबर होगी। उस से कुछ भी न बच सकेगा। इस सीमांत मात्रा के पहलेवाली सभी मात्राओ की उपज लागत से अधिक होती है। अस्तु सीमांत लागत-मात्रा के पूर्व की सभी लागत-मात्राओ की कुल उपज कुल लागत से अधिक होती है। इन दोनो का अंतर ही यथार्थ मे आर्थिक लगान है।

भूमि के उपयोग के लिए जो उजरत (या कीमत) दी जाती है उसी

क़ीमत की तरह ही लगान का प्रादुर्भाव होता है

को लगान (या भाडा) कहते है। और इस कारण किसी अन्य उजरत या कीमत की तरह ही माँग और पूर्ति के सिद्धांत के द्वारा ही लगान का निर्णय और उस की व्याख्या होना ज़रूरी है। किसी देश की जमीन का लगान, उस जमीन के निमित्त होनेवाली माँग और उस की पूर्ति की मात्रा पर निर्भर रहती है। ज़मीन की मॉग उस पर उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की माँग पर निर्भर रहती है। और इन वस्तुओ की मॉग उस समय की जन-संख्या और उस की विभिन्न आवश्यकताओ पर निर्भर रहती है। भूमि की उपज की मात्रा और सीमात उपज के द्वारा भूमि की मॉग का, और भूमि के विस्तार और उर्वरता के द्वारा उस की पूर्ति का निर्णय होता है। इन्ही के द्वारा भूमि के लगान का निर्णय किया जाता है। इस प्रकार भूमि के लगान का निर्णय मॉग और पूर्ति के सिद्धांत के द्वारा किया जाता है। यह निर्णय उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार किसी भी वस्तु के मूल्य का निर्णय मूल्य के सिद्धांत द्वारा किया जाता है।

भूमि के संबध मे त्याग या लागत-ख़र्च नहीं होता

जब कोई एक आदमी किसी काम मे लगाया जाता है तो उसे कुछ कष्ट होता है। उस कष्ट को सहन करने के लिए उसे मजदूरी देनी पडती है। यदि काम के लिए उसे उजरत न दी जाय तो वह उस काम को करने का कष्ट न उठायेगा। पूँजी को बचा कर जोडने मे कुछ न कुछ त्याग, संयम, प्रतीक्षा करनी पडती है तात्कालीन संतोष को छोडना पडता है। इसी पूँजी के उपयोग के लिए सूद देना पडता है। यदि मज़दूर को काम के लिए मज़दूरी और पूँजी के उपयोग के लिए सूद न दिया जाय तो न मजदूर काम करने को राजी होगा और न पूँजीपति पूँजी देने को तैयार होगा। यदि काम के लिए उजरत न दी जाय तो जनसंख्या कम हो जायगी, क्योंकि उजरत न मिलने के कारण मज़दूर अपना भरण-पोषण न कर सकेंगे। मजदूरो को बनाए रखने के लिए भरण-पोषण का

व्यय पूरा करना ज़रूरी है।

किंतु भूमि प्रकृति की देन है। उस पर न तो कुछ उत्पादन-व्यय ही पडता है और न उसे उपयोग मे आने के कारण उस तरह का कष्ट ही होता है जैसा कि श्रमी को होता है। कारण कि वह (भूमि) निर्जीव होती है। उसे बनाए रखने मे भी श्रमी की तरह भरण-पोषण का व्यय नहीं उठाना पडता। इस कारण यदि भूमि के लिए लगान न दिया जाय तो भी उस के परिमाण मे कमी न आएगी।

एक खास स्थान पर या जमीन का मौके पर का होना भी लगान का कारण होता है। मान लो कि सब जमीने एक समान ही उपजाऊ हैं। किंतु उन मे से कुछ तो मंडी के पास स्थित है, और कुछ मंडी से दूर। प्रत्येक प्रकार की ज़मीन के एक बीघे से दस मन गेहूं पैदा होता है। मान लो कि गेहू का भाव तीन रुपया मन है और इस भाव पर जो श्रम और पूॅजी प्रति बीघे लगाई जाती है ठीक उतनी ही उपज होती है, इस भाव पर जो ज़मीनें मंडी से दूर स्थित है उन पर खेती करने से पडता नही पडता, क्योंकि प्रति बीघे जितनी लागत लगानी पडती है, उपज ठीक उतने ही दामों पर बिकती है। किंतु मंडी से दूर होने के कारण मंडी तक उन दूर की ज़मीनों से गेहूं ले जाने मे जो ढुलाई का ख़र्च बैठता है वह नही निकलता, मंडी के नजदीकवाली जमीनों को ढुलाई का यह खर्च देना नही पडता। इस कारण दूर की जमीनो पर खेती नही की जायगी। अब दूर की ज़मीनों से जो उपज होती थी उतनी मात्रा मे गेहूं मंडी मे कम पडेगे। और चूॅकि माॅग पूर्ववत् ही रहती है इस कारण ख़रीदारो मे प्रतिद्वंद्विता होगी। इस कारण गेहूं मॅहगा हो जायगा। दाम इतने बढ जायॅगे कि दूरवाली जमीनों से गेहू से आने मे जो ढुलाइ का ख़र्च पडता है वह पूरा हो जाय। ऐसी दशा में बढे हुए दामों के कारण मंडी के नजदीकवाली जमीनो की उपज लागत-ख़र्च से कुछ अधिक होगी। और इस प्रकार उपज और लागत-

मौके या स्थान के कारण लगान

ख़र्च का जो अंतर होगा वह लगान के रूप में नज़दीकवाली ज़मीनों के मालिक को दिया जायगा। इस प्रकार एक ख़ास स्थान पर या ज़मीन के मौके पर की होने के कारण लगान देना पडेगा। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उर्वरता अथवा स्थान (या दोनों) की विशेषता के कारण भूमि के विभिन्न भागों के लिए लगान (या किराया) देना पडता है।

जिस भू-भाग पर मकान बनाए जाते है उस के उर्वरतावाले गुण की

मकान की भूमि का लगान (किराया)

ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। मकानवाले भू-भाग को ख़ास मौके पर होना चाहिए। इसी गुण के लिए भूमि का किराया दिया जाता है। जो भू-भाग जितने ही अधिक मौके पर होगा, उस का लगान (किराया) उतना ही अधिक दिया जायगा। विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न दृष्टि से स्थान अधिक या कम उपयुक्त ठहरते है। रहने के विचार से कोई एक स्थान अधिक मौके पर समझा जायगा और व्यापार या कारख़ाने के लिए कोई दूसरा ही स्थान। जिस मोहल्ले में किसी ख़ास जाति, संप्रदाय, पेशे आदि के मनुष्य रहते है, उसी स्थान पर उसी जाति, संप्रदाय, पेशे आदि के अन्य मनुष्य रहना अधिक पसंद करते है। इसी प्रकार कारख़ानों, दूकानों आदि के लिए भी वह स्थान अधिक उपयुक्त समझा जाता है, जहां उसी वस्तु के या उसी तरह के कारख़ाने, दूकाने आदि चालू रहती है। किराए के निर्णय में इन सब बातों का प्रभाव पडता है।

अन्य वस्तुओं, सेवाओं, साधनों, आदि की तरह ही मकान की भूमि का लगान (या भाडा) भी माँग और पूर्ति के नियम के द्वारा निश्चित किया जाता है। जब किसी एक भू-भाग के विभिन्न टुकडों की माँग मकान बनाने के लिए ज्यादा होगी, तब उस का लगान (या भाड़ा) भी अधिक होगा। माँग, आवश्यकता, लागत-ख़र्च आदि के अनुसार मकान एक, दो या अधिक मंजिल के बनवाए जाते हैं। मकान जिस भू-भाग पर बनाए जाते हैं, यदि वह महँगा पडता है तो मकान कई तल्ले (मंजिल) के बनवाए

जाते है। मकान के बनवाए जाने मे भी क्रमागत-ह्रास नियम लागू होता है। जैसे मकान की मंज़िले बढती जाती है। वैसे ही वैसे लागत-ख़र्च बढता जाता है। जैसे-जैसे श्रम-पूँजी की अधिकाधिक इकाइया लगती जाती है वैसे ही वैसे उस मंज़िल से प्राप्त होनेवाली आय की रकम ख़र्च के अनुपात मे कम होती है। और अंत मे एक ऐसा समय आता है जब अतिम मंजिल पर होनेवाला व्यय ठीक उतना ही होता है जितनी आय उस मंजिल के किराए से होती है। यही मंजिल सीमात मंजिल होती है। इस के आगे उस मकान पर और अधिक मजिल नही उठाई जा सकती, क्योकि वैसा करने से हानि होगी।

खान का लगान

यदि खान के मौके के स्थान पर होने और उस मे से निकलनेवाले खनिज पदार्थ की वहुलता (खान की उर्वरता) पर उन के लगान निर्भर रहते हैं। जो खान बाजार और बस्ती से दूर होगी, अथवा जिस मे खनिज पदार्थ की मात्रा कम होगी उस का लगान कम होगा। पर खान की जमीन के लगान मे एक ख़ास वात शामिल रहती है। खान से खनिज पदार्थ निकाल लेने पर वह सदा के लिए वेकार हो जाती है, फिर उस से कोई लाभ नही होता। इस के बदले मे मुआवजा देना पडता है। यह मुआवज़ा वाली रकम खान के लगान मे शामिल रहती है।

भूमि की आय-विना श्रम की आय

भूमि की आय के संबध मे एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है—उस का विना श्रम की आय होना। देश मे जनसंख्या के बढने, धन-संपत्ति मे वृद्धि होने और आवागमन के साधनो मे सुधार और वृद्धि होने तथा अन्य प्रांतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के बढने से अनायास की माँग बढ़ जाती है और उस से होने वाली आय भी बढ जाती है। आय की इस वृद्धि के लिए भू-स्वामी को अपनी ओर से कुछ भी प्रयत्न नही करना पडता। सामाजिक, व्यापारिक तथा राजनीतिक कारणों से स्वत• इस आय मे वृद्धि हो

जाती है। इस प्रकार भूमि की आय मे जो वृद्धि होती है उसी को भूमि की विना श्रम की आय कहते है।

प्रायः देखा जाता है कि जनसंख्या के बढने से जब किसी कस्बे मे अधिक मकानो की माँग होने लगती है तो किराया बढ जाता है। कभी-कभी किसी नगर के एक भाग मे नई सड़क के निकल जाने से उस सडक के किनारेवाले भू-भाग के विभिन्न टुकडो की माँग बढ जाती है, और इस कारण उस भू-भाग से होनेवाली आय मे वृद्धि हो जाती है। जब किसी एक गाँव के पास से रेलवे निकल जाती है या सडक निकालने से किसी मंडी मे माल ले जाने का सुभीता हो जाता है तो आस-पासवाले खेतों से होनेवाली आय बढ जाती है। इसी प्रकार की वृद्धि को भूमि की विना श्रम की आय कहते है। क्योंकि इस वृद्धि के लिए भू-स्वामी को ख़ुद कुछ भी नहीं करना पडता। अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि भूमि की विना श्रम की आय जनता के हित के लिए सरकारी खजाने मे जानी चाहिए, न कि कुल की कुल भू-स्वामी की जेब मे।

सीमांत उत्पादकता के सिद्धांत के द्वारा साधनों की उजरत का निर्णय किया जाता है। लगान का विवेचन भी सीमांत सिद्धांत द्वारा आसानी से किया जा सकता है। मान लीजिए कि भूमि के सभी भाग एक समान ही उपजाऊ हैं, और साथ ही मंडी से सब भू-भाग समान दूरी पर हैं। यानी उर्वरता और दूरी का प्रश्न थोडी देर के लिए नहीं उठाया जाता। यदि ऐसी स्थिति में एक किसान सौ बीघे पर खेती करता है और श्रम-पूंजी की सौ इकाइयां लगाता है तो इस से उसे उपज की एक ख़ास मात्रा प्राप्त होती है। अब मान लीजिए कि अन्य सब बातें पूर्ववत् रहती हैं पर उसे एक बीघा जमीन छोड देनी पडती है। ऐसी स्थिति में उसे श्रम-पूंजी की १०० इकाइयों को ९९ बीघे ज़मीन मे लगाना पड़ेगा। यानी एक बीघा छोड देने के कारण खेती और अधिक गहराई से करनी पडेगी। ऐसी दशा

लगान और सीमांत उत्पादकता

में क्रमागत-ह्रास-नियम लागू होगा। पहले के मुकावले मे कुल उपज कुछ कम हो जायगी। जितनी मात्रा मे कमी होगी वही मात्रा एक वीघे भूमि की सीमांत उपज होगी। लगान इसी सीमात उपज के वरावर होगा और प्रत्येक वीघे पर इसी हिसाव से लगान देना पड़ेगा। इस प्रकार सीमात उत्पादकता के अनुसार भूमि के लगान का निर्णय किया जाता है।

यदि कृषि-संवंधी मशीनों, औज़ारो मे सुधार हो जाय, अथवा अधिक अच्छा खाद काम मे लाया जाय, और इन कारणो से प्रति वीघा भूमि की उपज वढ जाय, तो भूमि की कुल उपज वढ जायगी। ऐसी दशा मे यदि उपज की मॉग न बढी तो उपज की वृद्धि के कारण भाव गिर जायगा। दाम घट जाने से पहले के भाव पर जो सीमात भू-भाग कृषि के कामों मे लाए जाते थे उन की उपज से लगात-खर्च न निकलेगा, इस कारण पहले की सीमांत भूमि कृषि से निकल जायगी। लगान की दर कम हो जायगी। किंतु इस प्रकार के सुधारो का प्रभाव भूमि की विभिन्न श्रेणियो के लगानो पर भिन्न-भिन्न रूप मे पडेगा।

लगान पर सुधार का प्रभाव

यदि सुधार सभी श्रेणियो पर समान-रूप से किए गए तो उत्तम श्रेणी की भूमि से निम्न श्रेणी की भूमि के मुकावले मे अपेक्षाकृत अधिक उपज प्राप्त होगी। ऐसी दशा मे उत्तम श्रेणियो की भूमि के लगान घटने के वजाय पहले से वढ जॉयगे, क्योकि निम्न श्रेणी की भूमि की उपज से उत्तम श्रेणियों की भूमि की उपज पहले से भी अधिक होगी। किंतु यदि सुधार केवल निम्न श्रेणियो की भूमि मे किया गया, और निम्न श्रेणी की भूमि, उत्तम श्रेणी की भूमि के समान ही उर्वरा हो गई, तो पहले जो उत्तम श्रेणी की भूमि मानी जाती थी उस पर का लगान कम हो जायगा अथवा विल्कुल उड जायगा, क्योकि सभी तरह की जमीनों से वरावर उपज प्राप्त हो सकेगी।

यदि आवागमन के साधनो मे सुधार हो जाय, माल ले आने ले जाने

लगान पर आवागमन के साधनो का प्रभाव

में सुगमता हो जाय और ढुलाई-भाड़ा कम हो जाय तो मंडी के पासवाले भू-भाग का लगान पहले से कम हो जायगा, क्योंकि दूर-दूर स्थानो से उपज मंडी मे आने लगेगी इस कारण मंडी के पासवाले भू-भागो की विशेषता कम हो जायगी, उन की माँग घट जायगी। किंतु मंडी से दूर-वाले जिन स्थानों का माल मंडी मे पहले नही ले जाया जा सकता था, अथवा कठिनाई से तथा अधिक ख़र्च करके ले जाया जा सकता था वह अब आसानी से और कम खर्च मे ले जाया जाने लगेगा। इस कारण इन दूर के भू-भागों की कदर बढ जायगी। इस से इन का लगान भी बढ जायगा। आवागमन के साधनो मे सुधार होने के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बढ जाता है, इस कारण व्यवसाय-प्रधान देश अपनी खाद्य सामाग्री अन्य कृषि-प्रधान देशो से लेने लगते है। इस कारण, तीन बातें होती है:—(अ) व्यवसाय-प्रधान देशों की कृषि-संबंधी भूमि की माँग कम हो जाती है, फलतः वहां की उस भूमि का लगान कम जाता है जिस मे खाद्य सामग्री उत्पन्न की जाती है। (आ) कृषि-प्रधान देशों मे खाद्य सामग्री की माँग बढ जाती है। इस से खाद्य सामग्री उत्पन्न करने वाली भूमि की माँग बढ जाती है, फलतः उस का लगान बढ जाता है। (इ) व्यवसाय-प्रधान देशो मे व्यवसायिक तथा अन्य कारणो मे भूमि की माँग बढ जाती है इस कारण आमतौर पर भूमि का लगान बढ जाता है।

जनसख्या और लगान

जनसंख्या के बढने पर रहने तथा खेती के लिए भूमि की माँग बढ जाती है इस कारण लगान बढ जाता है। जनसंख्या के बढने पर खेती मे उत्पन्न होनेवाले पदार्थों की माँग बढ जाती है। पदार्थों की बढी हुई माँग की पूर्ति के लिए उत्तम भूमि पर और अधिक गहराई के साथ खेती की जा[illegible] है और साथ ही वह निम्नतर श्रेणी की भूमि जो खेती के काम में लाई गई थी, अब खेती के काम में लाई जायगी। दोनों ही

मे खेती की अंदरूनी और बाहरी सीमाएं गिर जायँगी। फलत. लगान पहले के मुकाबले में बढ जायगा। इस के साथ ही जनसंख्या के बढने से रहने के लिए पहले से अधिक भूमि काम मे लाई जायगी। मॉग बढ जायगी। इस कारण लगान (भाडा) बढ जायगा। इधर खेती के लिए भूमि कम पडेगी। इस कारण खेतीवाली भूमि का लगान और बढ जायगा। इस का असर मकान बनानेवाली ज़मीन पर पडेगा, फलतः उस की भी दर बढ जायगी। इस प्रकार जनसख्या के बढने से सभी प्रकार की भूमि का लगान बढ जाता है।

रहन-सहन का दर्जा और लगान

जैसे-जैसे किसी समाज की संपत्ति बढती जाती है; वैसे ही वैसे उस के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है। और वैसे ही वैसे कुल आय के अनुपात मे खाद्य पदार्थों पर होनेवाले खर्च की रकम घटती जाती है। अगर एक व्यक्ति की आय चौगुनी होने लगे तो वह अपने खाद्य पदार्थों का परिमाण चौगुना नही कर सकता, कारण कि खाद्य पदार्थों के उपयोग की एक हद होती है। वे विलासिता की वस्तुओं की तरह मनमाने ढंग से उपयोग मे नही लाए जा सकते। इस कारण जैसे-जैसे सपत्ति समृद्धि बढती जाती है, रहन सहन का दर्जा ऊचा होता जाता है, वैसे ही वैसे खाद्य पदार्थों का मूल्य उसी अनुपात मे नही बढता, जैसे विलासिता आदि की वस्तुओं का। इस लिए भूमि का लगान उस अनुपात मे नही बढता जितना कि अन्य वस्तुओं का मूल्य।

मॉग की घट-बढ का भूमि के परिमाण पर प्रभाव

यदि किसी वस्तु की मॉग बढ जाय और उस की उजरत या कीमत बढ जाय, तो उस की पूर्ति भी बढ जायगी। क्योंकि लोग उसे अधिक मात्रा में उत्पन्न करने लगेगे। और यदि उस वस्तु की मॉग घट जाने से उस की उजरत कम हो जाय तो लोग उसे कम उत्पन्न करेंगे। अस्तु, उस की पूर्ति की मात्रा में कमी पड जायगी। किंतु भूमि तो एक निश्चित

परिमित मात्रा मे है। माँग और उस के साथ उस की उजरत मे घट-बढ होने से उस की मात्रा मे कमी-बेशी नही हो सकती। भूमि तो जितनी है उतनी ही बनी रहेगी। भूमि की यह एक खास विशेषता है। (एक बात है, किसी एक खास उपयोग मे आनेवाली भूमि की मात्रा मे कमी-बेशी हो सकती है। यदि किसी कारण मकान बनानेवाली ज़मीन की माँग बढ जाय और उस की उजरत ज़्यादा मिलने लगे तो अन्य उपयोगों मे लाई जानेवाली भूमि का कुछ अंश उन उपयोगों से निकाल, कर मकान बनाने के काम मे दे दिया जायगा। इस प्रकार भूमि की पूर्ति की मात्रा में भी घट-बढ हो सकती है। पर कुल भूमि के परिमाण या प्रसार मे इस से कोई अंतर नहीं पडता।)

अर्ध-लगान या बतौर लगान

मशीन, कारख़ाना आदि उत्पादन के साकार, अचल पदार्थों की भी स्थिति अल्पकाल मे ठीक भूमि ही की तरह होती है। यानी माँग और उजरत की कमी-बेशी का उन की मात्रा मे साधारण समय मे वैसा विशेष कुछ भी फर्क नहीं पडता, क्योकि जो मशीन, मकान एक बार बन जाते है उन की माँग और उजरत में कमी आने पर भी उन की मात्रा या संख्या पूर्ववत् रहती है। जल्दी उन का उत्पादन या पूर्ति नही की जा सकती। अधिक काल तक टिक सकनेवाले सभी पदार्थों का यही हाल है। अस्तु उन से प्राप्त होने-वाली आय लगान ही की तरह मानी जानी चाहिए। पर भूमि में और मशीन आदि मे कुछ ख़ास फर्क भी है। भूमि प्रकृति की देन है। अस्तु उस का लागत-खर्च कुछ भी नही होता। पर मशीन आदि में लागत-ख़र्च होता है, क्योंकि ये पदार्थ मनुष्य के बनाए हुए होते है। अल्प काल में लागत ख़र्च का भले ही ख्याल न किया जाय पर दीर्घ काल में लागत-ख़र्च का ख़याल करके ही मशीने आदि बनाई जाती है। क्योंकि यदि उन का लागत-ख़र्च न निकल सका तो आगे उन का बनना रुक जायगा। अस्तु, मशीन आदि से होनेवाली आय मे एक अंश लागत-ख़र्च का भी रहता है। फिर

मशीन आदि ज़रूरत पड़ने पर बना कर तैयार की जा सकती है। पर भूमि तो उत्पन्न नहीं की जा सकती। हां, अल्प काल में मशीन आदि से जो आय होती है वह अनावश्यक और अप्रत्याशित मानी जाती है, क्योंकि एक बार मशीन आदि के बन जाने पर यह निश्चित नहीं रहता कि उस से कितनी आय हो। वह लागत-ख़र्च का ख़याल कर के बहुत अधिक भी हो सकती है और बहुत कम या नहीं के बराबर भी। इस प्रकार मशीन आदि से प्राप्त होनेवाली आय लगान के समान ही होती है।

दूसरी दृष्टि से देखने पर चूंकि मशीन आदि में पूंजी लगती है, अस्तु उन से होनेवाली आय सूद की तरह होती है। पर सूद तो छुट्टा पूंजी (द्रव्य या सिक्का) की उजरत होती है, जो द्रव्य के प्रति सैकड़े के अनुपात में बाज़ार दर देख कर तय की जाती है। पर मशीन आदि के एक बार बन जाने पर यह प्रति सैकड़े का अनुपात ठीक से नहीं बैठाया जा सकता, क्योंकि कभी कम किराया मिलता है कभी बहुत ज्यादा, जो उस समय की आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहता है। दूसरे छुट्टा पूंजी की तरह मशीन में लगी जमा बात की बात में एक वस्तु से दूसरी वस्तु में बदली नहीं जा सकती। अस्तु मशीन और छुट्टा पूंजी की आयों में अंतर होता है। इन्हीं सब कारणों से मशीन आदि से प्राप्त होनेवाली आय को न तो सूद कहा जा सकता और न लगान ही। इसी से उसे अर्ध-लगान लगान-रूप, या बतौर लगान (क्वासी रेंट) कहते हैं।

मनुष्यों की असाधारण योग्यता भी इसी श्रेणी में गिनी जाती है। और उस की उजरत भी अर्ध-लगान मानी जाती है, कारण कि असाधारण योग्यता भी भूमि की तरह ही प्रकृति की देन होती है।

लगान और कीमत का संबंध

लगान और कीमत में क्या संबंध है? कीमत से लगान का निश्चय होता है, अथवा लगान से कीमत तय की जाती है? ये प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है। कीमत वह रकम है जितने में उत्पत्ति बेची जाय। प्रतियोगिता प्रणाली

की स्थिति होने पर कीमत उत्पादन के लागत-ख़र्च के बराबर होती है। लागत-ख़र्च मे वह सब व्यय और त्याग सम्मिलित माना जाता है जो किसी पदार्थ के उत्पन्न करने के लिए करना पडता है। इस कारण उत्पादक की दृष्टि से भूमि का लगान, मज़दूरों की मज़दूरी, पूँजी का सूद आदि जो भी उत्पादन-कार्य के लिए देना पडता है वह सभी उत्पादन के लागत-ख़र्च में शामिल रहता है और त्याग माना जाता है, किंतु उत्पादक द्वारा किए गए ये सब भुगतान जिन साधकों द्वारा पाए जाते है, वे उन के लिए पुरस्कार के रूप मे होते है जो वे (साधक) अपने कामों या त्यागों के लिए पाते हैं। अस्तु जो वेतन मज़दूरी का भुगतान उत्पादक की दृष्टि मे त्याग (और लागत-ख़र्च) होगा वही वेतन मजदूर के लिए पुरस्कार होगा। प्रत्येक काम के लिए कुछ न कुछ शक्ति व्यय करनी पडती है, उस से कुछ हानि उठानी पडती है। यही त्याग होता है। उजरत से इस की पूर्ति होती है। यदि एक मज़दूर अपने काम मे मेहनत करते हुए जितनी शक्ति व्यय करके हानि उठाता है, उजरत मे उसे उस से कुछ ज्यादा मिल जाता है तो वह उस की बचत आय होती है। यही उस का असली नफ़ा होता है, अन्य साधनों के संबंध में भी यही बात होती है। पर भूमि को अपने काम में कुछ भी त्याग नही करना पडता क्योंकि वह प्रकृति की देन है। अस्तु भूमि के स्वामी को भूमि की उजरत के बदले मे जो लगान मिलता है वह कुल का कुल बचत होता है। इस प्रकार उत्पादक की दृष्टि में तो लगान लागत-ख़र्च (त्याग) होता है और भूमि के स्वामी की दृष्टि में बचत।

लगान का निर्णय कीमत के द्वारा

प्रत्येक साधन के उपयोग के लिए जो भी उजरत देनी पड़ती है उस की दर माँग और पूर्ति के नियमों के द्वारा निश्चित की जाती है। भूमि का लगान भी माँग और पूर्ति की स्थिति के अनुसार तय होता है। पर भूमि की मात्रा तो निश्चित रहती है। इस कारण उस के संबंध में पूर्ति का सवाल वैसा नहीं उठता। क्योंकि भूमि तो जितनी मात्रा मे है उतनी मात्रा में

रहेगी। अस्तु उस को उजरत का निर्णय उस की माँग द्वारा मुख्यत. किया जाता है। और भूमि की माँग के अर्थ होते है, उस से होनेवाली उपज की माँग से। यानी खाद्य आदि पदार्थों की माँग से। और इन पदार्थों की माँग क्या-कैसी हो यह उन पदार्थों की कीमत पर निर्भर रहता है, क्योंकि प्रत्येक ग्राहक वस्तु की कीमत समझ कर ही यह तय करता है कि वह उस की कितनी मात्रा खरीदे। इस प्रकार लगान का निर्णय कीमत द्वारा होता है, और चूँकि कीमत का निर्णय माँग और पूर्ति के द्वारा होता है इस कारण लगान का निर्णय भूमि (या खाद्य पदार्थों) की माँग और पूर्ति के द्वारा होता है। और भूमि की न्यूनता या परिमितता द्वारा खाद्य पदार्थों की कीमत का निर्णय होता है। और यही कीमत प्रत्येक साधन के हिस्से का निर्णय करती है। अस्तु, लगान का निर्णय कीमत के द्वारा होता है।

क्या लगान कीमत का निर्णय करता है?

किंतु एक बात विचारने योग्य है। लगान उत्पादक की दृष्टि से लागत-खर्च होता है और लागत-खर्च ही के अनुसार किसी वस्तु की कीमत निश्चित की जाती है। अस्तु सवाल उठता है कि क्या इस दृष्टि से लगान द्वारा क़ीमत का निर्णय नहीं किया जाता? इस का यथार्थ उत्तर है "नहीं।" क्योंकि व्यक्तिगत दृष्टि से प्रत्येक उत्पादक जो लगान देता है वह वस्तु का उत्पादन-व्यय होता है ज़रूर। किंतु किसी भी व्यक्तिगत लागत-खर्च द्वारा उस वस्तु की क़ीमत निश्चित नहीं की जाती। किसी वस्तु का लागत-ख़र्च केवल उस कीमत के बराबर होता है जो साधारण बाज़ार की स्थिति के अनुसार माँग और पूर्ति के द्वारा निश्चित की जाती है। यदि किसी उत्पादक का ख़र्च इस प्रचलित कीमत से ज्यादा होगा तो उसे या तो (किसी न किसी तरह) उस प्रचलित कीमत के बराबर होना पडेगा, या उस उत्पादक को अपना उत्पादन-कार्य बंद करना पड़ेगा। क्योंकि उस का माल बाज़ार ही से बिकेगा, चाहे उस पर लागत-ख़र्च कितना ही कम

ज्यादा क्यों न पडा हो। अस्तु बाजार मे टिकने के लिए यह ज़रूरी होगा कि वह उत्पादक लगान, मज़दूरी, ब्याज आदि कम करके लागत-ख़र्च इतना कम करदे कि वह बाजार की प्रचलित कीमत के बराबर आ जाय। नही तो उस का माल बिकेगा नही। अस्तु प्रत्येक उत्पादक को बाज़ार की प्रचलित कीमत के अनुसार अपने उत्पादन के लागत-खर्च को ठीक करते रहना पडता है। इस प्रकार कीमत ही लगान का निर्णय करती है।

कीमत पर लगान का प्रभाव नहीं

किंतु बाज़ार की प्रचलित कीमत का निर्णय माँग और पूर्ति द्वारा किया जाता है। और माँग और पूर्ति के नियमों के अनुसार प्रत्येक बाज़ार मे आनेवाली वस्तु की एक ही कीमत होगी, उस का लागत-खर्च चाहे कुछ भी पडा हो और वह चाहे अच्छे दर्जे की भूमि की उपज हो अथवा खराब या कम अच्छे दर्जे की भूमि की। और अच्छे दर्जे की भूमि से उतने ही लागत-ख़र्च से अधिक उत्पत्ति होगी, और कम अच्छे दर्जे की ज़मीन से कम मात्रा मे। प्रत्येक देश मे खेती की उपज की कीमत उपज के सीमांत लागत-ख़र्च के बराबर होती है। क्योंकि यदि कीमत इस से कम होगी तो सीमांत ज़मीन पर खेती न हो सकेगी, और फिर बाज़ार मे उतनी उपज की मात्रा (जो सीमांत भूमि पर होती है) कम हो जायगी। अस्तु कुल उपज की मात्रा मे कमी पड जायगी। चूँकि माँग पहले की तरह ही कायम है। इस कारण ग्राहकों मे होड होगी और क़ीमत बढ जायगी। अस्तु फिर सीमात ज़मीन पर खेती की जाने लगेगी क्योंकि कीमत बढ जाने से उस की लागत-मात्र निकल आएगी। अब चूँकि सीमांत भूमि पर लगान नहीं देना पडता है, इस कारण कीमत पर लगान का कोई भी प्रभाव नहीं पडता। उपज की माँग में वृद्धि होने के कारण उपज की कीमत बढ जाती है, और इस से कम अच्छी ज़मीन पर खेती करने मे भी लाभ रहता है। इस से अच्छी ज़मीन का लगान बढ़ जाता है। इस प्रकार कीमत मे वृद्धि होने के कारण ही लगान मे वृद्धि होती जाती है।

कब लगान कीमत मे शामिल है ?

आमतौर पर सीमांत उत्पादन के लागत-ख़र्च में लगान शामिल नहीं रहता, इस कारण लगान कीमत मे भी शामिल नही रहता। किंतु जिन दशाओं मे लगान सीमांत उत्पादन के लागत-ख़र्च मे शामिल रहता है, उन दशाओं मे लगान कीमत मे भी शामिल रहता है। यह तभी संभव होता है जब किसी देश की सारी की सारी भूमि पर किसी का एकाधिकार हो जाता है और उस का स्वामी सीमांत भूमि के लिए भी लगान लेता है। ऐसा होने पर सीमांत भूमि की उपज के लागत-ख़र्च मे लगान शामिल हो जाता है। इस कारण कीमत के निर्णय मे लगान का भी प्रभाव पड़ता है। क्योंकि कीमत का बहुत कुछ विचार लागत-खर्च को सामने रख कर किया जाता है, इस प्रकार लगान शामिल रहता है। किंतु अर्थशास्त्र की दृष्टि मे ऐसी परिस्थिति असाधारण मानी जाती है। आमतौर पर सीमांत भूमि की उपज के लागत-खर्च मे लगान शामिल नही माना जाता। क्योंकि सीमांत भूमि पर लगान नही रहता।

अध्याय ४१

सूद

पूँजी के उपयोग के लिए जो उजरत दी जाती है उसे सूद कहते है।

सूद और उस का महत्व

वर्तमान युग मे सूद का प्रश्न बहुत पेचीदा और महत्वपूर्ण हो गया है। यदि भूमि और श्रम न हों तो उत्पादन हो ही नही सकता। उत्पत्ति के साधनों में पूँजी ही एक ऐसा साधन है जिस के बिना भी उत्पत्ति हो सकती है। किंतु वर्तमान समय मे अनेक कारणों से पूँजी अन्य सभी साधनों से अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। जिस उत्पादन में जितनी ही अधिक पूँजी लगाई जा सकती है, वह उतना ही अधिक अच्छा और सस्ता हो सकता है। वर्तमान युग का उत्पादन अधिकांश मे पूँजी पर निर्भर रहता है। व्यापार-व्यवसाय की तेज़ी-मंदी, व्यक्ति, समाज और संसार की समृद्धि-दरिद्रता, सुख-दुःख उन्नति-अवनति बहुत अंशो मे पूँजी और उस के उपयोग पर निर्भर रहती है।

प्राचीन काल में प्रायः सभी देशो और धर्मो मे सूद लेना बहुत ही निंदनीय ठहराया गया है। इस का कारण है। उस समय अभाव के कारण घोर विपत्ति मे पड़े हुए व्यक्ति भरण-पोषण और जीवन-रक्षा के लिए ऋण लेते थे, ऐसी दशा मे व्याज लेना उचित नही समझा जा सकता। किंतु जो ऋण व्यापार-व्यवसाय के द्वारा लाभ उठाने के अभिप्राय से लिया जाता है उस के लिए सूद लेना उचित ही नही आवश्यक भी हो गया है।

किसी ऋण के लिए आमतौर पर जो सूद लिया-दिया जाता है, उस

असली सूद और कुल सूद

मे असली सूद के अलावा और भी अन्य भुगतानों की रक़मे शामिल रहती हैं। इस प्रकार का सूद कुल-सूद कहलाता है। कुल-सूद मे (१) असली सूद;

(२) जोखिम के लिए बीमे की रकम, (३) ऋण देनेवाले को जो कष्ट, जो असुविधाएं होती है उन के मुआवज़े की रकम, (४) ऋण-संबंधी कार्य के निमित्त प्रबंध की उजरत शामिल रहती है। जोखिम के दो प्रकार है—एक तो व्यापारिक जोखिम दूसरे वैयक्तिक जोखिम। उत्पादन के समय अथवा उस के बाद प्राय उत्पन्न वस्तुओ की मॉग घट जाती है, कच्चे माल के दाम कम हो जाते है, सुधारो, आविष्कारो आदि के कारण उत्पादन सस्ता हो जाता है, और इस कारण उस वस्तु के दाम कम हो जाते है। इस प्रकार के परिवर्तनो से उधार दिए हुए मूल धन के मिलने मे जो बाधाएं पडती है वे सब व्यापारिक जोखिम के अतर्गत आ जाती है। जब कोई कर्जदार बेईमानी के विचार से या ऋण चुका सकने से असमर्थ होने के कारण उधार लिया हुआ रुपया नही लौटाता, तब जिस जोखिम का भार सहना पडता है वह वैयक्तिक जोखिम है। इन जोखिमों की पूर्ति के लिए ऋण-दाता को असली सूद से कुछ अधिक रकम मिलनी चाहिए। जब किसी ऋण मे जोखिम का भय लगा रहता है, तब ऋण-दाता को उन जोखिमो को कम करने या दूर करने मे बडी तरद्दुद उठानी पडती है, बडा प्रयत्न करना पडता है। इस के अलावा कभी-कभी ऋण लेनेवाला ऐसे समय मे ऋण की रकम लौटा देता है जब उस का फिर से किसी लाभ के कार्य मे लगाना कठिन या असभव होता है। इन सब बातो से ऋण-दाता को अनेक असुविधाओ का सामना करना पडता है। इस के लिए भी असली सूद के अलावा कुछ उजरत ज़रूरी होती है। और इस प्रकार की असुविधाए जितनी ही ज्यादा होगी कुल सूद की दर उतनी ही ज्यादा होगी। इन सब बातो के अलावा ऋण-दाता को ऋण तथा उस से संबंध रखनेवाली बातो का हिसाब रखना पडता है, और प्रबध करना पडता है। इन सब कामो के लिए भी उजरत दी जानी चाहिए। इस प्रकार कुल सूद मे, असली सूद के अलावा, अन्य अनेक प्रकार के भुगतानो की रकमे शामिल रहती है। कुल सूद की दर

बहुत अधिक होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर असली सूद की दर कम ठहरेगी। प्रायः एक देश मे, एक ख़ास समय मे, प्रतियोगिता के कारण असली सूद की दर के एक ही होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किंतु अन्य भुगतानो की रकमों के भिन्न होने के कारण कुल सूद की दरे भिन्न-भिन्न पाई जाती है।

किसी व्यवसाय मे अधिक जोखिम रहती है, और किसी मे कम। जिस मे अधिक जोखिम होती है उस के लिए बीमे की रकम अधिक देनी पडती है। इस कारण जिस व्यवसाय मे अधिक जोखिम होगी उस मे ऋण के लिए कुल सूद की दर अधिक होगी। इसी प्रकार विभिन्न ऋणो के संबंध मे असुविधाओं मे तथा प्रबंध-कार्य मे भिन्नता होती है। जिस ऋण मे अधिक असुविधाएं होंगी उस मे अपेक्षाकृत कुल सूद की दर अधिक होगी। क्योंकि ज़्यादा असुविधाओं के लिए ज्यादा उजरत देनी पडेगी। इसी प्रकार जिस ऋण-कार्य मे प्रबंध जितना ही अधिक करना पड़ेगा उस मे प्रबंध-कार्य की उजरत के अधिक होने से उतना ही अधिक कुल सूद की दर होगी। इस प्रकार असली सूद की दर एक-सी रहने पर भी बीमे की रकम, असुविधा तथा प्रबंध की उजरतों के कम ज़्यादा होने से कुल सूद की दरें भिन्न-भिन्न होती है। असली सूद की दर एक समय मे एक देश मे, इस कारण प्रायः एक ही होगी कि यदि एक स्थान या व्यवसाय मे असली दर ज्यादा होगी और दूसरे मे कम तो जिस व्यवसाय मे सूद की दर कम होगी उस में से लोग पूँजी निकाल कर उस व्यवसाय मे लगावेंगे जिस मे सूद की दर ज्यादा होगी। इस कारण जिस मे दर कम होगी उस व्यवसाय मे पूँजी कम पडने लगेगी। इधर जिस व्यवसाय मे सूद की दर ज्यादा होगी उस मे पूँजी ज्यादा लगने लगेगी। अन्य सब बातों के पूर्ववत् रहने पर फलत जिस में से पूँजी निकलने लगेगी उस मे दर बढने लगेगी और जिस मे पूँजी ज़्यादा लगने लगेगी उस मे दर गिरेगी। इस प्रकार माँग और पूर्ति

सूद की विभिन्न दरे

के सिद्धात के अनुसार यह क्रम तब तक जारी रहेगा, जब तक दोनो व्यवसायों मे सूद की दर बराबर न हो जायँगी। विभिन्न स्थानो और देशों के संबंध मे भी यही नियम लागू होगा।

विभिन्न देशो मे पूँजी के संचय और उस की माँग के अनुसार भी असली सूद की दर मे विभिन्नता होती है। जिस प्राचीन देश मे शताब्दियो से धन का संचय होता रहता है, उस मे आमतौर पर असली सूद की दर अपेक्षाकृत कम रहती है। जिस नवीन देश मे व्यवसाय-व्यापार तेज़ी से बढते रहते है, औद्योगिक प्रसार होता रहता है, उस मे पूँजी की माँग अधिक होती है, इस कारण उस मे असली सूद की दर ऊँची रहती है। जिस देश मे जितना ही अधिक जोखिम रकम के वापस मिलने मे रहता है, उस मे सूद की दर अपेक्षाकृत ऊँची रहती है। प्रायः लोग अपने देश मे पूँजी लगाना अधिक सुरक्षित समझते है, इस कारण विदेशो मे पूँजी लगाने के लिए उन्हे कुछ अधिक सूद की दरकार होती है। इन सब कारणों से विभिन्न देशो मे सूद की दर भिन्न-भिन्न रहती है।

करेंसी का भी सूद से घनिष्ट संबंध है। यदि द्रव्य (रुपया-पैसा) अधिक मात्रा मे हो तो सूद की दर कम होगी और यदि द्रव्य की मात्रा कम होगी तो सूद की दर ऊँची हो जायगी।

व्यापारिक तेज़ी-मदी और सूद

आमतौर पर जब सूद की दर कम होती है तो ऋण अधिक लिया जाता है, किंतु ऋण देनेवाले कम ऋण देना चाहते है। और जब सूद की दर ज्यादा होती है तो ऋण लेनेवाले कम लेना चाहते है, पर ऋण देनेवाले अधिक ऋण देने को तैयार रहते है। परतु जब व्यावसायिक मंदी का समय आता है तब सूद की दर कम होने पर भी ऋण लेनेवाले रुपया कम लेना चाहते है, या ऋण लेना ही नही चाहते, क्योकि उन्हें किसी व्यवसाय मे नया रुपया लगाने से फायदा नही देख पडता, उलटे ही नुकसान का भय लगा रहता है। परंतु पूँजी या धन जमा करनेवालो के पास धन इकट्ठा होता

रहता है और वे उसे किसी न किसी काम मे लगवाने की कोशिश मे रहते है। इस से सूद की दर और भी ज्यादा गिर जाती है। इतने पर भी ऋण लेने के लिए कोई तैयार नही होता। इस के विपरीत जब व्यापार-व्यवसाय ज़ोरों से चलता रहता है तब सूद की दर ऊँची होने पर भी लोग अधिकाधिक ऋण लेकर व्यवसाय-व्यापार मे लगाते है। इस से सूद की दर और भी ऊँची हो जाती है। पर ऋण और भी अधिक लिया जाता है।

द्रव्य की क्रय-शक्ति और सूद

रुपए-पैसे यानी द्रव्य की क्रय-शक्ति का भी सूद की दर पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। यदि पॉच रुपए सैकडे के हिसाब से कोई ऋण दे तो उसे बाद मे कुल मिला कर १०५) रुपए मिलेगे। अब यदि द्रव्य की क्रय-शक्ति घट कर आधी रह जाय, यानी जिस समय रुपया दिया गया था उस समय पाँच रुपया मन चावल मिलता हो तो जो १००) ऋण दिया गया उस का वस्तुओं मे मूल्य था २० मन चावल। और देनेवाले को आशा थी कि उसे १०५ रुपया (यानी २१ मन चावल) वापस मिलेगे। किंतु इसी बीच मे रुपए का मूल्य आधा रह गया। अस्तु देखने मे तो ऋण देनेवाले को मूल-धन के रूप मे मिले सौ रुपए और पॉच रुपए व्याज के रूप मे, यानी कुल मिला कर उसे १०५) मिले। किंतु वस्तुओं के रूप मे उसे केवल १०½ मन चावल ही मिले। और चूॅकि रुपए (द्रव्य) का काम वस्तुओं को प्राप्त कराना है, इस कारण ऋण देनेवाले को रुपए के रूप मे ठीक रक़म मिलने पर भी यथार्थ मे वस्तुओं के रूप मे हानि उठानी पडी। इस के विपरीत जब द्रव्य का मूल्य बढ जाता है, तब ऋण देनेवाले को उतने ही द्रव्य मे अधिक वस्तुएं मिलने से यथार्थ मे लाभ होता है, किंतु ऋण लेनेवाले को हानि होती है।

सूद क्यों ?

सूद इस लिए दिया जाता है कि ऋण लेनेवाले को उस के ० से लाभ होता है, संतोष और तृप्ति प्राप्त होती उस के बदले मे वह कुछ पुरस्कार देता

लिए माँगा जाता है कि द्रव्य के बचाने, संचय करने और उधार देने में कष्ट होता है, संतोष और तृप्ति का त्याग करना पडता है वर्तमान उपयोग और उपभोग को भविष्य के लिए टालना पडता है, प्रतीक्षा करनी पडती है। अस्तु इन सब के बदले मे कुछ पुरस्कार चाहिए ही। यदि कुछ पुरस्कार न मिला तो ऋण देनेवाला द्रव्य को यानी—रुपए-पैसे को उधार न देकर अपने ही पास रहने देगा।

सूद की दर का निर्णय किस पर ?

सूद पूँजी की उजरत है, पूँजी के उपयोग की कीमत है, और अन्य सभी कीमतों की तरह ही सूद भी माँग और पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात द्वारा निश्चित किया जाता है। आय को व्यय करने की व्यग्रता और उसे (आय को) संचित करके पूँजी के रूप मे किसी लाभदायक कार्य मे लगाने की आकाक्षा इन दोनो के सम्मिलित प्रभाव पर सूद निर्भर रहता है।

पूँजी की माँग के अनेक कारण

वर्तमान वस्तुओं की माँग के अनेक कारण हो सकते है। माँग का एक कारण यह हो सकता है कि चूँकि प्राय सभी व्यक्ति वर्तमान समय के उपयोग को, भविष्य के उपयोग से ज्यादा अच्छा समझते है, इस कारण वे तत्काल वस्तुओ का उपयोग करे। दूसरा कारण यह हो सकता है कि वर्तमान उत्पादनो को काम मे लाने और उत्पादन के सुधरे हुए अन्यतम प्रकार का आश्रय लेने से उत्पादक की आय भविष्य मे अपेक्षाकृत अधिक बढ जाती है, इस से उत्पादक उत्पादन के लिए वस्तुएं ले। तीसरा कारण यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति फिजूलखर्च या शाहखर्च हो और इस वजह से वह अपनी सभी आय को तत्काल व्यय कर देना चाहे। चौथा कारण यह हो सकता है कि सरकार युद्ध आदि के लिए वर्तमान वस्तुओ, एवं उपादानों को काम मे लाना चाहे, और इस प्रकार वर्तमान वस्तुओं की माँग सरकार के द्वारा हो। इन सब बातो को देखते हुए यह मानना पडता है कि पूँजी की कुल माँग उस समय, उस देश के विभिन्न कारणों

से उत्पन्न हुई विभिन्न माँगों के योग द्वारा प्राप्त होती है। और चूँकि पूँजी की उत्पादकता के कारण उत्पादन कार्य के लिए जो माँग होती है, वह कुल माँग का एक अंश मात्र होती है, इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि पूँजी की माँग का एकमात्र कारण उस की उत्पादकता ही है, अथवा केवल उत्पादन-कार्य के लिए ही पूँजी की माँग होती है। क्योंकि उत्पादकता के कारण उत्पादन कार्य के लिए पूर्ति की जो माँग होती है, उस के अलावा भी अन्य कार्यों के लिए भी पूँजी की माँग होती है। किंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि उत्पादन-कार्य के लिए पूँजी की जो माँग होती है वह पूँजी की कुल माँग का एक बहुत ज़बर्दस्त अंश है, और कुल माँग पर उस का सब से अधिक प्रभाव पड़ता है।

वर्तमान वस्तुओं की पूर्ति दो बातों पर निर्भर रहती है, एक तो बचाने और संचय करने की शक्ति पर और दूसरे बचाने और संचय करने की इच्छा पर। बचाने और संचय करने की शक्ति मनुष्य की आय और उस के व्यय पर निर्भर रहती है। बचाने और संचय करने की इच्छा मनुष्य की दूरदर्शिता, कुटुंब-प्रेम आदि पर निर्भर रहती है।

संचित धन की माँग और पूर्ति पर सूद की दर निर्भर रहती है। जिस प्रकार किसी एक वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माँग और पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात के द्वारा निश्चित किए जाने पर भी, उपयोगिता अथवा सीमांत उत्पादन व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है; उसी प्रकार सूद पूँजी की माँग और पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात के द्वारा निश्चित किए जाने पर भी पूँजी की सीमांत-उत्पादकता अथवा सीमांत उत्पादन-व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है।

पूँजी का सीमांत उत्पादन और सूद

इस में संदेह नहीं है कि यदि कुछ भी सूद न मिले तो भी पूँजी की एक मात्रा तो प्राप्त की ही जा सकेगी। सूद न रहे तो भी कुछ लोग कुछ न कुछ बचत और संचय तो करेंगे ही। यदि सूद की दर बहुत ही सामान्य हो,

नाममात्र का सूद मिले तो पूँजी का एक अश उपलब्ध हो सकेगा। किंतु इन दशाओ मे जितनी मात्रा मे पूंजी चाही जायगी, वह कुल मात्रा प्राप्त न हो सकेगी। इस कारण सूद की दर तब तक ऊँची होती जायगी, जब तक कि कुल माँग के अनुसार पूर्ति न हो जाय। इस कारण सीमात संचय को प्राप्त करने के लिए सूद की दर काफी ऊँची होनी चाहिए। कारण कि सीमांत संचय करनेवाला वह व्यक्ति होगा जो संचय करने के लिए सब से कम तैयार होगा, और जिसे संचय करने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए सब से अधिक उजरत (पुरस्कार) सूद के रूप में देने के लिए तैयार होना पडेगा। यह तो हुई पूर्ति की बात। इधर माँग की दिशा मे वह उत्पादक सीमांत ऋण लेनेवाला समझा जायगा, जिसे ऋण लेने की कम से कम चाह होगी और जो कम से कम सूद देने को तैयार होगा।

सीमात ऋण लेने-वाला और सूद

यदि उस ने कर्ज न लिया तो, पूर्ति की मात्रा के पूर्ववत् रहने पर, पूँजी की उतनी मात्रा अधिक बढ जायगी, जितनी कि सीमांत ऋण लेनेवाला लेता। इस कारण ऋण-दाताओ मे प्रतिस्पर्धा होगी। और इस कारण सूद की दर गिर कर उस हद तक आ जायगी, जहा सीमात ऋण लेनेवाला ऋण लेने को तैयार हो जायगा। और चूँकि बाजार मे सभी के साथ एक रूप से व्यवहार करना पडेगा, इस कारण माँग की दृष्टि से सूद की दर सीमात ऋण लेनेवाले द्वारा निश्चित की जायगी। पूँजी की सीमात उत्पादकता और उस के संचय का सीमात उत्पादन-व्यय बराबर होगे। क्योकि यदि दोनो मे कुछ अतर पडा तो माँग और र्ति मे अतर पड जायगा।

सूद, सीमात उत्पादन-व्यय और सीमात उत्पादकता के बराबर

यदि उत्पादन-व्यय अधिक हुआ तो संचय कम हो जायगा। क्योकि उत्पादन-व्यय के अधिक होने से सचय करनेवालो को पडता न पडेगा। इस कारण पूँजी की मात्रा कम हो जायगी। इस कारण प्रति ईकाइ पूँजी की सीमात उत्पादकता बढ जायगी, और अंत में वह उत्पादन-

व्यय के बराबर आ जायगी। यदि सीमांत उत्पादकता अधिक हुई तो पूँजी को अधिक उजरत मिलेगी। इस से पूँजी का संचय बढ जायगा, क्योंकि जो पहले संचय करते थे, वे और अधिक मात्रा में संचय करेंगे, और जो संचय नही करते थे वे भी अधिक उजरत के कारण संचय करने लगेंगे। फलतः सचय अधिक होने लगेगा और पूँजी की मात्रा बढ जायगी। इस कारण प्रति इकाई सीमांत उत्पादकता कम हो जायगी, और अंत में घटते-घटते वह उत्पादन-व्यय के बराबर आ जायगी। तभी माँग और पूर्ति मे साम्य स्थापित होगा।

इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि सूद की प्रवृत्ति सीमांत उत्पादन-व्यय (ऋण-दाता की दृष्टि से) अथवा सीमांत उत्पादकता (ऋण-लेनेवाले की दृष्टि से) के बराबर होने की होती है।

सूद का भविष्य

सूद दो बातों पर निर्भर रहता है। एक तो पूँजी को लाभ के कार्य मे लगाने के अवसरों पर, और दूसरे भविष्य के विषय के निर्णय पर। इस कारण भविष्य मे सूद और सूद की दर की क्या-कैसी स्थिति होगी यह दो बातो पर निर्भर है। एक तो इस बात पर कि नवीन आविष्कारो और नित्यप्रति के सुधारो के कारण पूँजी को लाभ के कार्यो मे लगाते रहने के अवसर अधिकाधिक मिलते रहेंगे या नही। दूसरे इस बात पर कि जैसे-जैसे मानव-समाज अधिकाधिक उन्नत होता जाता है वैसे ही वैसे भविष्य के उपयोगो के संबंध मे उस की क्या-कैसी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार सूद और उस की दर का भविष्य धन-संचय और सुधारों पर निर्भर है।

उन्नति के साथ सचय-वृद्धि

एक बात तो स्पष्ट है। ज्ञान के साथ ही मनुष्य मे भविष्य की चिंता और संचय की प्रवृत्ति बढती जाती है। जो जाति जितनी ही सभ्य होती है, उसे अपने भविष्य की आवश्यकताओं की उतनी ही अधिक चिंता होती है, और उतनी ही अधिक धन-संचय की प्रवृत्ति उस जाति में देख पडती है। इस

के साथ ही एक बात और है। व्यक्तियों की उत्पादन-शक्ति और कुशलता-क्षमता के बढने और उद्योग-धंधों की उत्पादन मात्रा मे आमतौर पर वृद्धि होने से समाज और व्यक्तियों की सचय-शक्ति बहुत बढ जाती है। समस्त राष्ट्रीय आय बढ जाती है, और इस के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति क हिस्से की मात्रा भी बढ जाती है। इन कारणो से धन और पूँजी की पूर्ति निरंतर बढती जाती है। पूँजी की इकाइयो के बढने और क्रमागत उत्पत्ति-ह्लास नियम के कारण पूँजी की बढी हुई इकाइयो की सीमात-उत्पादकता कम होती जाने की प्रवृति होने के सबब से उस की उजरत की मात्रा के कम होने की प्रवृत्ति होगी।

उधर ससार की जनसंख्या निरंतर बढती जा रही है। इस कारण आविष्कारो और सुधारो के सबव से चाहे पूँजी की माँग न भी बढे, तो भी जन-सख्या के बढने से पूँजी को माँग निरतर बढ़ेगी। जनसंख्या के बढने से मज़दूरो की संख्या बढेगी। और मजदूरों की बढी हुई सख्या के लिए और अधिक औजारों मशीनो, आदि की आवश्यकता पडेगी। मानवीय आवश्यकताओ के परिमाण और प्रकारो मे वृद्धि होगी। मनुष्यो की नई-नई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए नवीन-नवीन उद्योग-धधों की ओर उत्पादक अग्रसर होगे। पूँजी की माँग बढेगी। इस से उजरत की दर भी बढेगी।

इन बातो के साथ ही, नित नए सुधार और आविष्कार होते रहते है। इस से नवीन औजारो, मशीनो, आदि के लिए पूँजी की माँग बढती जाती है। किंतु इस के साथ ही एक विरोधी प्रवृत्ति देख पडती है। यदि सुधारो-आविष्कारो के कारण औजार, मशीन आसान और कम पेचीदा हो जायँ और उत्पादन का क्रम कम लंबा हो जाय, तो पूँजी की माँग अपेक्षाकृत कम हो जायगी। सुधारो अविष्कारो से सबध रखनेवाली इन दोनो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियो के घात-प्रतिघात के द्वारा पूँजी की माँग और उस की उजरत की दर का निर्णय किया जाता है।

क्या सूद की दर शून्य हो सकती है ?

इन सब बातों पर ग़ौर करने के बाद यह नतीजा निकलता है कि भविष्य में उन्नति के साथ ही सूद की दर के गिरने की प्रवृत्ति होगी। किंतु सवाल यह उठता है कि क्या कभी ऐसा भी समय आ सकता है जब सूद की दर शून्य हो जाय, यानी जब सूद रह ही न जाय ? उत्पादकता-सिद्धांत के अनुसार किसी साधन की उजरत की प्रवृत्ति उस की सीमांत उत्पादकता के बराबर होने की होती है। और यदि सूद की दर शून्य हो, तो इस के अर्थ यह होंगे कि पूँजी की सीमांत उत्पादकता शून्य होगी। सीमांत-उत्पादकता उत्पत्ति की मात्रा में वह वृद्धि है जो पूँजी की एक और अधिक इकाई के उपयोग में लाने से प्राप्त होती है। यदि सीमांत उत्पत्ति शून्य होगी तो इस के अर्थ यह होंगे कि और अधिक पूँजी के उपयोग के द्वारा उत्पत्ति में अब और अधिक वृद्धि नहीं की जा सकती। अर्थात् हम ऐसी स्थिति में पहुँच गए हैं जहां हमारी उत्पादकता अधिक से अधिक (यानी अधिकतम) हो चुकी है। और इस के मतलब यह होंगे कि हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति पूर्णरूप से हो चुकी है। किंतु मानव-समाज की किसी ऐसी स्थिति की कल्पना ही नहीं की जा सकती जहां सभी तरह की आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्णरूप से पूर्ति और तृप्ति हो जाती है, और जहां किसी भी अतृप्ति, अपूर्णता और नई आवश्यकता का अस्तित्व शेष नहीं रह जाता। मनुष्यों को सदा नई-नई आवश्यकताएं घेरे रहती हैं, और पुरानी आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति भी शायद ही कभी पूरी तरह से होती हो। ऐसी स्थिति में पूँजी को अधिक उत्पादकता के साथ उपयोग में लाते रहने के अनेकानेक अवसर निकलते रहेंगे, और पूँजी की सीमांत उत्पादकता शून्य कभी न होगी। फलतः सूद की दर भी कभी शून्य तक न पहुँच सकेगी।

सूद से संबंध में अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया नीचे उन का विवेचन किया जाता है।

कतिपय अर्थशास्त्रियों का मत है कि पूँजी उत्पादक होती है, उस से और अधिक वस्तुओं का उत्पादन होता है। पूँजी की उत्पादकता के कारण उस की उजरत के रूप में सूद दिया जाता है। एक मजदूर विना औजार या मशीन की सहायता के केवल अपने परिश्रम से वस्तुओ की एक ख़ास मात्रा उत्पन्न कर सकता है। यदि उसी मज़दूर को औज़ार या मशीन के रूप में पूँजी की सहायता प्राप्त हो जाय तो वह पहले की अपेक्षा कही अधिक मात्रा मे उन्ही वस्तुओ को उत्पन्न कर सकता है। पूँजी के कारण उत्पादकता की मात्रा बढ जाती है। इसी कारण पूँजी की सेवाओं के लिए सूद के रूप मे उजरत देनी पडती है। और सूद की दर पूँजी की इकाई की सीमांत उत्पादकता पर निर्भर रहती है।

उत्पादकता-सिद्धात

इस सिद्धात पर दो आक्षेप किए जाते है। एक तो यह कि इस सिद्धात के अनुसार उस पूँजी के सूद का कारण निश्चित नही किया जा सकता जो तत्काल उपयोग के लिए उधार ली जाती है, और ख़र्च कर दी जाती है। क्योकि उस पूँजी से और नई पूँजी उत्पन्न नहीं होती। दूसरा यह कि मशीनों, औजारो की उजरत को निश्चित करने के लिए यह ज़रूरी है है कि सूद की दर पहले से निश्चित रहे और उसी के अनुसार मशीन आदि की उजरत तय की जाय।

इन आक्षेपों के उत्तर मे कहा जाता है कि अधिकतर पूँजी उत्पादन के कार्यों के लिए ली जाती है, इस कारण उस के उन उपयोग के लिए भी, जो अन्य प्रकार के कार्यों के लिए होते है सूद देना पडता है। जो पूँजी उपयोग के लिए ली जाती है, उस से भी श्रम की उत्पादकता बढती ही है। दूसरे मशीनो आदि की उजरत, सूद की निश्चित दर के आधार पर निश्चित की जाती है। पर इस के साथ ही मशीनों आदि की उजरत का प्रभाव भी सूद की दर के ऊपर पडता है। दोनो एक-दूसरे पर निर्भर है। इन सब बातो के अलावा यह तो मानना ही पडता है कि पूँजी की सहा-

यता से उत्पादन की मात्रा बढ जाती है, इस कारण पूँजी के उपयोग के लिए सूद देना अनिवार्य है। किंतु इस सिद्धांत से केवल इस बात पर प्रकाश पडता है कि पूँजी की मॉग क्यों होती है। इस कारण यह सिद्धांत एकांगी ही है।

उपयोग-सिद्धात

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि जैसे मकान आदि अन्य वस्तुओं के उपयोग के लिए उजरत देनी पडती है उसी तरह पूँजी के उपयोग के लिए भी सूद के रूप मे उजरत देनी ज़रूरी है। इस प्रकार उपयोग के कारण सूद का प्रादुर्भाव होता है।

इस सिद्धांत मे एक बात का समाधान नही होता। चल-पूँजी तो एक ही बार के उपयोग मे समाप्त हो जाती है। तब उस के लिए उस समय तक सूद क्यों देना पडता है जब तक कि मूल धन अदा नही कर दिया जाता?

सयम-सिद्धात, परीक्षा-सिद्धात

अर्थशास्त्रियों के एक दल का मत है कि मनुष्य तत्काल धन व्यय न कर त्याग और संयम से काम लेता है और इस प्रकार धन का संचय होता है। उस त्याग और संयम के लिए कुछ पुरस्कार मिलना चाहिए। पूँजी की उजरत के रूप मे जो सूद दिया जाता है वही उस का पुरस्कार है। यदि इस पुरस्कार की आशा न हो तो मनुष्य धन के उपयोग के द्वारा तत्काल संतोष प्राप्त करने की चेष्टा करेगा; संचय नही। अस्तु धन-संचय के लिए जो त्याग-संयम करना पडता है, सूद उसी का पुरस्कार है।

इस संबंध मे यह आक्षेप किया जाता है कि ऐसे भी धनी व्यक्ति पाए जाते है जिन के पास बिना किसी त्याग या संयम के ही धन संचय होता रहता है। धन-संचय के लिए उन्हें अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति से वंचित नही होना पड़ता।

इस आक्षेप को दूर करने के लिए त्याग-संयम के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय के एक

भाग को बचा कर रख छोड़ता है, तो वह उस के उपयोग से अपने को सदा के लिए वंचित नहीं कर देता। वह केवल कुछ समय के लिए प्रतीक्षा करता है। वह आय के उस भाग के उपयोग के लिए रुका रहता है। इस प्रकार रुकने, ठहरने या प्रतीक्षा करने के लिए आमतौर पर लोग तैयार नहीं होते। वे वर्तमान उपयोग को अधिक अच्छा समझते हैं। किंतु धन-सचय के लिए वर्तमान उपयोग को टालना, रुकना, ठहरना, या प्रतीक्षा करना पड़ता है। अस्तु, उस के लिए कुछ पुरस्कार ज़रूरी है। और प्रतीक्षा उस का कारण है। एक प्रकार से देखा जाय तो प्रत्येक उत्पादन-कार्य मे प्रतीक्षा की आवश्यकता पड़ती है। किसान तत्काल गेहूं का उपयोग न करके उसे खेत मे बो देता है और फसल तैयार होने तक प्रतीक्षा करता है। कारखानेवाला वस्तुओं की पूरी तैयारी तक प्रतीक्षा करता है। प्रतीक्षा उत्पादन-कार्य का अनिवार्य-रूपेण आवश्यक अंग है। और इसी के लिए वस्तुओं की बढ़ी हुई मात्रा के रूप मे पुरस्कार प्राप्त होता है।

जैसे अन्य सभी वस्तुओं का मूल्य सीमांत उपयोगिता द्वारा निश्चित किया जाता है उसी प्रकार पूँजी का सूद सीमांत प्रतीक्षा के द्वारा तय किया जाता है। इस कारण सूद का कारण सीमांत प्रतीक्षा मानी जाती है।

समय-महत्व अथवा समय-संबंधी सिद्धांत

मनुष्य आमतौर पर उपयोग के लिए भविष्य के मुकाबले मे वर्तमान को तर्जीह देते हैं। जैसे हमे अपने से दूर की वस्तुएं छोटी देख पड़ती है, उसी तरह हमे भविष्य मे प्राप्त होनेवाला संतोष, वर्तमान की अपेक्षा कम आकर्षक जान पड़ता है। इस कारण यदि किसी मनुष्य से कहा जाय कि उसे सौ रुपए दिए जाते है, चाहे वह उन का उपयोग तत्काल कर ले, अथवा एक वर्ष बाद, तो आमतौर पर वह एक वर्ष तक रुका रहना पसंद न करेगा। इस के तीन मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि आमतौर पर मनुष्य जितनी स्पष्टता से अपनी वर्तमान परिस्थिति को देख सकता, उस का अनुभव कर सकता है, उतनी स्पष्टता से अपने भविष्य के विषय मे अनुभव नहीं

कर सकता। भविष्य के विषय मे प्रायः लोग वैसा निश्चयपूर्वक निर्णय नही कर सकते । दूसरे वर्तमान समय की आवश्यकताएं अधिक अच्छी तरह से सामने रहती है। इस कारण उन की तीव्रता का बोध अधिक स्पष्टता से होता है। भविष्य की आवश्यकताओं की तीव्रता का बोध इतना स्पष्ट नही हो सकता। इस कारण वर्तमान समय मे जो वस्तुएं उपलब्ध हो सकती है उन्हे मनुष्य भविष्य की वस्तुओ के मुकाबले मे अधिक ग्राह्य समझते है। इस कारण वर्तमान उपभोग को भविष्य के लिए टालने के निमित्त यह आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान वस्तुओं के परिमाण से भविष्य मे वस्तुएं कुछ अधिक परिमाण मे प्राप्त हो। तीसरे वर्तमान वस्तुओं के उपयोग के द्वारा उत्पादन-कार्य से भविष्य से और अधिक परिमाण मे वस्तुएं प्राप्त की जा सकती है, इस कारण भविष्य के मुकाबले मे वर्तमान वस्तुएं अधिक ग्राह्य मानी जाती है। इस प्रकार समय-ग्राह्यता के कारण वर्तमान वस्तुओं के उपयोग को भविष्य के लिए टालने के निमित्त कुछ पुरस्कार देने की ज़रूरत पडती है। यही पुरस्कार सूद कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति इस समय सौ रुपए का उपयोग इस लिए टाल दे कि उसे एक वर्ष बाद एक सौ पॉच रुपए उपयोग के लिए प्राप्त हो सके, तो यह प्रकट हो जाता है कि ये पॉच रुपए वर्तमान उपयोग के टालने के लिए पुरस्कार के रूप मे प्राप्त होंगे। यानी सौ रुपए का सूद पॉच रुपया होगा। इस प्रकार समय-ग्राह्यता के कारण सूद का प्रादुर्भाव होता है।

इस सिद्धांत द्वारा केवल पूँजी की पूर्ति पर प्रकाश पडता है। मॉग का इस मे वैसा कोई खयाल नही रक्खा जाता इस कारण यह सिद्धात अपूर्ण है।

छुट्टा या नकदी द्रव्य-ग्राहयता सिद्धात

द्रव्य उधार लेने के एवज़ मे जो उजरत देनी पडती है उसे सूद कहते है। ऋण देनेवाला द्रव्य अथवा वस्तुओं के क्रय करने की तात्कालिक शक्ति को इस शर्त पर ऋण लेनेवाले को दे देता है कि उसे भविष्य मे

के वापस किए जाने के साथ ही कुछ थोडा-सा और अधिक द्रव्य इस वर्तमान त्याग के लिए प्राप्त हो सके। यदि ऋणदाता को केवल मूल-धन ही वापस दिया जाय तो उसे द्रव्य को अपने हाथ से दूसरे के हाथ मे देने की न तो इच्छा ही होगी और न किसी प्रकार की प्रेरणा ही। छुट्टा द्रव्य को दूसरे को देने की प्रेरणा तभी होती है, जब उस कार्य से ऋण-दाता को कुछ लाभ होता है। मूल-धन से कुछ अधिक द्रव्य का मिलना ही उस प्रेरणा का कारण होता है। इस प्रकार छुट्टा द्रव्य को अपने पास से दूसरे को दिलाने के लिए ही सूद का आविर्भाव होता है। सभी मनुष्य छुट्टा द्रव्य को (यानी वस्तुओं को क्रय कर सकने की शक्ति को) अपने पास-या अपने अधीन रखना चाहते है। छुट्टा द्रव्य (यानी वस्तुओ को क्रय करने की तात्कालिक शक्ति) को अपने अधिकार से दूसरे के अधिकार मे दिए जाने के लिए जिस उजरत की जरूरत पडती है, वही सूद है। छुट्टा द्रव्य ग्राह्यता तथा द्रव्य के परिमाण के घात-प्रतिघात द्वारा सूद की दर निश्चित होती है।

माँग और पूर्ति का सिद्धात

असल मे अन्य सभी वस्तुओ की तरह ही पूँजी की माँग और पूर्ति के अनुसार सूद की दर निश्चित होती है। पूँजी की माँग उस की सीमांत उपयोगिता पर निर्भर होती है। जब तक पूँजी से उत्पादक को लाभ होता रहेगा तब तक वह उस का उपयोग करता जायगा, जहा पूँजी के उपयोग से प्राप्त होनेवाली उत्पत्ति की मात्रा उस उजरत के बराबर होगी जो कि पूँजी के उपयोग के लिए देनी पडेगी, वही उत्पादक रुक जायगा, और उस के आगे और अधिक पूँजी अपने उपयोग मे न लाएगा। विभिन्न उत्पादकों की माँगे मिल कर उत्पादन-कार्य के लिए पूँजी की उत्पादक माँग होगी। इस मे पूँजी की उत्पादक (उपभोग) माँग को जोडने से पूँजी की कुल माँग निकल आयगी।

पूँजी की पूर्ति (जिस का सविस्तर वर्णन उत्पत्ति के परिच्छेदों में किया

जा चुका है) और उस की कुल माँग के घात-प्रतिघात द्वारा सूद की दर निश्चित होती है। माँग और पूर्ति के साम्य द्वारा यह दर निश्चित की जाती है। यह एक ऐसी दर होती है जिस पर जितनी पूँजी चाही जाती है उतनी ही पूँजी प्राप्त होती है। यही माँग और पूर्ति का साम्य है।

जिस प्रकार सीमांत उपयोगिता द्वारा माँग निश्चित की जाती है, उसी तरह सीमांत व्यय द्वारा पूर्ति निश्चित की जाती है। एक सीमा होती है जिस से कम उजरत मिलने पर लोग ऋण देने को तैयार नही होते, क्योंकि उन्हे ऋण देने से लाभ के बजाय हानि जान पड़ती है। तभी तक पूँजी बचा कर जोडी जायगी जब तक कि यह समझा जायगा कि उस के बदले मे जो उजरत मिलेगी उस से उस संतोष की पूर्ति कर दी जायगी जो पूँजी जोडने मे त्यागना पडा था। यदि सूद की दर इस से कम होगी तो सीमा पर स्थित व्यक्ति पूँजी जोडना छोड देगे और धन को अपने उपयोग मे लाने लगेगे, क्योंकि उपयोग द्वारा उन्हे अधिक तृप्ति मिलेगी। इस प्रकार कुल पूँजी की मात्रा कम हो जायगी, माँग के पूर्ववत् रहने पर पूँजी उधार लेने वालों मे होड होने लगेगी। अस्तु, फिर दर बढ जायगी। इस के विपरीत यदि माँग अधिक होगी और पूर्ति पूर्ववत् रही तो सूद की दर बढ जायगी। अस्तु पूँजी की सीमांत उत्पादकता घट जायगी, और व्यवसायी कम पूँजी लगाना चाहेगे। साथ ही सूद की दर बढने से अधिक व्यक्ति पूँजी संचय करने लगेगे। अस्तु पूर्ति बढ जायगी। माँग घटने और पूर्ति बढने से उधार देनेवालों मे अधिक होड होने लगेगी। फलतः दर घट जायगी। इस प्रकार माँग और पूर्ति के घात-प्रतिघात द्वारा सूद की दर एक साम्य की अवस्था मे आ जायगी।

सूद पूँजी की उजरत है। अन्य सभी साधनों की उजरत की तरह पूँजी की उजरत भी उस की सीमांत उत्पत्ति के बराबर होती है, जो कि सीमांत लागत-व्यय के बराबर होती है। पूँजी की उत्पादकता उस की सीमांत मात्रा से

सब सिद्धातो का सामंजस्य

लाभों में समावेशित रहती है। उस का लागत-ख़र्च उसे संचित करने के कष्ट, त्याग, अनिच्छा मे समावेशित है, जो केवल संयम और प्रतीक्षा द्वारा होता है। इस प्रकार उत्पादन का लागत-ख़र्च वाला सिद्धांत, उत्पादकता सिद्धात और प्रतीक्षा तथा सयम वाला सिद्धांत साथ साथ लागू होते हैं। चूँकि मनुष्य वर्तमान उपयोग को भविष्य के उपयोग से अधिक अच्छा समझता है, इसी कारण धन संचय करने मे वाधा पडती है। इस प्रकार समय-संवंधी सिद्धात, छुट्टा-द्रव्य-ग्राह्यता सिद्धांत भी इसी मे समावेशित हो जाता है। इस प्रकार मॉग और पूर्ति के सिद्धात मे प्राय. सिद्धांतो का समन्वय हो जाता है।

सूद और लगान (भाडा)

जायदाद (जिस मे भूमि भी शामिल कर ली जाती है) से प्राप्त होने वाली आय की गणना कभी सूद मे की जाती है और कभी लगान (भाडा) में। जव उस आय का विचार जायदाद के सूल्य के अनुपात मे न करके एकमुश्त रकम के रूप मे किया जाता है, तव उस की गणना लगान (भाडा) मे होती है, और जब उस आय का विचार जायदाद के मूल्य के अनुपात मे प्रतिशत के हिसाब से किया जाता है तव उस की गणना सूद मे की जाती है।

भूमि और पूँजी (स्थिर) मे बहुत समता है। जो भी अंतर है वह श्रेणी का है, प्रकार का नही। भूमि की परिमितता और न्यूनता स्थायी है, और वस्तुओ की परिमितता और न्यूनता केवल अल्प-कालीन, क्योंकि वस्तुएं मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जा सकती है।

सूद और लगान

सूद और लगान मे समता भी है और भेद भी। सूद, लगान तथा अर्ध-लगान (या बतौर-लगान) का भेद दो बातो पर निर्भर है, एक तो पूर्ति की लोच पर और दूसरे समय पर। भूमि की पूर्ति दीर्घ काल और अल्प काल, दोनो ही दशाओं मे बेलोच होती है। इसी से उस की उजरत के लिए लगान शब्द का प्रयोग

होता है। मशीन, कारखाना, आदि जिन वस्तुओं की पूर्ति अल्प काल मे तो बेलोच होती है, किंतु दीर्घ काल मे लोचदार हो जाती है, उन की उजरत के लिए अर्ध-लगान (या बतौर-लगान) शब्द प्रयुक्त होता है; छुट्टा द्रव्य आदि जिन वस्तुओं की पूर्ति दीर्घ काल तथा अल्प काल, दोनों ही समयों में लोचदार रहती है, उन की उजरत के लिए सूद शब्द का प्रयोग होता है।

क्या सूद आवश्यक है ?

यह बतलाया जा चुका है कि प्राचीन काल मे सूद लेने की क्यों निंदा की जाती थी। वर्तमान समय मे भी समाजवादी सूद को अनुचित बतलाते है। उन का कहना है कि मज़दूरों की उजरत मे से अन्याय-पूर्वक कुछ अंश काट लिया जाता है, और उसी के संचय से संपत्ति खडी की जाती है। इस कारण संपत्ति पर, यानी पूॅजी पर सूद दिया जाना उचित नही है।

किंतु समाजवादियों का मत ठीक नही है। जिस तरह मज़दूरों को श्रम के लिए उजरत दी जानी ज़रूरी है उसी तरह धन-संचय के निमित्त किए गए त्याग, संयम, प्रतीक्षा के लिए भी उजरत मिलनी ज़रूरी है। यदि सूद न रहेगा तो आगे के उत्पादन के लिए पूॅजी संचय करने के लिए वैसा ज़बर्दस्त प्रोत्साहन न रह जायगा। मज़दूरों की दृष्टि से भी उन के प्रतिदिन के व्यय अथवा उपभोग से जो वस्तुएं बचेगी उन का संचय पूॅजी के रूप मे किया जायगा। और इस पूँजी के उपयोग से जो अधिक वस्तुएं उत्पन्न की जायॅगी, उन का एक अंश तो इस पूँजी की सेवा के बदले में दिया ही जायगा, और यही सूद होगा। इस प्रकार चाहे हिसाब के लिए ही क्यों न हो, सूद का रहना ज़रूरी है।

अध्याय ४२

लाभ

लाभ और अवशिष्ट आय

किसी कारबार को करनेवाले अथवा किसी व्यवसाय-व्यापार के कार्य मे जोखिम उठानेवाले को जो उजरत मिलती है उसे लाभ कहते है। साहसी या जोखिम उठानेवाले को किसी उत्पादन-कार्य से जो कुल आय होती है उस मे से उत्पादन-व्यय निकाल देने पर जो अतिरिक्त आय बच रहती है वही उस (साहसी) की उजरत होती है, और उसी को लाभ कहते है। इस दृष्टि से विचार करने पर लाभ अवशिष्ट आय मानी जाती है। किंतु जिस प्रकार किसी एक उत्पादन-कार्य मे मज़दूर को श्रम के लिए मज़दूरी, पूँजीपति को पूँजी के लिए सूद, भू-स्वामी को भूमि के लिए लगान (किराया) और प्रबंधक को प्रबंध के लिए वेतन दिया जाता है, उसी प्रकार उत्पादन के साधनो को एकत्र कर सहयोग द्वारा उन से काम लेने और उस उत्पादन-कार्य के पूरे जोखिम को उठाने का साहस करने, उस की सफलता-असफलता की सारी ज़िम्मेदारी अपने सर पर लेने के लिए साहसी (या कारबारी) को उजरत मिलना ज़रूरी है, और साहसी को जो उजरत दी जाती है वही लाभ है। यदि साहसी या कारबारी साहस करके किसी उत्पादन-कार्य के जोखिम को उठाने के एवज़ मे लाभ के रूप मे कुछ पुरस्कार न पाएगा तो वह व्यर्थ मे उस कार्य के निमित्त प्रयत्न न करेगा। इस कारण लाभ भी उत्पादन-व्यय का उसी प्रकार एक आवश्यक अंग है जिस प्रकार कि मज़दूरी, सूद, लगान और वेतन। इस दृष्टि से विचार करने पर लाभ अवशिष्ट आय नही ठहरता।

अवशिष्ट आय वाला सिद्धांत केवल लाभ पर ही लागू हो सके यह बात नही है। किसी भी साधन की उजरत अवशिष्ट आय ठहराई जा सकती है। जब साहसी का लाभ, भू- स्वामी का लगान, मजदूर की मज़दूरी और प्रबंध का वेतन उत्पादन-कार्य की कुल आय मे से भुगतान करके दे दिए जाते है, तो इन सब को उजरत देने के बाद जो अवशिष्ट रहता है वही पूँजी को सूद के रूप मे मिलता है। इस प्रकार सूद अवशिष्ट आय ठहरती है। यही तर्क किसी भी अन्य साधन की आय या उजरत के संबंध मे लागू हो सकता है। इस कारण इस सिद्धांत को केवल लाभ के लिए लागू ठहराना उचित नही होगा।

आम तौर पर जिस रकम की गणना लाभ मे की जाती है वह यथार्थ मे केवल लाभ या असली लाभवाली रकम नहीं रहती, बल्कि अन्य अनेक प्रकार के भुगतानों की रकमे उस मे शामिल रहती है। यथार्थ मे उसे कुल लाभ कहना अधिक उपयुक्त होगा। कुल लाभ मे साहसी की भूमि के किराए वाली रकम; पूँजी के व्याज वाली रकम; मशीनों, औज़ारों आदि के लिए टूट-फूट, चय-छीज, पूर्ति आदि की रकम; प्रबंध तथा व्यवस्था के वेतन वाली रकम, असाधारण लाभ अथवा आय वाली रकम और असली लाभ की रकम अर्थात् जोखिम उठाने की उजरत शामिल रहती है। प्रायः देखा जाता है कि कारवारी अथवा साहसी उत्पादन-कार्य मे अपनी निजी पूँजी लगाता है, और उत्पादन-कार्य या कारबार से जो आय, साधनों की उजरत देने के बाद बचती है, उस की गणना लाभ के रूप मे की जाती है। किंतु यहां यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि यदि साहसी के पास पूँजी न होती तो वह दूसरे से पूँजी उधार लेकर लगाता और उस पूँजीपति को चलतू दर से व्याज देता। इस कारण साहसी की पूँजी का सूद अलग काट देना चाहिए। इसी प्रकार प्रायः साहसी अपनी भूमि और कभी-कभी अपने औज़ारों, मशीनों, मकानों को उत्पादन-कार्य के लिए उपयोग मे ल।

असल लाभ और कुल लाभ

ऐसी दशा में भूमि के लगान की और मशीनो की क्षय-छीज, पूर्ति की रकमों को उस की कुल आय मे से पृथक् कर देना ज़रूरी हो जाता है। छोटे-मोटे कामों में साहसी निरीक्षण, व्यवस्था आदि का सारा काम .खुद करता है और अपनी इस सेवा के निमित्त वह कुछ भी उजरत नही लेता। किंतु ज्वाइंट स्टाक कपनियों मे निरीक्षण, व्यवस्था आदि के लिए पृथक्-पृथक् व्यक्ति रक्खे जाते हैं और उन्हें उचित उजरत दी जाती है। साहसी के इन कार्यों के लिए भी कुल आय मे से एक रकम अलग कर देनी चाहिए और तब असली लाभ का निर्णय करना चाहिए। इसी तरह यदि साहसी .खुद प्रबंध करे तो उस प्रबंध के लिए भी उजरत की रकम कुल लाभ मे से अलग कर देनी ज़रूरी है। कभी-कभी किसी एकाधिकार अथवा असाधारण परिस्थिति के कारण व्यवसाय में असाधारण आय होने लगती है। इस अतिरिक्त आय का विचार पृथक् से कर लेना ज़रूरी होता है। साहसी की निजी पूँजी के सूद, भूमि के लगान (भाडा), औज़ारो, मशीनों की टूट-फूट, क्षय-छीज, पूर्ति-रकम, व्यवस्था, प्रबंध, निरीक्षण के वेतन आदि को निकाल देने पर कुल लाभ मे से जो रकम अंत मे बच रहती है वही उस के साहस की उजरत है, वही असली लाभ है।

लाभ क्यों आवश्यक है?

प्रत्येक उत्पादन-कार्य के निमित्त इस लिए जोखिम उठाने की आवश्यकता पडती है कि यदि कारबार न चला अथवा उत्पन्न की हुई वस्तु न खप सकी तो जो हानि होगी, वह कोई एक व्यक्ति या व्यक्तियों का एक समूह अथवा संस्था सहन करेगी। जब तक इस प्रकार जोखिम उठाने की जिम्मेदारी कोई न लेगा, तब तक कोई भी उत्पादन-कार्य प्रारंभ नही किया जा सकता। इस ज़िम्मेदारी के लिए कुछ न कुछ पुरस्कार चाहिए। यानी यदि उत्पन्न की हुई वस्तु न खप सकी तो जो हानि होगी वह तो जोखिम उठानेवाले को सहन करनी पडेगी, किंतु यदि वस्तु की खपत हुई तो उत्पादन-व्यय के अतिरिक्त जो भी आय अधिक होगी वह जोखिम उठानेवाले को मिलेगी।

यही जोखिम उठाने का पुरस्कार है, और यही असली लाभ है। यह लाभ जोखिम उठानेवाले को इस लिए मिलना ज़रूरी है कि वह उत्पादन-कार्य के प्रारंभ होने के पहले ही पूँजीपति की पूँजी, मज़दूर की मज़दूरी, भू-स्वामी की भूमि तथा प्रबंधक के प्रबंध के बदले मे उपयुक्त (उचित) मोआविज़ा (प्रतिफल) देने का ज़िम्मा लेता है, और वस्तु के उत्पन्न होने के पहले ही से मज़दूर को मजदूरी, पूँजीपति को व्याज, भू-स्वामी को लगान तथा प्रबंधक को वेतन देने लगता है। अस्तु, यदि उस कार्य में लागत से कुछ अधिक आय होगी तो वह उस का हकदार है।

जोखिम उठाने मे एक प्रकार से व्यवस्था शामिल ही है। जब किसी वस्तु के उत्पादन का विचार पक्का हो जायगा और उस से होनेवाली हानि सहने का ज़िम्मा ले लिया जायगा, तभी उत्पादन के साधनों का समीकरण किया जायगा और उत्पादन कार्य प्रारंभ किया जायगा। अस्तु, व्यवस्था के लिए कारबारी को कुछ उजरत अथवा पुरस्कार मिलना आवश्यक है, अन्यथा वह व्यवस्था क्यों करेगा। इन कारणों से समाजवादियों का यह आक्षेप कि "लाभ न्यायानुमोदित लूट है", ठीक नही।

व्यवस्था के कारण कारबारी को किस प्रकार और क्यों लाभ होता है

लाभ के संबध मे दो मत

इस संबंध मे मुख्यतः दो मत है। एक तो यह कि कारबारी या साहसी अपनी उत्तमतर सौदा करने की योग्यता के कारण अन्य साधनों और व्यक्तियों के हिस्से मे से कुछ दबा कर अपने लिए बचा लेता है। दूसरा यह कि वह अपनी उत्तमतर व्यवस्था-शक्ति के कारण प्रत्येक साधन से अधिक उत्पादन करा लेता है। इस संबंध मे सविस्तर विवेचन इस प्रकार है।

क्रय-विक्रय (सौदा) करने की उत्तमतर योग्यता के कारण कारबारी उत्पत्ति के अन्य साधनों को उन के उचित भाग से कम पर काम करने या योग देने को राज़ी कर लेता है। इस प्रकार प्रत्येक साधन को उचित भाग से कम देकर उस के हिस्से मे से एक अंश अपने लिए निकाल लेता है और

इसी प्रकार अन्य साधनों के उचित हिस्सों में से निकाले हुए अंशों से लाभ निर्मित होता है। इन अंशों में कच्चे माल, आवागमन के साधन आदि के हिस्सों के अंश भी शामिल रहते हैं। यानी कच्चे माल वालों को कम कीमत देकर तथा आवागमन के साधनों आदि को ढुलाई आदि के रूप में कम रकम देकर जो बचत साहसी कर लेता है, वही लाभ होता है।

बात को साफ करने के निमित्त एक उदाहरण लेना उचित होगा। मान लीजिए कि एक मजदूर आठ आने रोज पाता है। किंतु कारबारी ने अपनी क्रय-विक्रय की उत्तमतर योग्यता के कारण उसे यदि सात आना प्रतिदिन पर राजी कर लिया, अथवा इस प्रकार की परिस्थिति उपस्थित कर दी कि मजदूर को मजबूरन सात आना प्रतिदिन पर काम करने के लिए तैयार होना पड़ा, तो जो प्रति मज़दूर एक आना कम मज़दूरी देनी पड़ी यही एक आना लाभ में जायगा। इसी प्रकार अन्य साधनों के हिस्सों में भी कारबारी कुछ न कुछ अंश कम करके अपने लाभ को बढ़ाता है।

दूसरा मत यह है कि कारबारी उत्पत्ति के साधनों के उचित भागों में से कोई अंश अपने लिए नहीं छीनता, किंतु अपनी उत्तमतर व्यवस्था-शक्ति के कारण वह प्रत्येक साधन से साधारण उत्पत्ति से कुछ और अधिक उत्पत्ति करा लेता है। इस प्रकार वह प्रत्येक साधन को तो उस का उचित भाग पूरा-पूरा दे देता है, किंतु अपनी उत्तमतर व्यवस्था-शक्ति के कारण वह प्रत्येक साधन से जो साधारण उत्पत्ति से कुछ अधिक उत्पत्ति करा लेता है वही उस के लाभ में सम्मिलित होता है। उदाहरण के लिए यदि मान लिया जाय कि साधारण स्थिति में एक मज़दूर दस वस्तुएं प्रतिदिन बनाता है, किंतु अपनी उत्तमतर व्यवस्था के कारण कारबारी उसी मजदूर से बारह वस्तुएं प्रतिदिन उतने ही पूर्व-निश्चित समय में बनवा लेता है, तो जो दो वस्तुएं अधिक बनती हैं वही लाभ ठहरती हैं। इस प्रकार प्रत्येक मज़दूर को पहले की तरह ही यदि वह पूरी-पूरी मज़दूरी दे देता है तो भी उस के लिए दो वस्तुएं बच जाती हैं। और यही उस का लाभ है। इसी

प्रकार यह प्रत्येक साधन से कुछ न कुछ अधिक उत्पादन करा लेता है और इस प्रकार लाभ उठाता है।

ऊपरवाले इसी विवेचन को कुछ अर्थशास्त्री तनिक दूसरे ढंग से उपस्थित करते है। उन का मत है कि असली लाभ मे पाँच तत्व पाए जाते है। ये है (१) साहसी की सौदा करने की उत्तमतर शक्ति ; (२) अन्य साधनों, ग्राहकों तथा दलों को धोखा दे सकने की योग्यता , (३) दूसरों को डरा धमका कर दबा लेने की क्षमता ; (४) जोखिम और अनिश्चित स्थिति के कारण अन्य साधनों और दलों से बीमे के रूप मे कुछ रकम वसूल कर सकने की कुशलता, और (५) अपनी बुद्धि, अपने अनुभव द्वारा जोखिम को कम करने की विशेषता। इन्ही पाँचों तत्वों के कारण साहसी को असली लाभ प्राप्त होता है।

असली लाभ मे पाँच तत्व

साहसी को मंडी का और अपने व्यवसाय का तथा विभिन्न साधनों की योग्यता-क्षमता, उत्पादन-शक्ति और सौदा कर सकने की शक्ति का अधिक अच्छा ज्ञान रहता है। इस के साथ ही अपने पद के कारण उसे एक प्रकार से एकाधिकार-सा प्राप्त रहता है क्योंकि उस के हाथों मे बहुतों को रोज़ी देने न देने का अधिकार रहता है। इन सब कारणों से वह विभिन्न साधनो को दबा कर उन की सीमांत उपज से कम उजरत पर काम करने के लिए राजी कर लेता है, और इस प्रकार मज़दूरी, सूद, लगान, आदि मे से कुछ हिस्सा काट कर अपने लिए बचा लेता है।

यह भी देखा जाता है कि साहसी प्रायः उलटी-सीधी पट्टी पढा कर बहुत ही कम ख़र्च मे व्यवसाय-संबंधी कोई भारी रियायत प्राप्त कर लेता है, अथवा जनता की भावुकता, देश-प्रेम आदि से अनुचित लाभ उठा कर किसी वस्तु के मनमाने दाम खड़े कर लेता है और इस प्रकार कारबार से लाभ उठाता है।

अकसर साहसी गलाघोटू प्रतियोगिता के, या व्यावसायिक

अथवा अन्य अनुचित उपायों के द्वारा अन्य प्रतिद्वंदियों को अपने व्यव-साय मे ठहरने या घुसने नही देता, और इस प्रकार प्रतियोगिता को दूर कर, एकाधिकार-सा स्थापित करके मनमाना लाभ उठाता है।

इन बातो के साथ ही प्रत्येक उद्योग-व्यवसाय मे कुछ न कुछ जोखिम रहती है। उस जोखिम के कारण आय एक प्रकार से अनिश्चित और अस्थिर रहती है। साधारण व्यक्ति इस प्रकार के जोखिम से बचने और अपनी आय को थोडा-बहुत निश्चित करने के लिए और कुल आय को खोने के जोखिम से बचने के लिए साहसी को बीमा की रकम के रूप में अपनी उजरत मे से एक भाग को दे देने के लिए आसानी से राजी हो जाते है। चतुर साहसी इस परिस्थति से लाभ उठा कर मज़दूरी, सूद, लगान आदि मे से एक अंश अपने लिए काट लेता है।

इन सब बातो के अलावा अपनी विशेष योग्यता-क्षमता के कारण कारबारी या साहसी अपने व्यवसाय के जोखिम को अपेक्षाकृत बहुत कम कर देता है। इस कारण उस से कम योग्यता-क्षमतावाले कारबारी उतना लाभ नहीं उठा सकते। दूसरे, वह जोखिम को चुनने और उन्हे कम करने मे अधिक सावधानी से काम लेता है। इस कारण उसे अपेक्षाकृत कम हानि उठानी पडती है। इन सब कारणो से योग्यतम साहसी दूसरो की अपेक्षा अधिक लाभ उठा लेता है। इस प्रकार इन पॉच तत्वो के कारण साहसी को असली लाभ होता है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने लाभ के संबंध मे विभिन्न सिद्धातो का प्रति-पादन किया है। यहा उन का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है।

लाभ का लगान-वत सिद्धात

कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि लाभ योग्यता का लगान है। जैसे भूमि के विभिन्न टुकडो की उर्वरता भिन्न-भिन्न होती है, उसी प्रकार विभिन्न कारवारियो या साहसियो मे भिन्न-भिन्न श्रेणी की योग्यता होती है। जो जितना ही योग्य होता है उसे उसी अनुपात मे लाभ होता है। असाधारण

योग्यता-क्षमता, कार्यकुशलता के कारण कारवारियों को लाभ होता है। इस लाभ मे प्रबंध की उजरत शामिल नही की जाती। उत्पादन-कार्य या उद्योग-व्यवसाय मे साहसी जो प्रबंध का कार्य करता है, उस के लिए जो उजरत दी जाती है उस का हिसाब अलग रक्खा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार सीमांत साहसी को लाभ का कोई अंश प्राप्त नही होता। सीमांत साहसी वह साहसी है जिस की योग्यता-क्षमता सब से कम रहती है, और जो केवल अपना उत्पादन-व्यय खडा कर सकता है। इस कारण लगान की तरह ही उत्पादन-व्यय मे लाभ भी शामिल नही किया जा सकता और इस प्रकार वस्तु की क़ीमत मे लाभ शामिल नही किया जाता।

इस सिद्धांत के प्रतिपादित होने के पहले अर्थशास्त्र मे पूँजीपति और साहसी का पृथक्-पृथक् विवेचन नही किया जाता था। दोनो का विचार एक साथ ही किया जाता था। इस सिद्धांत के प्रतिपादन के साथ ही साहसी और पूँजीपति मे स्पष्ट भेद माना जाने लगा। साहसी के लिए यह क़तई ज़रूरी न रह गया कि वह अपनी पूँजी उत्पादन-कार्य मे लगावे ही। दोनों के कार्य-क्षेत्रों मे स्पष्ट अंतर माना जाने लगा।

इस सिद्धांत मे दो वडी ख़ामियां है। एक खामी तो यह है कि इस मे यह मान लिया गया है कि कीमत मे लाभ शामिल नही रहता। किंतु असल में वात ऐसी नही है। दीर्घ काल का विचार करते समय तो उत्पादन मे लाभ को अवश्य ही शामिल करना पड़ेगा, और इस प्रकार वस्तु की कीमत मे भी लाभ शामिल होगा ही। यदि लाभ उत्पादन-व्यय मे शामिल न किया जायगा तो साहसी उत्पादन की व्यवस्था ही क्यों करेगा। दूसरी ख़ामी है लाभ को लगान-वत् मान लेना। इस से लाभ के परिमाण की माप का निर्णय भले ही हो जाय, किंतु इस से लाभ के संवंध की अन्य वातों पर प्रकाश नही पड़ता। इस के अलावा लाभ को लगान-वत मान लेने पर ज्वाइंट स्टाक कंपनियों के हिस्सेदारों को प्राप्त होनेवाले लाभ के संवंध मे कोई भी संतोपजनक कारण नही वतलाया जा सकता।

लाभ का वेतन-वत सिद्धात

अर्थशास्त्रियो के एक दल का मत है कि व्यावसायिक योग्यता के उपयोग की उजरत ही लाभ है। वे लाभ को वेतन या मजदूरी का ही एक प्रकार मानते है। वे मानते है कि कारबारी या साहसी की आय बहुत ही अधिक अनियमित है, और उत्पादन-व्यय के भुगतान के बाद जो बचता है उसी की गणना लाभ मे की जाती है। तो भी उद्योग-व्यवसाय के समीकरण तथा व्यवस्था की योग्यता-क्षमता और जोखिम के सामना करने की कुशलता के ऊपर ही साहसी की अविछिन्न सफलता निर्भर रहती है और उस के इन्ही गुणों का पुरस्कार एक तरह का वेतन ही है। साथ ही, लाभ को इस प्रकार वेतन मानने के दो कारण है, एक तो साहसी के कार्य का श्रम के अतर्गत आना और दूसरे प्रबध-व्यवस्था के कार्यों का बहुत अधिक विस्तृत होना। साहसी का कार्य एक प्रकार का मानसिक श्रम है। यद्यपि इस प्रकार के मानसिक श्रम की कुछ बहुत ही असाधारण विशेषताएं है, जिन मे जोखिमो का उठाना, अनिश्चितताओ का सामना करना प्रमुख है। चिकित्सको, वकीलो की आय की गणना वेतन मे ही की जाती है, यद्यपि इन के कार्य मुख्यत. मानसिक श्रम के रूप मे ही पाए जाते हैं। इसी प्रकार साहसी का श्रम भी मानसिक होता है, अस्तु उस की उजरत की गणना भी वेतन मे ही की जानी चाहिए। इस के अलावा प्रबध-व्यवस्था के अंतर्गत प्राय: वे सब कार्य आ जाते है जिन्हे साहसी को करना पडता है। इस कारण किसी उद्योग-व्यवसाय के वेतनभोगी प्रबंधक, व्यवस्थापक मे और स्वतंत्र-रूप से उद्योग-व्यवसाय चलानेवाले कारबारी-व्यवसायी, साहसी मे विशेप अंतर नही पाया जाता। इन कारणो से साहसी की उजरत, लाभ की गणना वेतन या मज़दूरी मे ही की जानी चाहिए।

इस में संदेह नही कि लाभ के इस सिद्धात के द्वारा लाभ के रूप की व्याख्या भी हो जाती है और लाभ के औचित्य और उस की आवश्यकता का भी प्रतिपादन हो जाता है। किंतु इस सिद्धांत के द्वारा लाभ

और वेतन (या मज़दूरी) के बीच जो असली भेद है उस पर परदा डाल दिया जाता है। असल में दोनों मे काफी भेद है। वेतन (या मज़दूरी) एक नियमित रूप से प्राप्त होनेवाली, निश्चित, बँधी हुई और ठहराव द्वारा तय की हुई आय है; किंतु लाभ तो अनियमित, अनिश्चित और संयोगवश प्राप्त होनेवाली आय है। वेतन और लाभ के भेद का स्पष्टीकरण तब होता है जब ज्वाइंट स्टाक कंपनी की असली आय का विश्लेषण किया जाता है। कंपनी की आय के संबंध मे विचार करते समय यह प्रकट हो जाता है कि कंपनी का लाभ और प्रबंध का वेतन दो भिन्न-भिन्न तत्व है। साधारण हिस्सेदार कंपनी के प्रबंध या व्यवस्था-संबंधी किसी भी कार्य मे भाग नही लेते। किंतु जोखिम उठाने का ज़िम्मा उन का रहता है, इस कारण कंपनी का असली लाभ उन को मिलता है, न कि प्रबंध और व्यवस्था करनेवालों को।

मजदूरी और लाभ मे भेद

इस के अलावा लाभ और मज़दूरी (वेतन) में तीन मुख्य भेद पाए जाते है। एक तो यह कि कीमत के रद्दोबदल का प्रभाव जितना अधिक और जितनी शीघ्रता से लाभ पर पडता है, उतना मज़दूरी पर नही पडता। कीमत के थोडा बढने या घटने से लाभ की रकम बहुत घट-बढ जाती है। किंतु मज़दूरी पर उस का वैसा असर नहीं पडता। और प्रायः कीमत के काफ़ी घट जाने से लाभ बिल्कुल लुप्त हो जाता है, और उस के स्थान पर हानि उठानी पडती है। किंतु मज़दूरी कभी ऋणात्मक रूप से परिवर्तित नहीं हो सकती। दूसरे, साहसी का मुख्य काम जोखिम उठाना और हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी लेना है। किंतु मज़दूर या वेतनभोगी इस प्रकार जोखिम उठाने और हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी लेने के लिए तैयार नही होता। उसे तो ठहराव के मुताबिक एक नियमित, और निश्चित आय से मतलब रहता है। तीसरे, साहसी की आय का अधिकांश संयोग के ऊपर निर्भर रहता है। किंतु मज़दूर या वेतनभोगी की आय इस प्रकार

संयोग पर निर्भर न रह कर ठहरावे के अनुसार निश्चित रहती है। इन कारणों से लाभ का वेतन-वत मानना ठीक नहीं है।

लाभ का जोखिम-सिद्धांत

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि प्रत्येक उत्पादन-कार्य, प्रत्येक व्यवसाय मे हानि का भय लगा रहता है। इस जोखिम का भार उठाना ही साहसी या कारबारी का प्रमुख कर्तव्य होता है, और जोखिम उठाना, हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी लेना सुखद और सरल नहीं होता इस कारण उस के लिए साधरणतः कोई तैयार नहीं होता। इसी से उस के लिए विशेष पुरस्कार की आवश्यकता होती है। पुरस्कार भी ऐसा हो जो साधारण कार्यों से अधिक हो। इस के अलावा जोखिम के कारण आमतौर पर लोग इस क्षेत्र मे कम ही आने की हिम्मत करते है, इस कारण इस क्षेत्र मे प्रतिद्वंद्वियो के कम रहने से उजरत का परिमाण साधारणतः अधिक ही रहता है।

सूद से लाभ का सादृश्य

जिस प्रकार सूद के लिए प्रतीक्षा और संयम की आवश्यकता पडती है, उसी तरह लाभ के लिए जोखिम उठाने की आवश्यकता होती है। इस कारण सूद के प्रतीक्षा-संयम-सिद्धांत मे और लाभ के जोखिम-सिद्धांत मे समता पाई जाती है। सूद इस लिए दिया जाता है कि उस के लिए प्रतीक्षा करनी पडती है, संयम से काम लेना पडता है। हानि सहने का जोखिम उठाना पडता है, इस लिए लाभ होता है। ऐसे भी व्यक्ति पाए जाते हैं जो सूद की बहुत ही कम दर पर या ऋणात्मक सूद पर भी संयम करते रहते है। उसी तरह ऐसे साहसियो का अभाव नहीं है जो लाभ की ज़रा-सी भी संभावना पर भारी जोखिम उठाने को तैयार हो जाते है।

जोखिम न उठाने के लिए लाभ

इस मे संदेह नहीं कि जोखिम उठाने के लिए जो उजरत प्राप्त होती है वह लाभ का एक अंश अवश्य है, किंतु इस से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि केवल जोखिम उठाने के लिए ही लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि

जोखिम उठाने के अनुपात मे ही लाभ की रकम छोटी-बडी नही होती। केवल जोखिम उठाने से ही लाभ नही होता, बल्कि जोखिम को कम करने के कारण ही लाभ प्राप्त हो सकता है। यानी साहसी को इस लिए लाभ प्राप्त नही होता कि वह जोखिम उठाता है, वरन उसे लाभ की प्राप्ति इस लिए होती है कि वह जोखिम को दूर कर देता है। अर्थात् जोखिम को न उठाने, उसे दूर कर देने के उपलक्ष मे लाभ होता है।

इस के अलावा एक ख़ास बात यह है कि सभी तरह के जोखिमों के उठाने से लाभ नही होता। जोखिम दो तरह के होते है। एक तो वे जिन का पहले से आभास मिल जाता है, अर्थात् ज्ञात जोखिम, और दूसरे अज्ञात जोखिम, जिन का पहले से कुछ भी पता नही लगाया जा सकता। ज्ञात जोखिमों के लिए बीमा या प्रबंध कर लिया जाता है और बीमे की यह रकम उत्पादन-व्यय मे नियमित रूप से सम्मिलित कर ली जाती है। इस कारण ज्ञात जोखिम के कारण लाभ का प्रादुर्भाव नहीं होता। लाभ तो वह आय है जो उत्पादन-व्यय के अतिरिक्त प्राप्त हो, और इस प्रकार की अतिरिक्त आय का प्रादुर्भाव अज्ञात जोखिम के कारण होता है।

ज्ञात और अज्ञात जोखिम

एक ख़ास बात और है। साहसी अपनी पूँजी जोखिम मे डालता है इस कारण उसे लाभ नही प्राप्त होता, वरन् उसे लाभ की आशा रहती है इस कारण वह अपनी पूँजी को जोखिम मे डालता है।

इन कारणों से केवल जोखिमवाले सिद्धांत के द्वारा इस बात का विवेचन नहीं किया जा सकता कि लाभ यथार्थ मे होता क्यों है।

कतिपय अर्थशास्त्रियों का मत है कि अनिश्चितता की ज़िम्मेदारी लेने की उजरत ही लाभ है। प्रत्येक उत्पादन-कार्य, उद्योग, व्यवसाय की अंतिम सफलता अनिश्चित रहती है, इस का निश्चय नही रहता कि आय होगी या नही। साहसी इसी अनिश्चितता की ज़िम्मेदारी अपने सर पर लेता है,

लाभ का अनिश्चितता सिद्धात

और उस से होनेवाली हानि को सहने के लिए तैयार होता है। अनिश्चितता की ज़िम्मेदारी सुखद और सरल नहीं होती। इस ज़िम्मेदारी को स्वीकार करने के लिए जो उजरत दी जाती है वही लाभ है।

कारबारी को मज़दूर, पूंजीपति आदि सभी को पहले ही से उन की उजरत देने की बात तय कर लेनी पडती है। अब यदि उस का अनुमान ग़लत निकले, और उत्पन्न की हुई वस्तु की खपत न हो तो उसे हानि सहनी पड़ेगी। और आर्थिक परिवर्तनो के निरतर होते रहने के कारण यह निश्चित नहीं रहता कि कारबारी का अनुमान ठीक ही निकले। ऐसी दशा मे अनिश्चितता के कारण ही जोखिम उठानी पडती है। और ज़ोखिम उठाने, हानि सहने के बदले मे कारबारी लाभ का अधिकारी होता है। जब कारबारी को वह हानि सहनी पड़ेगी, जो आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन होने के कारण होगी, तो उस से जो अधिक आय होगी, जो लाभ होगा, उस का भी वही अधिकारी है।

अनिश्चितता जितनी ही अधिक होगी, कारबारी उत्पत्ति के साधनो को उतनी ही कम उजरत देने के लिए तैयार होगा और साधन भी उतनी ही कम शक्ति अधिक उजरत माँगने की अनुभव करेगे। अस्तु लाभ का अश उतना ही अधिक रहेगा। अनिश्चितता जितनी ही कम होगी कारबारी को उतनी ही ज्यादा उजरत साधनो को देने के लिए मजबूर होना पडेगा, साधन अपने को और अधिक उजरत माँगने मे सशक्त पाएँगे। अस्तु लाभ का अंश उतना ही कम रह जायगा।

इस सिद्धांत मे भी वही ख़ामियां है जो जोखिम सिद्धांत मे है।

कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि साहसी को अन्य साधनों की तरह ही अपनी सीमांत उत्पादकता के बराबर ही उजरत मिलती है। साहसी की उजरत उस की व्यावसायिक योग्यता-क्षमता के अनुकूल ही होती है। साहसी को ध्यान मे रखते हुए, सीमात उत्पादकता वह मात्रा मानी जायगी जो

लाभ सीमात-उत्पादकता-सिद्धात

समाज उस साहसी की मदद से उत्पन्न कर सके और जिस में से वह मात्रा निकाल दी गई हो, जिसे समाज विना उस साहसी की मदद के स्वतः उत्पन्न कर सकता हो। यदि समाज एक साहसी की मदद के विना सौ मोटरें तैयार कर लेती है, किंतु उस साहसी की मदद से वह एक सौ पाँच मोटरें तैयार कर सकती है, तो उस साहसी की सीमांत उत्पादकता पाँच मोटरों के बराबर होगी।

इस सिद्धांत में एक ख़ास अड़चन पड़ती है। साहसी की सीमांत उत्पादकता की माप ठीक-ठीक नहीं हो पाती। साहसी के पृथक् हो जाने से एक उत्पादन-कार्य कुल का कुल अव्यवस्थित हो जायगा। इस कारण साहसी की सीमांत उत्पादकता सीधे, प्रत्यक्ष रूप में तो माप सकना असंभव नहीं तो बहुत ही अधिक कठिन अवश्य है। दूसरे इस सिद्धांत से लाभ-संबंधी सभी प्रश्नों पर प्रकाश नहीं पड़ता।

लाभ का प्रगतिशीलता सिद्धांत

कतिपय अर्थशास्त्रियों का मत है कि संसार में प्रगतिशीलता के कारण जो परिवर्तन होते रहते हैं उन्हीं से लाभ का प्रादुर्भाव होता है। इस मत के अनुसार साहसी का एक मात्र कार्य न तो जोखिम उठाना है, न प्रबंध-व्यवस्था करना और न निरीक्षण-नियंत्रण रखना। उस का प्रमुख कार्य है सांपत्तिक व्यवस्था में नवीनता लाना और वांछनीय परिवर्तन उपस्थित करना। संसार परिवर्तनशील है। नित नए परिवर्तन होते रहते हैं। इस कारण साधारणतः कोई भी अनुमान पहले से लगाया गया हिसाब पूर्ण तरह से ठीक नहीं उतर सकता। कोई कारबारी तत्काल परिस्थिति के अनुसार किसी एक आधार पर अपना खाका तैयार करता है और वर्तमान माँग को आँक कर उत्पादन प्रारंभ करता है। पर उत्पादन-कार्य के प्रारंभ होने और वस्तुओं के बन कर बाजार में आने तक अनेक बातों में परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनों के कारण कारबारी का अनुमान ठीक नहीं उतरता। इस कारण यदि परिवर्तन उस के पक्ष में हुए तो उसे लाभ

होता है, और यदि परिवर्तन उस के विरुद्ध गए तो उसे हानि उठानी पड़ती है। बिक्री की कीमत में और उत्पादन-व्यय में जो अंतर रहता है वही लाभ है। यदि परिवर्तन न हो और प्रत्येक साधन को उजरत में उतना दिलाया जाय जितना कि वह उत्पन्न करता हो तो बिक्री की कीमत ठीक उतनी ही हो जितना कि उत्पादन-व्यय। और ऐसी दशा में लाभ कुछ भी न रहेगा, केवल व्यवस्था और निरीक्षण की उजरत ही कारबारी के पल्ले पड सकेगी। इस से स्पष्ट हो जाता है कि यदि परिवर्तन न हो तो लाभ लुप्त हो जाय।

स्थिर अवस्था में पाँच बातो मे परिवर्तन नहीं होता, यानी जन-संख्या में, पूँजी के परिमाण में, उत्पादन के तरीकों में, व्यवस्था के प्रकारो तथा भेदो में, और उपभोक्ताओं की माँग तथा रुचि आदि मे कोई फर्क नही पडता। यदि इस प्रकार की अपरिवर्तनशील स्थिति हो सके तो उस में उत्पादन-व्यय बिक्री की कीमत के बराबर होगा ही, और तब लाभ के लिए कोई गुंजाइश न रह जायगी, क्योकि बिक्री की कीमत में से उत्पादन-व्यय वाली रकम के निकाल देने पर जो शेष रहता है उसी की गणना लाभ में की जाती है। किंतु यथार्थ मे ऐसी अपरिवर्तनशील स्थिति होती नही। ऊपर वाली पाँचो बातों मे सदा कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। और इस कारण उत्पादन-व्यय मे और बिक्री की क़ीमत में अंतर रहता है। इस से हानि-लाभ के लिए प्रायः गुंजाइश रहती ही है। आर्थिक स्थिति मे नवीनता लाना, परिवर्तन उपस्थित करना ही साहसी का प्रमुख कार्य है। इसी कारण वह हानि-लाभ का भागी होता है।

प्रगतिशीलता, परिवर्तनशीलता के कारण सदा सभी बातो में उलट-फेर होता रहता है। इस कारण कारबारी को अपनी व्यावसायिक बुद्धि से काम लेना पडता है। परिस्थिति को देख कर आगे के लिए उसे अटकल लगाना पडता है, निर्णय करके उसी के अनुसार उसे सारी व्यवस्था

करनी पड़ती है। उस के निर्णय के कारण बहुत कुछ उलट फेर हो सकता है। इस लिए उसे हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी उठानी पड़ती है।

इस परिवर्तनशील संसार में सदा रद्दोबदल होती रहती है, इस कारण जो कारबारी अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से भविष्य की परिस्थिति आँक लेता है और दृढतापूर्वक साहस करके अपनी व्यावसायिक बुद्धि के बल-बूते पर कोई नई व्यवस्था का निर्णय करता है, तथा उस के अनुसार सारा प्रबंध कर लेता है, वह सब के आगे बढ़ जाता है। अस्तु परिस्थिति को पहले आँक सकने के कारण उसे लाभ होता है। बाद में उस के उदाहरण से साहस तथा ज्ञान प्राप्त करके अन्य कारबारी उसी प्रकार की व्यवस्था करने के निमित्त तैयार होते हैं। बात फैल जाती है। नवीनता जाती रहती है। अस्तु न तो किसी अनिश्चित परिस्थिति का सामना करने की बात रह जाती है, न कोई निर्णय करके जोखिम अपने सर उठाना पड़ता है। अस्तु, लाभ की संभावना दूर होती जाती है।

इस के अलावा साहसियों में आपस मे प्रतिद्वंद्विता चलने लगती है। इस कारण श्रम और पूँजी की माँग बढ जाती है। फलतः सूद और मज़दूरी की दर बढ़ने लगती है। इस कारण उत्पादन-व्यय बढ जाता है। और यह क्रम तब तक जारी रहता है, जब तक कि उत्पादन-व्यय बिक्री की क़ीमत के बराबर नहीं आ जाता, और इस प्रकार लाभ की संभावना दूर नहीं हो जाती। इस प्रकार लाभ परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होता है और साथ ही लाभ के कारण ही परिवर्तन किए जाते हैं।

इस प्रकार सब से आगे बढ़ कर साहस करनेवाले के साहसिक से, जोखिम उठाने से न केवल उसी को लाभ होता है, वरन् देश, संसार का भी हित होता है। सुधरी हुई व्यवस्था, नवीन आदि समाज, देश, संसार में फैल जाते हैं और उन से सभी हैं। उन्नति में सभी को भाग मिलने लगता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि थोड़े समय में

अनिश्चित रहती है, जोखिम का डर रहता है, तभी लाभ की अधिक से अधिक संभावना रहती है। पर धीरे-धीरे जैसे ही कोई नवीन व्यवस्था सब की समझ में आने लगती है, उस के अनुसार सारा प्रबंध सभी करने लगते हैं, वैसे ही लाभ की मात्रा कम होती जाती है, कारण कि जोखिम कम होता जाता है, अनिश्चितता घटती जाती है। कुछ तो यह भी मानते है कि अंत में नवीन व्यवस्था के पूरी तरह से जनता की चीज़ हो जाने पर लाभ बिल्कुल उड जाता है, लाभ की दर शून्य हो जाती है। किंतु कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि लाभ की दर कभी भी शून्य तक नहीं पहुँचती, क्योंकि उत्पादन के निमित्त लाभ उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार मज़दूरी, व्याज आदि। हां, यह ठीक है कि स्थिति जितनी ही अनिश्चित रहेगी, जोखिम उतना ही बडा होगा और उसी के अनुसार लाभ की दर भी अधिक से अधिक हो सकेगी।

इस सिद्धांत के सबंध मे दो आक्षेप किए जाते हैं। एक तो यह कि सभी तरह के परिवर्तनो के कारण लाभ का प्रादुर्भाव नहीं होता। जो परिवर्तन पहले से समझे और जाने जा सकते है उन के संबंध मे पहले से ही तैयारी और उपाय कर लिए जाते है और उत्पादन-व्यय में उन का समावेश कर लिया जाता है। इस कारण इस प्रकार के परिवर्तनो से लाभ का प्रादुर्भाव नही हो सकता। इस सिद्धांत में यह खामी है कि परिवर्तनो मे इस तरह का भेद नही माना जाता। दूसरे प्रति-दिन के बँधे हुए कार्य मे भी विचार, निर्णय, व्यवस्था, प्रबंध आदि की आवश्यकता पडती है, और इस कारण किसी न किसी रूप मे साहसी को उजरत देनी ही पडेगी। इस के अलावा कैसी भी अपरिवर्तनशील स्थिति क्यों न हो, अग्नि, दगा, चोरी, लापरवाही, बाढ आदि का जोखिम तो लगा ही रहेगा और उन के लिए ज़िम्मेदारी उठानी ही पडेगी।

लाभ-संबंधी इन विभिन्न सिद्धांतों के विवेचन से पता चलता है कि

सिद्धांतों की भिन्नता का कारण और समन्वय

भिन्नता का कारण यह है कि प्रत्येक सिद्धांत में साहसी के किसी एक विशेष कार्य को ही आधार माना गया है और उस के अन्य कार्यों की उपेक्षा की गई है। यथार्थ में साहसी केवल एक ही कार्य नही करता। जोखिम की ज़िम्मेदारी उठाना; अनिश्चितता का भार लेना; व्यवसाय को चुनने के बाद विभिन्न साधनों का समीकरण करके उन से सहयोग द्वारा काम लेना; विचार, निर्णय, व्यवस्था, प्रबंध करना साहसी के कार्यों के अंतर्गत हैं। इस कारण लाभ से संबंध रखनेवाले उपर्युक्त किसी भी एक सिद्धांत के द्वारा लाभ के यथार्थ स्वरूप और उस के यथार्थ कारण का समुचित विवेचन नही किया जा सकता। इस के अलावा करेंसी संबंधी नीति, व्यापारिक उलट-फेर, सामाजिक परिस्थिति आदि का भी लाभ के निर्णय में बहुत प्रभाव पड़ता है। लाभ-संबंधी सिद्धांत ऐसा होना चाहिए जिस में इन सभी बातों का समावेश हो सके, जो सभी दिशाओं में प्रकाश डाल सकें। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त सभी सिद्धांत आपस में एक-दूसरे के पूरक हैं और सब के समन्वय से प्रायः सभी दिशाओं में प्रकाश पडता है। इस कारण उन्हें पृथक्-पृथक् न लेकर एक साथ मिला कर अध्ययन करना अधिक उपयुक्त होगा।

लाभ का हिसाब

किसी व्यवसाय में लाभ दो तरह से आँका जाता है। एक तो प्रति वर्ष का लाभ, और दूसरे कुल स्टाक की विक्री पर लाभ। प्रति-वर्ष जो लाभ किसी व्यवसाय में होगा वह उस लाभ से भिन्न हो सकता है, जो कुल स्टाक की विक्री पर हो, क्योंकि साल भर में कई बार कुल स्टाक की विक्री हो सकती है, और अनेक वर्षों में भी कुल स्टाक की विक्री न हो। प्रति वर्ष के लाभ की दर में तथा प्रत्येक बार की कुल स्टाक की बिक्री पर के लाभ की दर में फ़र्क़ हो सकता है और होता ही है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यवसाय में प्रति वर्ष के लाभ तथा कुल स्टाक की विक्री के लाभ की दरें भिन्न-भिन्न होती

है। जिन व्यवसायों में प्रबंध का कार्य कठिन होता है तथा अधिक जोखिम उठाना पडता है उन मे लाभ की दर उन व्यवसायों से अधिक होती है जिन में प्रबंध का कार्य सरल होता है तथा जोखिम कम रहता है। प्रत्येक व्यवसाय में ही कुल स्टाक की बिक्री पर होनेवाले लाभ की दर समय-समय पर बदलती रहती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि एकाधिकार के अलावा, प्रायः सभी व्यवसायों मे दीर्घ काल मे, प्रतियोगिता के कारण लाभ की दर के समान होने की प्रगति रहती है, क्योंकि यदि दर समान न रहेगी तो जिस व्यवसाय मे अधिक लाभ होगा, मज़दूर, पूँजी, प्रबंध आदि उसी मे अधिक से अधिक लगेगे। अस्तु, आगे चल कर प्रतियोगिता के कारण लाभ की दर उस व्यवसाय मे भी गिर जायगी। इस प्रकार लाभ की दर समान होने की प्रवृत्ति देख पडती है।

है। जिन व्यवसायो में प्रबंध का कार्य कठिन होता है तथा अधिक जोखिम उठाना पडता है उन मे लाभ की दर उन व्यवसायो से अधिक होती है जिन में प्रबंध का कार्य सरल होता है तथा जोखिम कम रहता है। प्रत्येक व्यवसाय मे ही कुल स्टाक की बिक्री पर होनेवाले लाभ की दर समय-समय पर बदलती रहती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि एकाधिकार के अलावा, प्रायः सभी व्यवसायों मे दीर्घ काल मे, प्रतियोगिता के कारण लाभ की दर के समान होने की प्रगति रहती है, क्योंकि यदि दर समान न रहेगी तो जिस व्यवसाय मे अधिक लाभ होगा, मज़दूर, पूँजी, प्रबंध आदि उसी में अधिक से अधिक लगेंगे। अस्तु, आगे चल कर प्रतियोगिता के कारण लाभ की दर उस व्यवसाय मे भी गिर जायगी। इस प्रकार लाभ की दर समान होने की प्रवृत्ति देख पडती है।